प्राचीन भारत में नगर

तथा

नगर-जीवन

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

डॉक्टर उदयनारायण राय
प्रवक्ता
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथम
संस्करण
१९६५
मूल्य–२०) रु०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

सुनियोजित नगर मनुष्य की सभ्यता के उत्कर्ष का प्रतीक है। मौलिक सभ्यता ग्रामभाग से उद्भूत है फिर भी उसका विकसित चरम रूप नगर-जीवन में देखा जाता है। और किसी विषय में यह कथन विवादास्पद भले ही हो, भवन और मार्ग-निर्माण तथा तत्सम अन्य कार्यों के सम्बन्ध में यह बात निर्विवाद है। सुनियोजित तथा दैनिक जीवन की सुविधा की दृष्टि से नगरों में जो व्यवस्था की जाती है, उसकी नकल गाँवों में की जाती है और इसे ग्राम-सुधार कहा जाता है। आज ही नहीं, प्राचीनतम काल से यह सिद्धांत कार्यरूप ग्रहण करता आया है। भारत प्राचीन काल से ही ग्रामप्रधान देश रहा है। आज भी हम इस पर अभिमान और गर्व करते हैं। किंतु प्राचीन काल में भी हमने सभ्यता के इस प्रतीक का उत्कर्ष बड़े-बड़े नगरों के रूप में देखा था। अनेकानेक प्राचीन नगर भूमिगत हो गये थे, जो अब इतिहास के विद्वानों और विद्यार्थियों के परिश्रम से प्रकाश में आ गये हैं और अपनी कहानी स्वयं कहकर हमें अपने प्राचीन गौरवमय जीवन का स्मरण दिला कर आह्लादित कर रहे हैं। पिछले वर्षों के कई पुरातात्विक उत्खनन से हमारी सभ्यता के इस अंग का हमें निकट से परिचय प्राप्त हो सका है।

डॉक्टर उदयनारायण का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' हमें अपने गौरवमय प्राचीन नगरों का भ्रमण कराता है। इस ग्रन्थ में संग्रहीत विवरण और उसका रोचक वर्णन हमारे देश की प्राचीनता को हमारे लिए आधुनिक बनाता है और पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित आज के नगर-निर्माणकर्ता अभि यन्ताओं के लिए भी नया ज्ञान प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ अति विस्तृत भारतभूमि के पुरातत्वकाल के नगरों और नगर-जीवन का एक स्थान पर संग्रहीत सूत्रबद्ध इतिहास है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी को "प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन" का प्रकाशन करते प्रसन्नता है। डॉक्टर उदयनारायण राय के परिश्रम तथा प्रयास से प्रस्तुत भारत का यह गौरवमय पक्ष विद्वानों, अध्येताओं और सुधी पाठकों के लिए निःसंदेह उपादेय और लाभकारी सिद्ध होगा।

अप्रैल १९६५
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

भूमिका

सभ्यता को प्रायः नागरिक जीवन या उसकी देन के रूप में माना जाता है। इस दृष्टि से मनुष्य के विकास में वह अवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण थी जब कृषि और पशु-पालन के द्वारा यह सम्भव हुआ कि अन्न का उत्पादन उसके तात्कालिक उपभोग से अधिक हो और इस अतिरिक्त उत्पादन के विनिमय के द्वारा उपभोग्य सामग्री का वैचित्र्य-विस्तार किया जा सके। इस विनिमयप्रधान व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप उत्पादन में विशेष-योग्यता एवं उत्पाद्य में समृद्धि के विकास की एक उत्तरोत्तर वृद्धिशालिनी प्रक्रिया का जन्म होता है और इस प्रकार प्रागैतिहासिक युग की दीर्घ स्थिरता या जड़ता के स्थान पर सभ्यता के इतिहास की वेगवती प्रगतिशीलता का आविर्भाव होता है। उद्योग, वाणिज्य और नगर-जीवन की परिवर्तनशीलता और विभिन्न समुदायों को पारस्परिक सम्पर्क—और सङ्घर्ष—में डालने की योग्यता ऐतिहासिक प्रगति में महत्वपूर्ण कारण रहे हैं। इस प्रकार नगर और नगर-जीवन के विकास का विवरण सभ्यता के इतिहास का प्रधान सूत्र बन जाता है।

वास्तव में इस प्रकार की धारणा वहीं तक ठीक है जहाँ तक हम सभ्यता के भौतिक पक्ष को अपनी दृष्टि के सामने रखते हैं। यदि सभ्यता के आन्तरिक और आध्यात्मिक पक्ष को देखा जाये तो उसे एक विश्व-दर्शन या जीवन-दर्शन की परम्परा मानना होगा। अनुभूति का संरक्षण और परत्र संक्रामण, शब्द अथवा प्रतीक के सहारे होता है और अन्तःसंस्कृति की परम्परा एक अभिव्यंजना-समर्थ 'नाम-रूप' की परम्परा हो जाती है, जिसमें लिपि और भाषा, वाङमय और कला-प्रतीक शीर्ष-स्थानीय होते हैं। यदि भौतिक सभ्यता कारकता-सम्पन्न साधनों और जन्य अर्थों का कर्मभोगात्मक, ऐतिहासिक आयाम में आयत्त 'नगर' है, तो अध्यात्म-दर्शन-रूप सांस्कृतिक सार भावनीय अर्थ-बोधक शब्दों और रूपों का स्वर—ग्राम है। इस दृष्टि से सभ्यता का विकास साक्षरता के विकास का सहभावी है। अब यह प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है कि सभ्यता और बर्बरता का भेद मूलतः नागरिकता और अनागरिकता पर आश्रित न होकर साक्षरता और निरक्षरता पर आश्रित है। तथापि यह मानना होगा कि अधिकांश देशों और युगों में साक्षरता और अन्तःसंस्कृति का विकास नगर-जीवन में प्रतिबिम्बित समृद्धि और भौतिक विकास पर आधारित रहा है।

भारतीय संस्कृति के विकास में अरण्य, ग्राम और नगर तीनों का अपना पृथक्-पृथक् स्थान रहा है। यदि भारत-माता को केवल ग्रामवासिनी मानना एक भावुकता है तो उसे नगर-देवता मात्र मानने में और अधिक दोष है। पाश्चात्य संस्कृति में विकास के साथ अरण्य और ग्राम की उपेक्षा कर दी गयी। अरण्य की उपेक्षा चीनी संस्कृति में भी है। किन्तु भारत में उसकी महिमा निरन्तर संरक्षित रही। रवि बाबू ने भारतीय आत्मा को वन-देवता के अङ्क में पली हुई बताया है। यदि मोक्ष-चर्या के लिये अरण्य की शरण उपादेय रही है, तो ग्राम-जीवन के परिवेश में ही परम्परागत संयुक्त कुटुम्ब-जीवन की मान्यताएँ, वैदिक कर्म-काण्ड एवं सांवत्सरिक धर्म-चक्र का प्रवर्तन और अनुवर्तन रहा है। अर्थ और काम का उत्कर्ष अवश्य नगर-जीवन का अवलम्बी हुआ है। राजनीतिक और आर्थिक प्रगति तथा शिल्प, कला एवं विद्या का बहुमुखी विकास नागरिकता के विकास के साथ ही सम्पन्न हुआ है।

भारतीय संस्कृति के इस भौतिक पक्ष पर और उसके अपूर्व परिष्कार पर प्रस्तुत पुस्तक ने श्लाघनीय प्रकाश डाला है। प्राचीन नगरों का मापन, उनकी समृद्धि और शोभा, उनके विकास के युग और महत्व के आधार, इन सभी विषयों पर डॉ० राय ने परिश्रमपूर्वक सभी आकरों से—साहित्यिक एवं पुरातत्वीय—सामग्री का आकलन कर प्राञ्जल भाषा में एक रोचक एवं विचारशील विवरण प्रस्तुत किया है, जिसके लिये वे बधाई के पात्र हैं। मुझे इस पुस्तक का स्वागत करते हुए विशेष हर्ष होता है क्योंकि जिस सामाजिक इतिहास के अन्वेषण-कार्य में डॉ० राय मेरे साथ कई वर्ष पूर्व संलग्न थे उसे यह सब विद्वज्जनों के समक्ष उपस्थित करती है। मुझे विश्वास है कि इसमें उन्हें परितोष होगा।

गोविन्दचन्द्र पाण्डे
अध्यक्ष
इतिहास व भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर
दिनाङ्क १६ फरवरी, १९६५

पूर्वपीठिका

प्राचीन भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी आरण्य, ग्रामीण तथा नागरिक जीवन-धाराओं से सम्पन्न होती है। निवृत्तिमार्ग के प्रचार के कारण भारतीय सभ्यता की सुविकसित अवस्था में भी अरण्य-जीवन का महत्त्व बना रहा तथा इस दृष्टि से नगर-जीवन के प्रति अवज्ञा की भावना प्राचीन साहित्य में भी अनेकत्र उपलब्ध होती है (यथा बौधायन तथा शाकुन्तल आदि) और फिर कृषिप्रधान भारतवर्ष में ग्राम-जीवन का महत्त्व तो सदा ही विशिष्ट रहा है, तथापि यह निर्विवाद है कि प्रगतिशील लौकिक-जीवन के मुख्य समाश्रय प्रत्येक युग में नगर ही रहे हैं। कला एवं विज्ञान के अधिक विकास के लिये आर्थिक समृद्धि तथा राजकीय ऐश्वर्य का जितना समुच्चय अपेक्षित है, उतना वाणिज्य एवं व्यवसाय पर आश्रित नगर-जीवन में ही सम्भव है। इतना ही नहीं, भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रायः समस्त मूल्यवान् उपादानों का केन्द्र है यह नगर-जीवन। इस प्रकार प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के समन्वय द्वारा निर्मित भारतीय संस्कृति के प्रासाद में नागरिक जीवन का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है और इसका विवरण तथा आलोचन ही प्रस्तुत गवेषणा का विषय है।

यह शोध-प्रबन्ध मेरे सतत अनुशीलन एवं अनवरत अध्यवसाय का परिणाम है। इसे अधिकाधिक प्रामाणिक एवं सर्वांगीण बनाने के हेतु नाना मूलभूत संस्कृत, पाली एवं प्राकृत आदि ग्रन्थों, पुरातत्त्व-साधनों तथा विदेशी यात्रियों के विवरण को उपयोग में लाने की यथाशक्ति चेष्टा की गयी है और स्थान-स्थान पर उनका निर्देश भी किया गया है। यह प्राचीन भारतीय नगर एवं नगर-जीवन पर प्रथम रचना है। इस प्रकार के ग्रन्थ की अतीव आवश्यकता थी, अतएव विद्वज्जनों के समक्ष इसे प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक परितोष का अनुभव होता है। उनका सन्तोष ही मेरी सफलता है—

"आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥"

वक्तव्य की समाप्ति के पूर्व अपने पूज्य गुरुवर डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे (प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर) के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना धर्म समझता हूँ।

उनके अमूल्य मार्ग-दर्शन तथा सक्रिय सहायता के निमित्त मैं उनका ऋणी हूँ। ग्रन्थ की भूमिका इस बात का प्रमाण है कि उनका सहज स्नेह मुझे उपलब्ध है। उनकी कृपा के अभाव में ग्रन्थ की रूपरेखा का निर्माण होना असम्भव था। आदरणीय गुरुवर्य श्री गोबर्द्धन राय जी शर्मा (डायरेक्टर, इन्स्टीट्यूट ऑफ आर्कयालोजी, तथा प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) के प्रति भी आभार-प्रदर्शन करना मैं उतना ही आवश्यक समझता हूँ। इस अनुसन्धान-कृति के सम्पादन तथा प्रकाशन-कार्य में उन्होंने मेरी यथेष्ट सहायता की है। उनकी नैसर्गिक अनुकम्पा तथा शुभ कामनाओं के लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मैं अपने प्राध्यापकप्रवर श्री जसवन्त सिंह नेगी के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। श्री विद्याभास्कर (मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद) तथा डॉ० रघुवंश (प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) का भी मैं आभार मानता हूँ, जिन्होंने अल्प समय में ही मुद्रणकार्य को सम्पन्न कराने में मेरी पर्याप्त सहायता की है। शब्दानुक्रमणी को तैयार करने में मेरे शोध-छात्र श्री सरस्वती प्रसाद श्रीवास्तव, एम० ए० ने जो परिश्रम किया है, उसके लिये वे साधुवाद के भाजन हैं। मैं उन सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों का आभारी हूँ, जिनकी रचनाएँ इस ग्रन्थ के प्रणयन में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है कि सहृदय विद्वज्जन उनका स्वयं मार्जन कर अपनी उदारता का परिचय देंगे।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरी अद्यावधि सरस्वती-साधना की चरम परिणति है। ग्रन्थ की उपादेयता के विषय में विद्वानों की सम्मति ही उत्कृष्टतम कसौटी होगी :—

"हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।"

यह ग्रन्थ अपने पवित्र उद्देश्य की सम्पूर्ति में सफल हो—यही मेरी कामना है और यही है ईश्वर से अभ्यर्थना भी—'त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तोऽपरः।'

प्रयाग विश्वविद्यालय
फाल्गुन शुक्ल पक्ष
२, सम्वत् २०२१

उदयनारायण राय

विषय-सूची

चित्र-सूची

युक्तियाँ

मानचित्र

सौजन्य-स्वीकृति

चित्रों के पुनरुत्पादन एवं प्रस्तुत प्रबंध में उनके प्रयोग की आज्ञा के निमित्त मैं निम्नलिखित सज्जनों एवं संस्थाओं का अत्यन्त आभारी हूँ:—

(१) डायरेक्टर जेनरल ऑफ आर्क्यालोजी इन इण्डिया:—चित्र-संख्याएँ १, ११, १३, १४, १५, १६, १७, १९, २२, २४, २५, २६, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४

(२) डायरेक्टर कौशाम्बी-उत्खनन-शिविर, प्रयाग विश्वविद्यालय:—चित्र-संख्याएँ २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०

(३) सुपरिंटेंडेंट, राजकीय संग्रहालय, मद्रास:—चित्र-संख्याएँ १८, २८

(४) बोर्ड आफ ट्रस्टीज़, इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता:—चित्र-संख्याएँ २० , २१, २३

(५) क्यूरेटर, राजकीय संग्रहालय लखनऊ:—चित्र-संख्या १२

अध्याय १

नगरों का प्रादुर्भाव तथा प्रारम्भिक विकास

प्रादुर्भाव की परिस्थितियाँ—नगर एक ऐसा विशाल जनसमूह है, जिसकी जीविका के प्रधान साधन उद्योग तथा व्यापार हैं। वह व्यावसायिक उत्पादनों के विनिमय द्वारा ग्राम से खाद्यान्न प्राप्त करता है। नगरतत्त्व तथा ग्रामतत्त्व का यह प्रधान भेद भारतवर्ष में चिरकाल से चला आ रहा है। इस देश में नगरों के आविर्भाव की अत्यन्त प्राचीनता हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो नामक स्थानों पर बने हुए नगरों से पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाती है। वे इस बात के परिचायक हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व प्रागैतिहासिक काल में ही भारतवर्ष में नगरों की उत्पत्ति हो चुकी थी।

प्रादुर्भाव के कारणों के दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय नगरों का विभाजन दो वर्गों में किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में उन नगरों की गणना की जा सकती है, जो योजनारहित स्वाभाविक विकास के फल थे तथा द्वितीय वर्ग में वे नगर आते हैं जिनका उद्गम सोद्देश्य एवं सङ्कल्पपूर्वक था। प्रथम वर्ग के नगर प्रारम्भिक दशा में वस्तुतः ग्राम ही थे। जिन अनेक कारणों से उनमें नगर-तत्त्व का क्रमिक आगमन सम्भव हुआ, उनमें वाणिज्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। नदियों एवं समुद्रों के तट तथा सुप्रसिद्ध मार्गों पर बसी हुई साधारण बस्तियों का नगर-रूपान्तर, व्यापारिक सम्बन्ध के कारण नितान्त स्वाभाविक था। व्यापारिक केन्द्रों के अतिरिक्त प्रधान धार्मिक तथा शिक्षण-केन्द्रों में भी कालान्तर में नगर-तत्त्व के आगमन की क्रिया प्रारम्भ हुई। द्वितीय वर्ग के नगरों की उत्पत्ति के कारण प्रायः राजकीय आवश्यकतायें थीं। सुरक्षा के साधन, शासन की सुदृढ़ता एवं सुव्यवस्था, सैनिक प्रबन्ध तथा प्रसिद्ध राजभवनों एवं राजप्रासादों की सुस्थिति के प्रश्न ने नाना भारतीय नगरों के शीघ्र आविर्भाव में महान् सहायता पहुँचाई।

सिन्धु-उपत्यका में नगरों का सन्निवेश—भारतवर्ष में नगर-तत्त्व के लक्षण सर्वप्रथम सैन्धव-सभ्यता में हमें उपलब्ध होते हैं। मार्शल ने इस सभ्यता की प्राचीनता का निर्देश करते हुए उसकी तिथि को ३२५० ई० पू० से लेकर २७५०

ई० पू० तक निर्धारित किया था।[1] पर आधुनिक उत्खनन के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि यह सभ्यता २५०० ई० पू० तथा १५०० ई० पू० के बीच की है।[2] इस समय सिन्धु नदी के किनारे हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो नामक स्थानों पर विशाल नगर बने हुए थे। ह्वीलर का कथन है कि ये मेसोपोटामिया के नगरों से कहीं अधिक सुन्दर थे।[3] हड़प्पा एवं मोहेनजोदड़ो के नगरों की विन्यास-पद्धति में कई दृष्टियों से समानताएँ थीं। दोनों की परिधि तीन मील के लगभग थी। दोनों के भग्नावशेषों के प्रतिनिधि टीले दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) पश्चिम के उच्च टीले तथा (२) पूर्व के छोटे पर अधिक फैले हुए टीले। उच्च टीले पुर के दुर्ग-भाग तथा छोटे टीले लघु नगर का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों ही स्थानों के दुर्ग-भाग आकार में समानान्तर चतुर्भुज के तुल्य थे। दोनों ही दुर्ग उत्तर से दक्षिण की ओर ४०० गज से लेकर ५०० गज तक तथा पूर्व से पश्चिम की ओर २०० गज से लेकर ३०० गज तक की दूरी में फैले हुए थे।[4]

हड़प्पा के सन्निवेश का स्वरूप—हड़प्पा में नगर-विन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग दुर्ग-सन्निवेश था। एक ऊँचा टीला, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 'माउण्ड ए बी' की संज्ञा दी है, वहाँ के प्राचीन दुर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। यह उत्तर से दक्षिण की ओर ४६० गज तथा पूर्व से पश्चिम की ओर २१५ गज है। आकार में यह समानान्तर चतुर्भुज के सदृश है। दुर्ग के भीतर के भवन चबूतरों पर बने थे, जिनकी ऊँचाई धरातल से बीस फीट से लेकर पचीस फीट तक थी। चबूतरे कच्ची मिट्टी अथवा मिट्टी की ईंटों के द्वारा बने थे। सुरक्षा की दृष्टि से दुर्ग के चतुर्दिक् एक दीवाल बनी हुई थी, जो अपने आधार पर ४५ फीट चौड़ी थी। यह रक्षा-दीवाल अधिकांशत: कच्ची ईंटों के द्वारा निर्मित थी। इसमें बराबर दूरी पर बुर्ज़ बने हुए थे। स्थान-स्थान पर इसमें दरवाजों का भी निर्माण किया गया था। प्रधान द्वार सम्भवत: उत्तर की दिशा में वर्तमान था। दरवाजों के पास रक्षक-गृह बने हुए थे।[5] नगर-सुरक्षा की दृष्टि से यह अनिवार्य था। यह परम्परा हमारे देश में कालान्तर में सदियों तक वर्तमान थी।

दुर्ग के उत्तर की ओर तीन प्रकार के घरों के निर्माण किये गये थे। उनके

---

१. **मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड दी इण्डस सिविलाइज़ेशन, पृष्ठ १०६।**
२. **ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइज़ेशन, पृष्ठ ८६।**
३. **वही—पृष्ठ २६।**
४. **वही—पृष्ठ १६।**
५. **वही—पृष्ठ २७।**

भग्नावशेषों का प्रतिनिधित्व बीस फीट ऊँचे एक टीले के द्वारा किया जाता है, जिसे 'माउण्ड एफ' की संज्ञा दी जाती है। प्रथम वर्ग में एक ही प्रकार के बने हुए कुछ छोटे घर आते हैं। इनका निर्माण दो पंक्तियों में किया गया था। ये घर दुर्ग के उत्तर की दिशा में उसके ठीक समीप वर्तमान थे। दूसरे वर्ग का निर्माण इन घरों के उत्तर की ओर किया गया था। इसमें कुछ चबूतरे आते हैं, जिन पर आटा पीसने का कार्य लिया जाता था। इसके आगे उत्तर दिशा में तृतीय वर्ग का निर्माण किया गया था। इसमें दो पंक्तियों में निर्मित अन्नागार आते थे।

प्रथम वर्ग के निर्माण में आने वाले लघु भवन (जो कि दो पंक्तियों में बैठे हुए थे) आयताकार थे। प्रथम पंक्ति में सात तथा द्वितीय पंक्ति में आठ भवन बने हुए थे। इन घरों की विन्यास-योजना एक प्रकार की है। प्रत्येक के चतुर्दिक् एक चहारदीवारी मिलती है। वे लगभग ४ फीट चौड़ी गली के द्वारा एक-दूसरे से विभक्त हैं। प्रत्येक घर की लम्बाई ५६ फीट तथा चौड़ाई २४ फीट है। उनके फर्श प्रायः ईंटों के बने थे। प्रत्येक घर में एक आँगन तथा तीन कमरों के होने के प्रमाण मिलते हैं। उनके निर्माण की सदृशता यह व्यक्त करती है कि वे राजकीय घर हैं। उनके समीप ही लगभग १६ भट्ठियों के होने के प्रमाण मिलते हैं। कण्डी तथा लकड़ी के कोयले से उनमें आग जलाने का काम लिया जाता था। धौंकनी से आग तेज की जाती थी। इससे लगता है कि इन घरों में मजदूर रहते थे, जिनसे सरकारी काम लिया जाता था।

श्रमिकों के घरों को पृथक् स्थान में (विशेष रूप से नगर के बाहर) बनाने की परम्परा पश्चिमी देशों में भी वर्तमान थी। उदाहरणार्थ, तेल-एल-अमर्ना के सीमा-प्रान्त में कब्र बनाने वालों के घर बने हुए थे। इसी प्रकार १६०० ई० पू० में देर-एल-मदीनह में समाधि-निर्माताओं के घर इसके उपकण्ठ पर निर्मित किये गये थे। गिज़ेह में भी पिरेमिड बनाने वालों के गृह एक ही स्थान पर स्थित थे। इन श्रमिकों से सरकारी कामों में बेगार भी लिया जाता था। सम्भव है कि इस प्रकार का श्रम-सङ्गठन हड़प्पा में भी प्रचलित रहा हो। दुर्ग के समीप मजदूरों के घरों का बना होना इस बात को व्यक्त करता है कि सम्भवतः हड़प्पा में भी राज्य उनसे कुछ सीमा तक बेगार लेता था।[1]

दूसरे वर्ग में आने वाले श्रमिकों के चबूतरे (जिन पर आटा पीसने का कार्य लिया जाता था) संख्या में १८ हैं। अट्ठारहवें चबूतरे का पता १९४६ ई० में लगा था। इसका व्यास ग्यारह फीट के लगभग है। यह एक केन्द्रीय चार वृत्तों

---

१. ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइज़ेशन, पृष्ठ २७–३०।

के रूप में है। यह चबूतरा ईंटों का बना था। इसके केन्द्रीय भाग में एक छोटा सा गड्ढा था, जिसमें लकड़ी की ओखली लगी हुई थी। इसमें अनाज के छिलके मिले हैं। इसी प्रकार अन्य चबूतरों के केन्द्रीय भाग में गेहूँ तथा जव के खण्ड प्राप्त हुए हैं। इससे लगता है कि ये आटा पीसने के काम में आते थे। इन चबूतरों के उत्तर में अन्नागार बने हुए थे, जिनकी गणना तृतीय कोटि के निर्माण में की जाती है।[१]

दुर्ग के दक्षिण की ओर समाधि-भूमि थी, जिसका वर्गीकरण दो भागों में किया जाता है—(१) 'सिमेटरी एच' तथा (२) 'सिमेटरी आर ३७'। 'सिमेटरी एच' दुर्ग के दक्षिण पहले ही पड़ता था। यह अर्द्ध-समाधि का उदाहरण है। 'सिमेटरी एच' में दो परतें हैं। निचली परत आधुनिक धरातल से ६ फीट नीचे है। यह अधिक पुरानी है। ऊपरी परत जमीन की सतह से ३ फीट नीचे है। यह निचली परत से बाद की है। लगता है कि किसी संक्रामक रोग अथवा भयङ्कर युद्ध में कई व्यक्ति एक ही साथ मर गये। कुछ समय तक इनके शव खुले मैदान में पड़े रहने के कारण गिद्ध तथा शृगाल आदि जानवरों के शिकार बने। कालान्तर में अवशिष्ट हड्डियों को बिना किसी तैयारी के 'सिमेटरी एच' की दोनों परतों में दो विभिन्न समयों में गाड़ दिया गया था। इसके दक्षिण की ओर 'सिमेटरी आर ३७' पड़ता है। यह पूर्ण समाधि का उदाहरण है। इसमें शव को विधिपूर्वक जीवन की आवश्यक सामग्री के साथ गाड़ा गया था—उदाहरणार्थ चूड़ियाँ, कण्ठाभरण, अङ्गूठी, दर्पण एवं शृङ्गार की विविध सामग्री।[२] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि नगर के दक्षिण में श्मशान-भूमि के बनाने की परम्परा कालान्तर में भी हमारे देश में विद्यमान थी।

मोहेनजोदड़ो के सन्निवेश का स्वरूप—यहाँ का नगर भी दो भागों में बसा हुआ था—दुर्ग-भाग तथा लघु-नगर। दुर्ग-भाग एक कृत्रिमचबूतरे के ऊपर बसा हुआ था, जो कि दक्षिण की ओर २० फीट तथा उत्तर की ओर ४० फीट ऊँचा था। हड़प्पा के चबूतरे की भाँति यह चबूतरा भी अंशत: मिट्टी तथा अंशत: मिट्टी की ईंटों के द्वारा निर्मित था। सुरक्षा की दृष्टि से इसके चतुर्दिक् ४३ फीट चौड़ी एक दीवाल विद्यमान थी जिसमें स्थान-स्थान पर बुर्ज बने हुए थे। दुर्ग के दक्षिण-पूर्व कोने पर पकी ईंटों के द्वारा निर्मित बुर्ज के अवशेष

---

१. ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ३४।
२. वही—पृष्ठ २६।

प्राप्त हुए हैं। इसके पश्चिमी किनारे पर बने हुए एक बुर्ज के ध्वंसावशेष मिले हैं, जो ऊँचाई में दस फीट के लगभग था।[1]

दुर्ग के भीतर बने हुए भवनों में सबसे 'प्रसिद्ध विशाल स्नानागार' (ग्रेट बाथ) था। इसके ठीक पश्चिम में विशाल अन्नागार बना हुआ था। अन्नागार के दक्षिण में जमीन की सतह से लेकर चबूतरे की ऊँचाई तक २२ फीट चौड़ी एक बड़ी सीढ़ी बनी हुई थी। जिस स्थान से यह सीढ़ी प्रारम्भ होती थी, उसके पास एक कुआँ बना हुआ था तथा जहाँ यह समाप्त होती थी वहाँ चबूतरे के ऊपर एक स्नानगृह का निर्माण किया गया था। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि यह स्नानगृह दुर्ग-भाग में प्रवेश करने के पूर्व शुद्धता लाने के हेतु बना हुआ था।[2] विशाल स्नानागार के उत्तर-पूर्व २३० फीट लम्बा तथा ७८ फीट चौड़ा एक विशाल भवन था। इसके बीचोबीच प्रत्येक दिशा में ३३ फीट एक वर्गाकार आँगन था। इसके चतुर्दिक् बरामदे थे, जिनके पीछे पुजारियों के रहने के निमित्त कोठरियाँ बनी थीं।[3]

दुर्ग के पूर्व की ओर लघु नगर बसा हुआ था। इसमें साधारण वर्ग के नागरिक रहते थे। सम्भवतः इसीलिये इस भाग की किलेबन्दी नहीं की गई थी। इसकी सड़कें उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम एक-दूसरे के समानान्तर फैली हुई थीं। उनके इस प्रकार बने होने के कारण नगर बराबर परिमाण वाले आयताकार भागों में विभक्त हो गया था। प्रत्येक भाग की लम्बाई १२०० फीट तथा चौड़ाई ८०० फीट थी। उत्खनन-क्रिया में ऐसे सात पुर-भाग प्रकाश में लाये गये हैं। सड़कें, जो इन भागों को एक-दूसरे से अलग करती थीं, लगभग ३० फीट चौड़ी थीं।[4] इससे प्रकाश एवं स्वच्छता की व्यवस्था तथा चलने वालों के लिये सुगमता रहती थी। सुदृढ़ बनाने के निमित्त इनमें ईंटों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया था। इन सड़कों के दोनों ओर गलियाँ मिलती थीं जो पाँच से लेकर दस फीट तक चौड़ी हुआ करती थीं।[5] सड़कों के किनारे नालियाँ बनी होती थीं, जिनके द्वारा नगर की गन्दगी बाहर निकाल दी जाती थी। इन नालियों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग

---

१. ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ २७।
२. वही—पृष्ठ ३५।
३. वही—पृष्ठ ३६।
४. वही—पृष्ठ ३६।
५. वही—पृष्ठ ४०।

किया गया था तथा वे ऊपर से ढकी होती थीं।[1] यह इस बात का परिचायक है कि लोग स्वच्छता के ऊपर कितना अधिक ध्यान देते थे। नगर-चबूतरों के पास पहरेदारों के रहने के निमित्त कोठरियाँ बनी होती थीं।[2]

भवन-निर्माण की विशेषताएँ—सिन्धु-उपत्यका की नागरिक शालाओं में कतिपय सामान्य विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं:—(१) उनमें किसी प्रकार का अलङ्कार तथा सजावट नहीं दृष्टिगोचर होती। यह विशेषता विचारणीय है, क्योंकि भारतीय कला अपनी अलङ्कार-प्रधानता के लिये प्रसिद्ध है। इनकी ईंटें आकार में ऐतिहासिक काल की ईंटों से विभिन्न तथा आधुनिक ईंटों से सादृश्य रखती हैं। ये भवन विशेषतः प्रयोगवादी दृष्टिकोण से बने हुए हैं। (२) सादगी के होते हुए भी वे सुविशाल तथा सुदृढ़ होते थे। उनकी नींव काफी गहराई तक दी गई थी तथा दीवालों का निर्माण पकी ईंटों के द्वारा किया गया था। मज़बूती लाने के लिये फ़र्श भी ईंट की बनी होती थी। (३) घरों में अनेक द्वार रहते थे तथा प्रकाश एवं वायु के लिये उनमें अनेक खिड़कियाँ बनाई जाती थीं। उनके भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि उनमें कई प्रकोष्ठ बने रहते थे तथा वे कई तलों के होते थे। ऊपर जाने के लिये सोपान का निर्माण किया जाता था। (४) स्वच्छता की काफी व्यवस्था की जाती थी। उनमें स्नानगृह बने होते थे, जिनके गन्दे पानी को नालियों के द्वारा बाहर बहा दिया जाता था।

विशिष्ट भवन—

(१) **सभा-गृह**—प्रसिद्ध भवनों में सभा-गृह उल्लेखनीय है, जिसके ध्वंसावशेष मोहेनजोदड़ो के उत्खनन में उपलब्ध हुए हैं। यह प्रत्येक दिशा में ९० फीट का एक वर्गाकार भवन था। इसकी मज़बूत छत ईंटों के द्वारा निर्मित बीस खम्भों पर अवलम्बित थी। ये खम्भे चार पंक्तियों में वर्तमान थे। प्रत्येक पंक्ति में पाँच खम्भे आते थे। दर्शकों के बैठने के निमित्त इसमें आसन बने हुए थे। सबसे प्रधान आसन पश्चिम की दिशा में मध्य भाग में निर्मित था। सभा की फ़र्श में ईंटें चुनी गई थीं।

(२) **विशाल स्नानागार**—इसके भग्नावशेष मोहेनजोदड़ो के उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। यह चतुष्कोण स्नानागार उत्तर से दक्षिण तक १८० फीट तथा पूर्व से पश्चिम तक १०८ फीट था। इसकी बाहरी दीवालें ८ फीट चौड़ी थीं।

---

१. मार्शल, इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ १०३।
२. ह्वीलर—वही, पृष्ठ ४०।

इसके केन्द्रीय खुले आँगन के बीच एक स्नान-कुण्ड बना हुआ है, जो ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा तथा ८ फीट गहरा है। इसमें नीचे उतरने के लिये चारों ओर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। आँगन के चतुर्दिक् बरामदे बने हुए हैं। इनमें से तीन बरामदों के पीछे की ओर गलियारे और कोठरियाँ बनी हैं। दक्षिण के बरामदे के दोनों कोनों पर एक छोटी कोठरी तथा गलिआरा बना हुआ है। उत्तरी बरामदे के पीछे कई बड़े और छोटे कमरे बने हुए हैं। पूर्वी बरामदे के पीछे एक ही पंक्ति में कई छोटी कोठरियाँ थीं, जिनमें से एक (कमरा संख्या १६) में कुआँ भी था जिससे कुण्ड में पानी आता था। प्रत्येक कोठरी में ईंटों की बनी सीढ़ी मिलती है। इससे लगता है कि इसके ऊपर एक दूसरी मञ्जिल भी बनी थी। उत्खनन-क्रिया में राख तथा लकड़ी के कोयले मिले हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि इसके निर्माण में लकड़ी का भी प्रयोग किया गया था। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि इस स्नानागार का सम्बन्ध नगर के धार्मिक जीवन से था। ऊपरी मञ्जिल में सम्भवतः पुजारी लोग रहते थे, जो प्रति दिन नियत समय पर कुण्ड में स्नान करते थे। इस स्नानागार के उत्तर में लघु स्नानागार बने हुए हैं। मार्शल का कथन है कि मोहेनजोदड़ो का विशाल स्नानागार अपने काल में एक आश्चर्यजनक निर्माण था और इसकी समानता विश्व की तत्कालीन किसी भी वास्तुकला में नहीं मिलती।

(३) **अन्नागार**––सिन्धु-उपत्यका के नगरों के सांस्कृतिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता अन्नागारों का निर्माण था। हड़प्पा में दुर्ग-भाग के उत्तर की ओर ५० फीट लम्बे तथा २० फीट चौड़े अन्नागार दो पंक्तियों में बने हुए थे। प्रत्येक पंक्ति में अन्नागार की संख्या ६ थी। सबसे विशाल अन्नागार मोहेनजोदड़ो के दुर्ग में बना हुआ था। इसकी लम्बाई १५० फीट तथा चौड़ाई ७५ फीट थी। इस अन्नागार के निर्माण की विशालता उल्लेखनीय है। इसके भीतरी भाग में २७ शालाएँ मिलती हैं। प्रत्येक दो शालाओं के बीच वायु-सञ्चार के हेतु तङ्ग दरारें छोड़ दी गई थीं। इसके निर्माण में लकड़ी का भी प्रयोग किया गया था। इसकी पीठिका की बाहरी दीवालें तिरछी थीं, जिससे अन्नागार का आकार किले के सदृश लगता होगा। मार्शल का कथन है कि सिन्धु-उपत्यका के नगर-जीवन में इस विशाल अन्नागार का स्थान महत्त्वपूर्ण था। इसका सुदृढ़ निर्माण, वायु-सञ्चार की व्यवस्था तथा अन्न भरने की सुविधा आदि अद्वितीय हैं। इस प्रकार के विशाल अन्नागार विदेशों में भी बनाये जाते थे। मिश्र के अन्नागारों में राजकीय कर अन्न के रूप में वसूल किया जाता था। मेसोपोटामिया के एक अन्नागार में अनाज इतनी प्रचुर मात्रा में भरा हुआ था कि उससे ४०२० दिनों तक मजदूरों को दैनिक

वेतन दिया जा सकता था। उर के एक प्राचीन लेख (जिसकी तिथि २००० ई० पू० के लगभग है) से ज्ञात होता है कि वहाँ के एक अन्नागार से १०,९२० श्रमिकों को प्रतिदिन मजदूरी दी जाती थी। विशाल अन्नागारों के निर्माण की यह परम्परा व्यक्त करती है कि सिन्धु-उपत्यका के नगरों में रहने वालों तथा मिश्र एवं मेसोपोटामिया के निवासियों के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क था।

पुरवासियों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन—यहाँ के नागरिकों के सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब उनकी वेशभूषा तथा अलङ्कार-प्रसाधन में दृष्टि-गोचर होता है। उनके वस्त्र प्रायः ऊनी तथा सूती दोनों ही हुआ करते थे। पुरुष उत्तरीय वस्त्र के रूप में एक लम्बा दुपट्टा धारण करते थे, जो केवल उनके बाएँ कंधे को ढकता था। अधोवस्त्र के रूप में धोती पहनी जाती थी। बाल, दाढ़ी तथा मूँछों को ये लोग सँवारते थे। आभूषणों का प्रचार स्त्रियों तथा पुरुषों में समान रूप से था। स्त्रियों के प्रिय आभूषण कटिसूत्र, कण्ठमाल, हार, कङ्कण, नूपुर, केशबन्ध, कर्णपूर, नासाबन्ध तथा अङ्गुलीयक थे। धनिक वर्ग के आभूषण प्रायः सोने, चाँदी, हाथीदाँत तथा बहुमूल्य पत्थरों के बने होते थे।[१] उनकी रीति, प्रथा तथा आचार-व्यवहार भी उनकी प्रवणता तथा प्रवृत्ति के परिचायक हैं। आधुनिक सभ्य नागरिकों के समान इनमें भी पशुपालन प्रिय व्यसन के रूप में प्रचलित था तथा अपने समकालीन 'प्रारम्भिक सुमेरियन', 'मिनोअन' तथा मिश्री निवासियों के समान ये भी लेखन-कला से पूर्णतया परिचित थे।[२]

इन नगरों के निवासी विभिन्न प्रकार के व्यवसायों से परिचित दीख पड़ते हैं। ये लोग, ताँबे, काँसे, चाँदी तथा मिट्टी के बर्तन बनाते थे। मिट्टी के बर्तनों में वे भाण्ड विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो इनके प्रतिदिन के जीवन में काम आते थे—उदाहरणार्थ थाली, तश्तरी, कटोरे, प्याले, गिलास तथा सुराही। इन बर्तनों का निर्माण चाक के द्वारा किया जाता था। बर्तनों के ऊपर लाल तथा काले रंग का लेप चढ़ाया जाता था।[३] बच्चों के मनोविनोद के लिये मिट्टी के खिलौने बनाये जाते थे, जिनमें मनुष्य, पक्षी तथा जानवरों की आकृतियाँ प्रदर्शित की जाती थीं। यहाँ के कलाकार मिट्टी तथा पत्थर की सुन्दर गोलियाँ बनाते थे, जो खेलने के काम में आती थीं।[४] इन नगरों के भग्नावशेषों से कुछ मुहरें मिली हैं, जिनमें

---

१. मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ३४।
२. वही, पृष्ठ ३९।
३. वही, पृष्ठ ३९।
४. वही, पृष्ठ ३९।

पशुओं की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। इनसे वहाँ के कलाकारों की निपुणता का परिचय मिलता है।[१]

यहाँ के कलाकार मूर्तियाँ भी बनाते थे, जिनमें से तीन प्रसिद्ध उदाहरण उपलब्ध हुए हैं। पहली मूर्ति एक नर्तकी की है जो काँसे के द्वारा बनी हुई है। इसमें वह नग्नावस्था में ही नाचने की मुद्रा में प्रदर्शित की गई है। अन्य दो पुरुष-मूर्तियाँ हैं। इनमें पहली लाल तथा दूसरी धूसर वर्ण की है। इनका निर्माण इतनी उत्कृष्टता के साथ किया गया है कि देखने वाले को उन्हें प्रागैतिहासिक-काल की कृति मानने में थोड़ी देर के लिये सन्देह होने लगता है।[२]

विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों के आविर्भाव के कारण इन नगरों का व्यापारिक विकास होना भी स्वाभाविक ही था। हड़प्पा से एक मुहर मिली है, जिस पर जहाज का चित्र अङ्कित मिलता है। इससे विदित होता है कि वे लोग बाहरी देशों के साथ जलमार्ग के द्वारा व्यापार करते थे।[३] इसका समर्थन दूसरे प्रमाणों के द्वारा भी होता है। सुमेर, बैबिलोनिया, उत्तरपूर्व फारस तथा अफगानिस्तान में कुछ ऐसी मुहरें मिली हैं, जो बनावट में हड़प्पा के मुहरों के समान हैं। इससे विदित होता है कि इन स्थानों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध था।[४] बहुत सम्भव है कि यह सम्पर्क सामुद्रिक व्यापार के कारण ही स्थापित हुआ हो। इन नगरों के व्यापारी आन्तरिक व्यापार भी करते थे। देश के भीतरी भागों (विशेषतया राजस्थान, गुजरात तथा बिलोचिस्तान) में माल जानवरों के ऊपर लाद कर यहाँ से भेजा जाता था।[५]

स्वदेशी विकास—भारतीय नगर-जीवन का यह सर्वप्रथम आविर्भाव पूर्णतः स्वदेशी था। कुछ विद्वानों ने समकालीन ताम्रयुगीन सभ्यताओं से साम्य रखने के कारण इस सभ्यता की उत्पत्ति पर वाह्य प्रभावों को स्वीकार किया है।[६] पर यह मत भ्रामक और सारहीन प्रतीत होता है। सैन्धव-सभ्यता में कुछ ऐसे देशीय विशिष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, जो इसकी स्वतन्त्र उत्पत्ति तथा स्थानीय विकास को प्रमाणित करते हैं। गृह्य पशुओं का पालन, विशाल स्नानागार, एलम, सुमेर एवं मिश्र की समकालीन सभ्यताओं से विभिन्न सैन्धव-सभ्यता के सहज गुण तथा

---

१. मार्शल, मोहेन जोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ४३।
२. वही—पृष्ठ ४५।
३. ह्वीलर, इण्डस एज, पृष्ठ ६०।
४. वही—पृष्ठ ५९।
५. मार्शल, वही, मोहन जोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ६०।
६. लुई रेनो, पृष्ठ १।

फारस एवं मेसोपोटामिया से मेल न रखने वाले रङ्गीन बर्तनों को अलङ्कृत करने की शैली, रूई का प्रयोग तथा लिपिज्ञान आदि इस सभ्यता को विदेशी प्रभावों से सर्वथा बाहर रखते हैं।[१]

सिन्धु नदी की देन—नगर-जीवन के इस प्राथमिक विकास में सिन्धु नदी की भारी देन थी। यातायात के साधनों की सुविधा, व्यापार तथा वाणिज्य का विकास एवं रक्षासाधन का निर्माण कर इस दिशा में इसने महान् कार्य किया था। इस बात की पुष्टि अन्य देशों के भी इतिहास से हो जाती है। विश्व में अनेक उच्च-कोटि की सभ्यताओं का अभ्युदय नदियों के कारण हुआ था। मिश्र में नील, मेसोपोटामिया में दजलाफरात, फारस में कारुम, कारखेह तथा हेलमन्द नदियों ने ही उच्च कोटि की सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचाई थी।[२]

पूर्व वैदिक काल

नगर-जीवन का अभाव—सैन्धव सभ्यता-काल के पश्चात् भारतवर्ष में नगर-जीवन का अभाव दीख पड़ता है। इस समय की सभ्यता का रूप हम ऋग्वेद में पाते हैं। इस समय की आर्य-सभ्यता मूलतः ग्रामीण सभ्यता थी। ऋग्वेदकालीन आर्य, नगरों के ज्ञान से पूर्णतया वञ्चित थे। वे लोग छोटे ग्रामों में रहते थे, जिनकी रक्षा के लिये वे बाँस की चहारदीवारी खड़ा करते तथा झाड़ियाँ लगाते थे। कालान्तर के नगरों के चतुर्दिक् मिलने वाली लकड़ी की चहारदीवारी ऋग्वेदकालीन बाँस की चहारदीवारी का उत्तर विकास थी। इसमें प्रत्येक दिशा में लकड़ी के द्वार बने होते थे, जिन्हें 'गमद्वार' कहा जाता था। आर्यों के पशु इन दरवाजों से होकर ग्राम के बाहर चरागाह की ओर जाते थे। इसी 'गमद्वार' से 'गोपुर' शब्द निकला जिसका प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अमरकोष में पुर-द्वार के अर्थ में हुआ है। साँची के तोरण 'गमद्वार' के आदर्श पर बनाये गये थे।

आर्यों के घर आकार में गोल होते थे। यह इस बात का द्योतक है कि प्रारम्भिक मनुष्य का गोल आकार से प्रेम था। गोलाकार भवन बनाने की प्रथा कालान्तर में भी विद्यमान थी। प्राचीन राजगृह के घरों की नींव इस बात के प्रमाण हैं कि वहाँ गोलाकार घर बनाये जाते थे। आज भी उत्तरी भारत के गाँवों में लकड़ी और बाँस के द्वारा गोलाकार कोठारों का निर्माण किया जाता है। पूर्व वैदिक काल के भवनों की दीवालें लकड़ी तथा बाँस की बनी होती थीं। मजबूती लाने के लिये

---

१. मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ९४।
२. वही—पृष्ठ ९३।

उनके ऊपर मिट्टी का लेप चढ़ा दिया जाता था। इन घरों की छत घास-फूस तथा पत्तियों की बनी होती थी। पूर्व वैदिककालीन काष्ठ-गृह का एक सुन्दर दृष्टान्त बराबर पहाड़ियों की सुदामा की गुफा की एक दीवाल के ऊपर अङ्कित मिलता है। इस समय कभी-कभी एक ही घेरे में तीन या चार घर बने होते थे। ग्राम के बीच में मिट्टी का एक दुर्ग होता था, जिसके लिये ऋग्वेद में 'पुर' शब्द मिलता है। सङ्कट के समय में आर्य लोग इस प्रकार के दुर्ग में शरण लेते थे।

सैन्धव सभ्यता एवं पूर्वकालीन आर्य-सभ्यता में अन्य अन्तर—इन दोनों सभ्यताओं में अन्य दृष्टियों से भी अन्तर था। सिन्धु घाटी के लोग धातुओं में सुवर्ण को प्रधानता देते थे पर आर्य-सभ्यता में उसके स्थान को चाँदी ने ले लिया था। सैन्धव-सभ्यता के लोग रक्षा के अस्त्रों का प्रयोग नहीं जानते थे पर ऋग्वेदकालीन आर्य ढाल, कवच तथा कुण्डल का प्रयोग भलीभाँति करते थे। सिन्धु-उपत्यका के लोगों के जीवन में घोड़े का कोई मूल्य न था पर पूर्व वैदिक-कालीन आर्य, घोड़े की सवारी के प्रेमी थे। आर्य, धेनु की पूजा करते थे पर सिन्धु घाटी के लोगों में इसकी महत्ता लवलेश भी न थी। आर्य-सभ्यता में नारी-तत्त्व गौण था पर सैन्धव-सभ्यता में इसकी प्रधानता थी।[१]

दोनों सभ्यताओं में यह अन्तर कुछ काल तक विचारकों के मस्तिष्क को चक्कर में डाल देता है। ऐसा आभास होने लगता है कि भारत-निवासी एक समय नगर-निर्माण से परिचित होकर कालान्तर में उसे भूल गया। पकी ईंटों के द्वारा बने हुए विशाल भवनों के निर्माण के स्थान पर उसे उटज-विन्यास से ही सन्तुष्टि होने लगी तथा शिव एवं मातृदेवी की आराधना उसने कालान्तर में छोड़ दी।

इस समस्या के स्पष्टीकरण में कुछ भारतीय विद्वानों ने सैन्धव-सभ्यता को पूर्वकालीन आर्यसभ्यता का उत्तर विकास बतलाया है। इस दिशा में कार्य करते हुये डॉक्टर लक्ष्मण स्वरूप ने पूर्व आर्य-सभ्यता की अधिक प्राचीनता तथा सैन्धव-सभ्यता की उत्तरकालीनता का निर्देश किया है।[२] इस मत का समर्थन करते हुए श्री पुसालकर ने भी आर्यों को सैन्धवसभ्यता का कर्त्ता माना है। उनका मत है कि इस सभ्यता को आर्यसभ्यता का उत्तर विकास कहना अत्यल्प भी असङ्गत नहीं है।[३] श्री वेंकटेश्वर ने भी ऋग्वेदिक सभ्यता को सैन्धवसभ्यता का पूर्वज

---

१. मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ११०–११।

२. इण्डियन कल्चर, जिल्द ४, पृष्ठ १४९–१६८।

३. ऐं० भं० ओ० रि० इ०, जिल्द १७, भाग ४, पृष्ठ ३८५–९५।

माना है।[1] यह मत जिज्ञासुओं को कुछ तर्कसङ्गत सा दीख पड़ता है। ग्रामीण रूप का नगर-रूप में परिवर्तन अथवा छोटी झोपड़ियों का विशाल भवनों में रूपान्तर अधिक प्रामाणिक तथा विश्वासयुक्त प्रतीत होता है।

परन्तु इसके समर्थन के कारण हम कठिन उलझनों में पड़ जाते हैं। यदि सैन्धवसभ्यता वैदिक सभ्यता का विकास है तो सैन्धवसभ्यता में अश्वों तथा रक्षा के शस्त्रों के प्रयोग (जिनका वैदिक सभ्यता में बहुत बड़ा स्थान था) का अभाव क्यों मिलता है तथा गाय के स्थान पर बैल पूजा का पात्र कैसे बन जाता है? इसी प्रकार और भी अनेक जटिल समस्यायें तथा ग्रन्थियाँ इसके समर्थन के कारण उपस्थित हो जाती हैं, जिसका कोई स्पष्ट सुझाव अथवा सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल पाता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि ये दोनों ही सभ्यताएँ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। वैदिकसभ्यता में मूर्ति-पूजा का अभाव तथा सैन्धवसभ्यता में इसका प्रचार, दोनों की पृथकता को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देता है।[2] सैन्धवसभ्यता, वैदिकसभ्यता का उत्तर विकास तभी सिद्ध की जा सकती है, जब हम इसका सप्रमाण निर्देश कर सकें कि दोनों ही सभ्यताओं के लोग एक ही जाति के हैं तथा सैन्धवसभ्यता का काल पूर्व वैदिककाल का उत्तराधिकारी है।[3] दोनों ही सभ्यताओं का एक ही स्रोत सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों में अधिकांश इनके मूल की विभिन्नता पर पूर्ण रूप से सहमत हैं।[4] ऐसी दशा में वैदिक ग्रामीण जीवन का सैन्धवकालीन नगर-रूपान्तर पूर्णतया अविश्वसनीय हो जाता है।

सिन्धु-उपत्यका के नगरों के विनाशकर्ता—हड़प्पा के आधुनिक उत्खनन ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्यों ने ही सिन्धु-उपत्यका के नगरों का विनाश किया था। उनके आक्रमण के कारण ही इनका अन्तिम संहार हुआ।[5] ऋग्वेद में 'दासों' एवं 'दस्युओं' के जो अनेक उल्लेख मिलते हैं, वे इन नगरों के निवासियों के प्रति सङ्केत करते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार दास एवं दस्यु कृष्ण वर्ण के थे। वे लिङ्गोपासक थे तथा आर्यों के यज्ञों के प्रति उनकी कोई आस्था नहीं थी। वे दुर्गों

---

१. दी कल्चरल हेरिटेज आफ़ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ५३–६३।
२. आ० इ० ओ० का०, त्रिवेन्द्रम सेशन, सेक्शन १, पृष्ठ १९।
३. वही—पृष्ठ २३।
४. मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ ११२।
५. पिगट, प्री हिस्टारिक इण्डिया, पृष्ठ २५८।

में रहते एवं अपरिमित सुवर्ण के स्वामी थे। ये वर्णन हड़प्पा एवं मोहेनजोदड़ो के निवासियों की ओर सङ्केत करते हैं।[1]

ऋग्वेद में जिन दुर्गों का उल्लेख मिलता है, वे वास्तव में सिन्धु-उपत्यका के दुर्ग हैं जिनका विनाश आर्यों ने किया था। ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र के द्वारा अनेक पुरविनाश आर्यों के द्वारा इन दुर्गों के प्रति ध्वंसात्मक कार्यों की ओर ही सङ्केत करते हैं।[2] ऐसी दशा में सैन्धवसभ्यता को पूर्व आर्यसभ्यता का उत्तर विकास सिद्ध करने का कोई प्रश्न ही समुपस्थित नहीं होता।

उत्तर वैदिक साहित्य में नगरों के उल्लेख

नगर—तैत्तिरीय संहिता में नगर शब्द का उल्लेख पुर के अर्थ में हुआ है (नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्)।[3]

पुर—इस शब्द का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (१,७,७५), ऐतरेय ब्राह्मण (१, २३, २, ११) तथा शतपथ ब्राह्मण (तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति—३, ४, ४, ३) में मिलता है। पिशेल का मत है कि यहाँ पर पुर शब्द से तात्पर्य प्राकार एवं परिखा से परिवेष्ठित नगर से है।[4]

महापुर—यजुर्वेद संहिता (१, ७, १-३) तथा गोपथ ब्राह्मण[5] में महापुर शब्द का उल्लेख मिलता है। मैकडानल तथा कीथ के अनुसार पुर एवं महापुर में अन्तर आकार की दृष्टि से था।[6]

नवद्वार पुर—श्वेताश्वतरोपनिषद् (३, १८) में नवद्वारों से युक्त पुर का उल्लेख मिलता है (नवद्वारे पुरे)।

एकादशद्वार पुर—कठकोपनिषद् (१, ५, १) में ग्यारह द्वारों से युक्त पुर का उल्लेख आता है (पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।)।

प्रासाद—अद्भुद ब्राह्मण में प्रासाद शब्द का प्रयोग राजमहल के अर्थ में हुआ है।[7]

---

१. पिगट, प्री हिस्टारिक इण्डिया, पृष्ठ २६१।
२. वही—पृष्ठ २६१–६२।
३. तैत्तिरीय संहिता, १, २, १८, ३१, ४।
४. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृष्ठ ५३९।
५. "महापुरं जयन्तीति"—गोपथ ब्राह्मण, २, २, ७, २।
६. वैदिक इण्डेक्स, २, १५१।
७. वही—२, ४४।

प्राकार—शांखायन श्रौतसूत्र (१६, १८, १४) में प्राकार शब्द का प्रयोग नगर-दीवाल के अर्थ में हुआ है।

वप्र—अथर्ववेद (७, ७१, १) में वप्र (रैम्पर्ट) शब्द का उल्लेख मिलता है।

देही—कात्यायन श्रौतसूत्र (२, १, २२) तथा कौशिक सूत्र (३, ५) में देही शब्द का उल्लेख नगर-परिखा के अर्थ में हुआ है।

काम्पिल—तैत्तिरीय संहिता[1] तथा मैत्रायणी संहिता[2] में एक स्त्री को काम्पिल-वासिनी कहा गया है। वेबर तथा ज़िमर महोदयों के अनुसार काम्पिल उसी नगर का नाम है जिसे कालान्तर के साहित्य में काम्पिल्य तथा पञ्चाल की राजधानी कहा गया है।[3]

कौशाम्बी—शतपथ ब्राह्मण (१२, २, २, १३) तथा गोपथ ब्राह्मण (१, २, २४) में कौशाम्बेय शब्द का उल्लेख मिलता है (प्रोतिर्हि कौशाम्बेयः)। हरिस्वामी की शतपथ ब्राह्मण-टीका के अनुसार इसका अर्थ कौशाम्बी का निवासी होता है।[4]

अयोध्या—ऐतरेय ब्राह्मण (१२, ३, १) में अयोध्या का उल्लेख मिलता है।

आसन्दीवन्त—उत्तर वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख जन्मेजय परीक्षित की राजधानी के रूप में हुआ है। उनके प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान इसी नगर में हुआ था।[5]

उपर्युक्त उल्लेखों से लगता है कि उत्तर वैदिककाल में आर्यों का परिचय नगर-जीवन से हो चुका था। ग्रामीण जीवन से अभ्यस्त पशुपालक आर्यों का इस समय यह नगर-ज्ञान आश्चर्यजनक नहीं है। उन्होंने नगर-निर्माण भारतवर्ष के मूल निवासियों से (जो नगर-जीवन से पूर्णतः अभ्यस्त थे) सीखा होगा। उत्तर वैदिककाल में आर्यों की युद्ध-क्रिया समाप्त हो गई तथा व्यवस्थित जीवन का श्रीगणेश हुआ। इस कारण इन लोगों ने स्थायी गृहों और बस्तियों की कल्पना की, जिनका आधार एवं आदर्श इन लोगों ने मूलनिवासियों के भवनों एवं नगरों को बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके विन्यास में आर्यो ने इन लोगों की सहायता भी ली थी, क्योंकि इस क्षेत्र में इनकी गति विशेष थी।

---

१. **"काम्पीलवासिनीति-काम्पील-वासिनी"—तैत्तिरीय संहिता, ७, ४, १९, १।**

२. **"सुभद्रिका काम्पीलवासिनी"—मैत्रायिणी संहिता, ३, १२, २०।**

३. **वैदिक इण्डेक्स, १, १४९।**

४. **वही—१, १९३।**

५. **वही—१, ७२।**

का परिचय
आर्यों का
भारतवर्ष
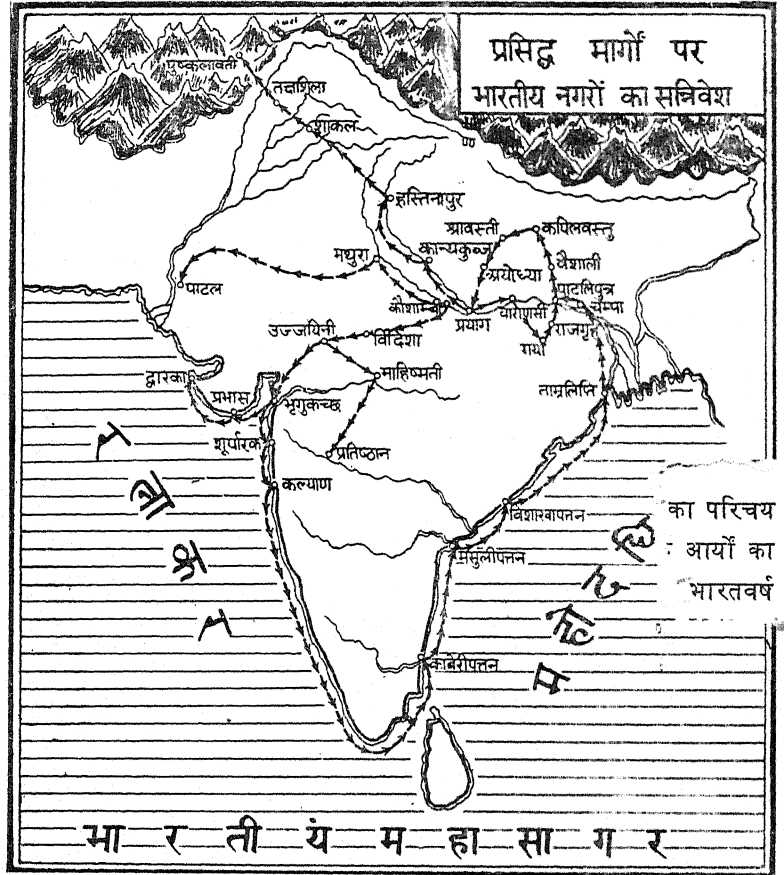
अध्याय २

सन्निवेश-भेद

प्राचीन पथ एवं नगर-सन्निवेश—नगरों के आर्थिक जीवन का मूल प्रधानतः वाणिज्य है। यही कारण है कि प्राचीन भारत के नगरों की स्थिति उन प्रसिद्ध मार्गों पर देखने को मिलती है, जो व्यापार के साधन थे। अत्यन्त प्रारम्भिक युग में ही इस देश के लोगों ने मार्गों की महत्ता का अनुमान लगा लिया था। अथर्ववेद के एक सूत्र में इनको मानवों के यातायात का साधन (जनायन) माना गया है। इस सूत्र से विदित होता है कि इसके रचनाकाल में भारत-भूमि पर मार्गों की संख्या अनेक थी (पन्थानो बहवो)। उन पर रथ तथा शकट आदि चलते थे (रथस्य वर्त्मानिसश्च यातवे) तथा सभी प्रकार के लोगों को संचरण का अधिकार प्राप्त था। इस सूक्त में मार्गों से चोरों एवं डाकुओं के भय को हटाने तथा उन्हें सब प्रकार से सुरक्षित और कल्याणकारी बनाने के लिये प्रार्थना भी की गई है।[1] कतिपय अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी इस देश में मार्गों की स्थिति का निर्देश मिलता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में दक्षिणापथ की ओर जाने वाले अनेक मार्गों का उल्लेख किया गया है।[2]

प्रारम्भिक काल में मार्ग बनाने वाले शिल्पी हुआ करते थे। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के कारीगरों का उल्लेख मिलता है। रामायण में इन्हें 'वर्त्मकर्मणि कोविदाः'[3] तथा शुक्रनीति में 'मार्गकाराः'[4] कहा गया है। इन कारीगरों (कर्मान्तिकाः) में भूमि का नाप-जोख करने वाले (सूत्रकर्मविशारदाः), खोदने वाले (खनकाः), निर्माण-सम्बन्धी यन्त्रों का प्रयोग करने वाले (यन्त्रकाः), थवई (स्थपति), बढ़ई (वर्धकि), मार्गविरोधक वृक्षों को काटने वाले (मार्गिणो वृक्षतक्षकाः), कुआँ बनाने वाले (कपकाराः) तथा बाँस और चमड़े

---

१. अथर्ववेद, १२, १, ४७।

२. "एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम्"—वनपर्व, ५८, २।

३. रामायण, अयोध्याकाण्ड, अध्याय ८०।

४. शुक्रनीतिसार, अध्याय २, पंक्ति ३९६।

(२) पत्तन (३) द्रोणमुख (४) पुटभेदन (५) निगम (६) स्थानीय (७) खर्वट तथा (८) खेट। साथ ही उनमें प्रत्येक की परिभाषा दी गई है तथा उनके पारस्परिक विभेद को समझाया भी गया है।

राजधानी—राजधानी-वर्ग का नगर सबसे बड़ा जनसन्निवेश था। इसका प्रधान कारण यहाँ पर राजप्रासाद का वर्तमान होना था। प्राचीन ग्रन्थों में राजधानी शब्द का प्रयोग बहुधा राजा की प्रधान नगरी के अर्थ में हुआ है, उदाहरणार्थ—रघुवंश में इक्ष्वाकु राजाओं की नगरी अयोध्या को राजधानी कहा गया है।[1] बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित में अयोध्या को राजधानी कहा है (राजधानीमयोध्याम्)।[2] समराङ्गणसूत्रधार के लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राजधानी उस नगर को कहते हैं, जहाँ पर राजा रहता है।[3] राजधानी की यही परिभाषा मयमतम् में भी दी गई है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि राजधानी वह नगर है, जहाँ राजप्रासाद वर्तमान होता है।[4] इससे स्पष्ट है कि राजधानी से तात्पर्य राजा का प्रधान अधिष्ठान समझा जाता था। इसका समर्थन शब्दकल्पद्रुम से भी होता है। इस ग्रन्थ में राजधानी को राजा की नगरी (राज्ञांधानी नगरी) कहा गया है।[5]

शुक्रनीति तथा मानसार में राजधानी के लक्षणों का निरूपण मिलता है। शुक्रनीति के अनुसार इस प्रकार के नगर के चतुर्दिक् परिखा, प्राकार एवं नगर-द्वारों का वर्तमान होना अनिवार्य है तथा इसके भीतरी भाग में चौड़े राजमार्गों, सुन्दर उपवनों, भवनों एवं सरोवरों का निर्माण वाञ्छनीय है।[6] मानसार में भी राजधानी का लक्षण लगभग इसी प्रकार बताया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार भी राजधानी की चारों दिशाओं में चार नगर-द्वारों का वर्तमान होना (चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारम्) तथा इसके भीतर यथास्थान धार्मिक भवनों की स्थिति (पूर्णं नानादेवालयैरपि) आवश्यक है।[7] मयमतम् में राजधानी के सम्बन्ध में इनसे मिलते

---

१. "अयोध्यामनुराजधानीम्"—रघुवंश, सर्ग १३, ६१।

२. विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८, ९४।

३. "यत्रास्ते नगरे राजा राजधानीं तु तां विदुः"—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ८६, पंक्ति ३।

४. "या नृपवेश्मसमेता सा कथिता राजधानीति" : मयमतम्, अध्याय १०, पंक्ति ४९।

५. शब्दकल्पद्रुम, भाग ४, पृष्ठ ११७।

६. शुक्रनीति, अध्याय १।

७. मानसार, अध्याय १०, पृष्ठ ५३।

जुलते हुए लक्षण गिनाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—(१) इस प्रकार का नगर चारो ओर परिखा के द्वारा परिवेष्ठित रहता है (परितः परिखा वाह्ये), (२) इसकी रक्षा के लिये नगर-द्वारों के सामने सैनिकों के शिविर बने रहते हैं (शिविर-युतानेकमुखरक्षा), (३) नगर के भीतर तथा बाहर शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिये राजा की सेना नियुक्त रहती है (राजबलयुक्ता), (४) इसमें स्थान स्थान पर ऊँचे द्वारों का निर्माण किया जाता है (उन्नतगोपुरयुक्ता), (५) इसके आन्तरिक भाग में विभिन्न प्रकार की शालायें बनी रहती हैं (नानाबिधमालिकोपेता), (६) इसमें सब प्रकार के धार्मिक भवन (सर्वसुरालयसहिता), गणिकाएँ (नाना-गणिकान्विता), उद्यान (बहूद्याना) तथा सब प्रकार के व्यक्ति (सर्वजनयुक्ता) वर्तमान होते हैं।[1] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि राजधानी के जो लक्षण शिल्प-शास्त्रों में गिनाये गये हैं, उनमें से अनेक प्राचीन भारत की राजधानियों में विद्यमान थे। पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, हस्तिनापुर, द्वारका तथा मथुरा आदि इस कोटि के सभी नगर प्राकार, परिखा, गोपुर, शिविर तथा विशाल महलों से युक्त थे। जिन प्राचीन ग्रन्थों में इन नगरों का वर्णन मिलता है, उनसे विदित होता है कि सचमुच ही इनके भीतर उद्यान, मन्दिर, सरोवर तथा राजमार्ग आदि विद्यमान थे जिनके कारण इनकी शोभा अन्वेक्षणीय थी।

पत्तन—प्राचीन ग्रन्थों में पत्तन शब्द समुद्री बन्दरगाह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में बन्दरगाह को 'पण्यपत्तन' कहा गया है।[2] जैनसाहित्य में इसे जलपट्टन कहा गया है (अर्थात् वह नगर जहाँ विदेशी माल उतारा जाता था तथा देशी माल का निर्यात होता था)।[3] अमरकोष में भी पत्तन शब्द आता है। इस ग्रन्थ पर क्षीरस्वामी ने जो टीका लिखी है, उसमें पत्तन शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पत्तन वह केन्द्र है, जहाँ पर चारो दिशाओं से सामान आता है (पतन्त्यस्मिन्पत्तनम्)।[4] पत्तन शब्द की इस व्याख्या से समुद्री बन्दरगाह का ही बोध होता है। शिल्पशास्त्रों में भी समुद्री बन्दरगाह को ही पत्तन कहा गया है। मानसार के अनुसार उस नगर को पत्तन कहते हैं, जो कि समुद्रतट पर स्थित होता है (अब्धितीरप्रदेशे), जिसमें विशेषतः बनिये रहते हैं (वणिग्जातिभिरा-कीर्णम्), जहाँ वस्तुएँ सर्वदा खरीदी तथा बेची जाती हैं (क्रयविक्रयपूरितम्)

---

१. **मयमतम्, अध्याय १०।**

२. **अर्थशास्त्र (शामा शास्त्री का अनुवाद), पृष्ठ ३२८।**

३. **सार्थवाह, पृष्ठ १६३।**

४. **अमरकोष, (हरदत्तशर्मा सम्पादित), पृष्ठ ७४।**

तथा जो बाहरी देशों से (द्वीपान्तरैः) विक्रय के निमित्त लाई गई सामग्री से परिपूर्ण होता है।[१]

पत्तन की यही परिभाषा कालान्तर में भी शिल्पशास्त्रों में दी गई है, उदाहरणार्थ—मयमतम् में इसे सागर के किनारे बसा हुआ (सागरवेलाभ्याशे), क्रयविक्रय के वातावरण से परिपूर्ण (क्रयविक्रयकैर्युतम्) तथा विदेशों की वस्तुओं से युक्त (द्वीपान्तरागतवस्तुभिर्युक्तम्) कहा गया है।[२] शिल्परत्न में भी पत्तन को समुद्र के तट पर वर्तमान (सागरानूपसंश्रितम्) तथा व्यापारियों एवं जहाज चलाने वालों से परिपूर्ण (सायन्त्रिकवणिग्जुष्टम्) कहा गया है।[३] इस प्रकार के नगरों में कावेरीपत्तन तथा मसुलीपत्तन आदि उन नगरों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है, जो कि समुद्रतट पर स्थित थे तथा जिनके नाम के अन्त में पत्तन शब्द मिलता है। इन नगरों में सचमुच ही विदेशों के जहाज आकर लगते थे तथा यहाँ से सामान बाहरी देशों को प्रचुर मात्रा में भेजा जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में इन नगरों का व्यापारिक वातावरण वैसा ही मिलता है, जैसा कि पत्तन की परिभाषा के सम्बन्ध में शिल्पशास्त्रों में कहा गया है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि 'पत्तन' शब्द कहीं-कहीं राजधानी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है (पत्तनं यत्र राजधानी स्थिता)।[४]

द्रोणमुख अथवा द्रोणीमुख—इस सन्निवेश से तात्पर्य उस नगर से प्रतीत होता है, जो कि घाटी (द्रोणी) के मुख अर्थात् नदी के मुहाने पर स्थित होता था। जैन-साहित्य में "द्रोणमुख" शब्द का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि यहाँ पर जलमार्ग तथा स्थलमार्ग, दोनों से ही माल उतरते थे।[५] इसका कारण जलमार्ग तथा स्थलमार्ग से द्रोणमुख का सम्बन्ध माना जा सकता है। मानसार में इस सन्निवेश के लिए द्रोणान्तर शब्द का प्रयोग किया गया है (द्रोणान्तरमुदाहृतम्)। इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर समुद्रतट के पास नदी के मुहाने पर स्थित होता है (समुद्रतटनीयुक्तम्), इसमें वणिक् तथा नाना जाति के लोग रहते हैं (वणिग्भिः सह नानाभिर्जनैर्युक्तं जनास्पदम्) तथा वस्तुओं का क्रयविक्रय खूब होता है (क्रयविक्रयसंयुक्तम्)।[६]

---

१. मानसार, अध्याय १०।
२. मयमतम्, अध्याय १०।
३. शिल्परत्न, अध्याय ५।
४. कामसूत्र, टीका, १, ४२।
५. सार्थवाह, पृष्ठ १६३।
६. मानसार, अध्याय १०।

कालान्तर के शिल्पशास्त्रों में द्रोणान्तर के स्थान पर द्रोणमुख अथवा द्रोणी-मख शब्द आते हैं। उनमें भी इसका समान वर्णन उपलब्ध होता है। मयमतम् के अनुसार द्रोणमुख नदी तथा समुद्र के सन्धिस्थल अर्थात् नदी के मुहाने पर स्थित होता है (नद्याब्धिदक्षिणादक्षिणाभागम्) तथा उसमें वणिक् आदि विशेषरूप से रहते हैं (वणिगादिसंयुक्तम्)।[१] द्रोणमुख से इसी प्रकार के जनसन्निवेश का भाव बहुत बाद तक माना जाता रहा क्योंकि सोलहवीं शताब्दी के 'शिल्परत्न' नामक एक शिल्पशास्त्र में इसकी स्थिति नदी तथा समुद्र के सङ्गम पर मानी गई है (अब्धेश्च नद्याश्च सङ्गमागतपोतकम्) तथा विदेशों से आये हुए वणिकों से इसे परिपूर्ण बताया गया है (द्वीपान्तर्वणिग्जुष्टम्)।[२] इस वर्ग के नगरों में उस ताम्रलिप्ति का उदाहरण दिया जा सकता है, जो समुद्र तथा नदी के सङ्गम पर बसा हुआ था तथा जो आयात एवं निर्यात का प्रतिष्ठित केन्द्र था।

पुटभेदन—बड़े व्यापारिक केन्द्रों को पुटभेदन कहा जाता था। उदाहरणार्थ, मिलिन्दप्रश्न में शा॰ल को पुटभेदन कहा गया है।[३] इसी प्रकार 'महापरिनिब्बान-सुत्त', में पाटलिपुत्र को पुटभेदन कहा गया है।[४] अमरकोष में भी बड़े नगर के लिये पुटभेदन शब्द का प्रयोग हुआ है।[५] शिशुपालवध में इन्द्रप्रस्थ को पुटभेदन कहा गया है।[६] बड़े नगरों में थोक माल की गाँठें आती थीं, जो कि मुहरबन्द हुआ करती थीं। पुरातत्त्व-विभाग के द्वारा की गई हुई खुदाइयों में इस प्रकार की मुहरें प्राप्त हुई हैं। मुहर को तोड़कर गाँठ खोली जाती थी और उसके उपरान्त उसमें भरा हुआ माल फुटकरियों के हाथ बेच दिया जाता था।[७] मुहरों के इस प्रकार तोड़ी जाने के कारण ही विशिष्ट व्यापारिक केन्द्र पुटभेदन कहलाने लगे।[८] क्षीरस्वामी ने भी अमरकोष की टीका में पुटभेदन शब्द की व्याख्या लगभग इसी प्रकार की है। उनका कहना है कि पुटभेदन में भरे हुए वर्तनों के बन्द ढक्कन खोले जाते

---

१. मयमतम्, अध्याय १०।
२. शिल्परत्न, अध्याय ५।
३. "नानापुटभेदनं सागलंनाम नगरम्"—मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ २।
४. "पाटलिपुत्तं पुटभेदनम्"—दीघनिकाय (द्वितीय भाग), पृष्ठ ७२।
५. अमरकोष, द्वितीयकाण्ड, पृष्ठ ११६।
६. शिशुपालवध, सर्ग १३, २६।
७. सार्थवाह, पृष्ठ १६।
८. भारत की मौलिक एकता, पृष्ठ १२१।

थे।[१] समराङ्गण-सूत्रधार में पुटभेदन की जो परिभाषा दी गई है, उससे विदित होता है कि इसमें वणिक बहुसंख्या में रहते थे।[२]

निगम——प्राचीन ग्रन्थों में 'निगम' शब्द का प्रयोग व्यापारियों की समितियों के अर्थ में हुआ है पर कहीं-कहीं यह शब्द नगर के रूप में भी प्रयुक्त मिलता है। अमर-कोष में निगम को एक प्रकार का नगर माना गया है।[३] जैन-साहित्य में निगम के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे विदित होता है कि यह व्यापारियों का नगर था, क्योंकि यहाँ पर प्रधानतः लेन-देन तथा व्याज-बट्टे का काम होता था।[४] वसाढ़ से मिली हुई एक मुहर पर 'कुलिक-निगम' शब्द उत्कीर्ण मिलता है। डॉक्टर भण्डारकर[५] तथा मजुमदार[६] महोदयों का कहना है कि यहाँ पर निगम शब्द का अर्थ नगर है। यदि इन विद्वानों के मत को सत्य मान लिया जाय तो 'कुलिक-निगम' शब्द का अर्थ वह नगर होता है, जिनमें प्रधान रूप से कुलिक रहते हों। इससे यह सिद्ध होता है कि कारीगरों की बस्ती को भी कभी-कभी निगम कहा जाता था। शिल्पशास्त्रों में निगम शब्द कारीगरों अर्थात् व्यावसायिकों का नगर माना गया है। मानसार में निगम को कर्म्मकारों (कारीगरों) से परिपूर्ण बताया गया है।[७] मयमतम् में निगम को कर्म्मकारों (कारीगरों) की बस्ती कहा गया है।[८] शिल्परत्न में भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि निगम में कर्म्मकार तथा कर्मोपजीवी रहते हैं (कर्म्मकारैर्नानाकर्मोपजीविभिः)।[९] प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट है कि व्यावसायिकों की कभी-कभी अलग वस्तियाँ हुआ करती थीं। उदाहरणार्थ, एक जातक में वाराणसी के पास ही स्थित एक ऐसी विशाल

---

१. "पुटा भाण्डवासनानि भिद्यन्तेऽस्मिन् पुटभेदनम्"——अमरकोष (हरदत्तशर्मा), पृष्ठ ७४।
२. "बहुस्फीतवणिग्युक्तं तदुक्तं पुटभेदनम्"——समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ८७, पंक्ति १०।
३. अमरकोष (हरदत्तशर्मा के द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७४।
४. सार्थवाह, पृष्ठ १६३।
५. कारमाइकेल लेक्चर्स, पृष्ठ १७०।
६. कारपोरेट लाइफ, पृष्ठ ४४–४५।
७. "बहुकर्मकरैर्युक्तं निगमं तदुदाहृतम्"——मानसार, अध्याय १०, पंक्ति ८४।
८. "बहुकर्म्मकारयुक्तं यन्निगमंतत् समुदिष्टम्"——मयमतम्, अध्याय १०।
९. शिल्परत्न, अध्याय ५।

बस्ती का नाम लिया गया है, जहाँ पर एक हजार बढ़ई रहते थे।[१] इसी प्रकार एक दूसरी जातक में कारीगरों के एक बहुत बड़े पुरवे का नाम मिलता है, जिसमें उनकी संख्या एक हजार के लगभग थी।[२] इस प्रकार की बस्तियों का आविर्भाव व्यवसाय के केन्द्रीकरण के कारण हुआ होगा। शिल्पशास्त्रों का निगम से तात्पर्य कारीगरों की उन बस्तियों से है, जिन्होंने नगर का रूप धारण कर लिया था।

स्थानीय—इस शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम अर्थशास्त्र में मिलता है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि स्थानीय ८०० ग्रामों के मध्य में स्थित जनसन्निवेश था।[३] क्षीरस्वामी की टीका में भी स्थानीय को ८०० ग्रामों के बीच में स्थित नगर माना गया है।[४] कौटिल्य के ८०० ग्रामों वाले भाग से किसी बड़े राजनीतिक भाग का बोध होता है, क्योंकि उन्होंने जिन ग्रामों का उल्लेख किया है, उनकी सीमा अर्थशास्त्र में एक से लेकर दो कोस तक बताई गई है[५] तथा उनमें परिवारों की संख्या एक सौ से लेकर पाँच सौ तक बताई गई है।[६] सम्भव है कि यहाँ पर उनका सङ्केत जनपद अर्थात् जिले की ओर हो, जिनमें कई सौ ग्राम सम्मिलित होते थे। इससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि अर्थशास्त्र में स्थानीय शब्द का उल्लेख जनपद के प्रधान अधिष्ठान के रूप में हुआ है।

शिल्पशास्त्रों से भी स्पष्ट होता है कि यह एक महत्त्वपूर्ण जनसन्निवेश था। मानसार में कहा गया है कि यहाँ पर रक्षकों की एक सेना रहती थी (वहुरक्षसमायुक्तम्), जिसके कारण यहाँ के निवासी बहुत अधिक सुरक्षा एवं सुख का अनुभव करते थे (बहुसुखावहम्)[७]। मयमतम् में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि यहाँ पर बहुत से रक्षक (सबहुरक्षम्) तथा राजकीय गृह विद्यमान हुआ करते

---

१. "महावड्ढकिगामो"—जातक, ४, १५९।

२. "कम्मारगामो"—जातक, ३, २८१। यही 'कम्मारगाम' जब नगर का रूप धारण कर लेता होगा, उस समय उसे लोग 'कम्मारनगर' अर्थात् 'कर्मकारनगर' (निगम) कहने लगे होंगे।

३. "अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयम्"—अर्थशास्त्र (शामा शास्त्री), पृष्ठ ४६।

४. "तिष्ठन्त्यस्मिन्नित्यष्टशतग्रामीमध्ये स्थानीयम्"—अमरकोष (शर्मा सम्पादित), पृष्ठ ७४।

५. "क्रोशद्विक्रोशसीमानम्"—वही, पृष्ठ ४५।

६. "कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामम्"—अर्थशास्त्र (शामा शास्त्री), पृष्ठ ४५।

७. मानसार, अध्याय १०।

थे (नृपभवनयुतम्)।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में स्थानीय शब्द नगर के स्थान पर पुलिस की चौकी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। इसकी सूचना 'शिल्परत्न' से मिलती है, जिसकी तिथि सोलहवीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि राष्ट्र के सीमाप्रान्तों पर स्थानीय विद्यमान होते थे, जहाँ पर राजकीय सेना रहती थी (राजबलाविन्तम्) तथा सीमा का रक्षा-सम्बन्धी प्रमुख अधिकारी (राष्ट्रस्यान्तकपालाश्च) रहता था।[२] इससे विदित होता है कि यहाँ पर इस शब्द का अर्थ रक्षकों का स्थान है न कि नगर। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक थाना (जहाँ पुलिस की चौकी रहती है) शब्द इसी स्थानीय (जहाँ रक्षकों का स्थान हुआ करता था) शब्द का अपभ्रंश है।

खर्वट अथवा कर्वट—यह स्थानीय से छोटा जनसन्निवेश था, क्योंकि अर्थशास्त्र में स्थानीय को यदि ८०० ग्रामों वाले भाग का प्रधान अधिष्ठान कहा गया है तो खर्वट को २०० ग्रामों वाले भाग का प्रधान अधिष्ठान कहा गया है।[३] सम्भव है कि यह जनपद (जिले) के किसी (आधुनिक तहसील जैसे) भाग का प्रधान नगर रहा हो। अर्थशास्त्र में इस सन्निवेश के लिये पाठान्तर के साथ खार्वटिक तथा कार्वटिक दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।[४] विष्णुपुराण में खार्वटिक के लिये खर्वट शब्द आता है।[५] वात्स्यायन ने खर्वट को 'सज्जनाश्रय' अर्थात् सभ्य नागरिकों के निवास के अनुकूल कहा है।[६] समराङ्गण-सूत्रधार में इसे कर्वट कहा गया है तथा इस बात का निर्देश किया गया है कि इसमें नगर-तत्व अधिक होता है।[७]

शिल्पशास्त्रों में इसे प्रायः खर्वट ही कहा गया है। उनके द्वारा इसके सन्निवेश

---

१. **मयमतम्, अध्याय १०।**
२. **शिल्परत्न, अध्याय ५।**
३. **"द्विशतग्राम्या खार्वटिकम्"—अर्थशास्त्र (शास्त्री—सम्पादित), पृष्ठ ४६। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि क्षीरस्वामी ने खर्वट को ४०० ग्रामों का प्रधान केन्द्र माना है।**
"खर्वटश्चतुःशतग्रामाणां संग्रहस्थानम्"—अमरकोष (शर्मा सम्पादित), पृष्ठ ३५४।
४. **वही—पृष्ठ ४६।**
५. **विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय ६, पंक्ति ३६।**
६. **कामसूत्र, पृष्ठ ४२, सूत्र २।**
७. **"कर्वटं नगरोपमम्"—समराङ्गणसूत्रधार, पष्ठ ८६।**

पर प्रकाश पड़ता है। मानसार के अनुसार खर्वट बहुधा पर्वत के सन्निकट स्थित होता है (परितः पर्वतैर्युक्तम्) तथा उनमें प्रायः सभी जाति के लोग रहते हैं (नानाजातिगृहैर्वृतम्)।[१] मयमतम् में खर्वट की ठीक यही परिभाषा दी गई है। इस ग्रन्थ में भी खर्वट को पर्वत के समीप स्थित (पर्वतयुक्तं खर्वटम्) तथा सब प्रकार के लोगों से परिपूर्ण (सर्वजनसहितम्) कहा गया है।[२] इसमें प्रायः सभी वर्गों के निवास का कारण यही बताया जा सकता है कि पर्वत के समीप स्थित होने के कारण खर्वट को सुरक्षा का एक प्राकृतिक साधन मिल जाता था।

खेट अथवा खेटक—पाणिनि ने खेट को गर्हित नगर कहा है।[३] इसी प्रकार अमरकोष में इसे 'कुत्सित' तथा "अवद्य" नगर कहा गया है।[४] इससे विदित होता है कि खेट बहुत साधारण प्रकार का सन्निवेश था तथा इसमें सभ्य लोग नहीं रहते थे। मानसार में भी बताया गया है कि इसमें बहुधा शूद्र ही रहते थे (शूद्रालय-समन्वितम्. . खेटमुक्तं पुरातनैः)।[५] इसी प्रकार मयमतम् में भी शूद्रों की बहु-संख्या बताई गई है। (शूद्रैरधिष्ठितं. . . . . .तु तत्खेटम्)।[६] शिल्परत्न से विदित होता है कि खेट बहुधा ग्रामों के बीच वर्तमान होता था (ग्रामयोः खेटकम् मध्ये)[७]। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामों के मध्य में स्थित होने के कारण खेट में ग्रामतत्त्व का भी सम्मिश्रण रहता होगा। डॉक्टर अग्रवाल का मत है कि आधुनिक खेड़ा शब्द इसी खेट से निकला है।[८] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि पश्चिमी जिलों में खेड़ा नामक कई गाँव मिलते हैं। इससे भी यही प्रतिपादित होता है कि प्राचीन खेट (जिसका अपभ्रंश खेड़ा है) कोई महत्त्वपूर्ण सन्निवेश नहीं था। धरसेन द्वितीय के दो ताम्रपत्रों में खेटक नामक एक जनसन्निवेश का उल्लेख मिलता है। यह वेत्रवती नदी के तट पर स्थित था। इसकी एकता वात्रक नदी के तट पर वर्तमान आधुनिक 'केरा' से की जाती है।[९]

---

१. मानसार, अध्याय १०।
२. मयमतम्, अध्याय १०।
३. "चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्"—अष्टाध्यायी, ६, २, १२६।
४. अमरकोष, (शर्मा-सम्पादित), पृष्ठ २४७।
५. मानसार, अध्याय १०।
६. मयमतम्, अध्याय १०।
७. शिल्परत्न, अध्याय ५।
८. द्रष्टव्य, पाणिनिकालीन भारत, पृष्ठ ७८।
९. अल्टेकर, ऐ० सि० गु० का०, पृष्ठ १९।

अध्याय ३

युग-भेद

परिच्छेद (क) महाजनपद-काल एवं वैशाली का उत्कर्ष

महाजनपदों के काल से भारतीय नगर-जीवन के इतिहास में युगान्तर का प्रवर्तन होता है। उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला से लेकर दक्षिण में शूर्पारक तक भारत में नगर-जाल विस्तृत था। भारतीय नगर-जीवन में यह विशाल परिवर्तन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण सम्भव हुआ।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—भारतवर्ष में अब भी राजनीतिक एकता का अभाव था। देश अनेक राज्यों में विभक्त था। पालिग्रन्थों में उन्हें 'महाजनपद'[1] कहा गया है तथा उनकी संख्या सोलह बताई गई है। अङ्गुत्तर निकाय में काशी, कोशल, अङ्ग, मगध, वृज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गन्धार तथा कम्बोज आदि नामों से उनको गिनाया गया है।[2] राजकीय परिस्थितियों के कारण प्रत्येक ने अपनी राजधानी अधिकारक्षेत्र के भीतर किसी सुरक्षित तथा आवश्यकताओं के अनुकूल भाग में बनाई। उसे रक्षा के साधनों से युक्त कर राजप्रासादों, प्रधान राजभवनों एवं कार्यालयों की स्थापना के द्वारा अलङ्कृत भी किया। इस प्रकार की योजना ने खाइयों एवं दीवालों से घिरे हुए अनेक दुर्गों को जन्म दिया। कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, श्रावस्ती तथा पाटलिपुत्र आदि इस काल के प्रधान नगरों का आविर्भाव सर्वप्रथम इसी रूप में हुआ।

आर्थिक जीवन-व्यवसाय—इस काल में आर्थिक क्षेत्र में नवीन परिवर्तन हुए। उद्योग-धन्धों का प्रचार तथा विकास हुआ। कलाकारों ने सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे तथा लोहे आदि से विविध वस्तुओं का निर्माण करना सीखा।[3] विभिन्न

---

१. **अङ्गुत्तर निकाय, १, २१३।**

२. **वही—४, २५२।**

३. **जातक, ३, २८१।**
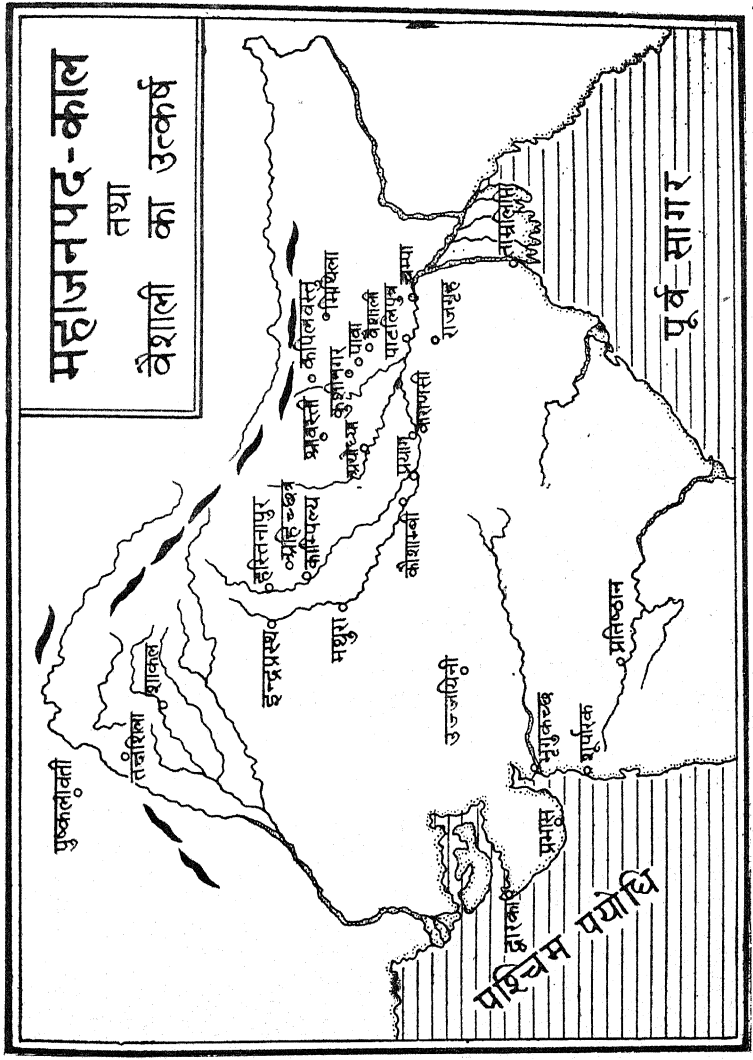
प्रकार के सुगन्धित द्रवों तथा अनुलेपों का आविष्कार हुआ।[१] कताई तथा बुनाई कार्य में तन्तुवायों ने और भी दक्षता प्राप्त की। अन्य भी कलाओं तथा शिल्पों के उन्नत दशा में होने की सूचना मिलती है। यही कारण है कि जातक बढ़ई, लोहार, स्वर्णकार, चर्मकार, कुम्हार, तेली, हाथीदाँत पर काम करने वाले, रंगरेज, जौहरी तथा चित्रकारादि अनेक प्रमुख व्यावसायिकों का नाम लेते हैं। धनुषकार, रजक, खनक तथा कम्बलकार आदि कर्मकारों के भी वर्तमान होने का उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक सुप्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ में किया है।[२] श्रम-विभाजन के भी सिद्धान्त का प्रचार हुआ तथा व्यवसाय वंशानुगत होने लगा। प्रत्येक व्यवसाय तथा शिल्प के लोग बस्ती के बहुधा एक ही भाग में सङ्गठन बना कर रहते थे। इस सङ्गठन के लिये पालिग्रंथों में 'श्रेणी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान होता था, जिसे लोग 'ज्येष्ठक' कहते थे।[३] श्रेणी के सदस्यों को समुदाय के द्वारा बनाये हुए नियम तथा व्यवस्था का सम्मान एवं पालन करना पड़ता था। शिल्पी तथा व्यावसायिक जनाकीर्ण निवास-स्थानों में ही रहते थे, क्योंकि उनकी कला का मूल्य, क्रय-विक्रय की सुविधा के कारण वहीं पर था। अल्पजन-संख्यक ग्रामों में उनके व्यवसायों का सुचारु रूप से चलना अत्यंन्त दुष्कर था। कला तथा शिल्प के इस प्रकार के विकास तथा केन्द्रीकरण ने ऐसे अनेक व्यावसायिक केन्द्रों को जन्म दिया जिन्होंने कालान्तर में शीघ्र ही सुविकसित नगरों का रूप धारण किया।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि बौद्ध-ग्रन्थों के अतिरिक्त महाभारत तथा रामायण से भी विदित होता है कि विभिन्न व्यावसायिक तथा शिल्पी इस समय सङ्गठनबद्ध थे। इस प्रकार के आर्थिक सङ्गठन को पालिग्रन्थों के समान महाभारत में भी 'श्रेणी' कहा गया है। रामायण में 'श्रेणिमुख्य' शब्द का उल्लेख मिलता है।[४] महा-भारत के लेखक ने श्रेणिमुख्यों में भेद को शत्रुविजय का मूल मन्त्र बताया है।[५]

---

१. वही—५, २८२।

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २३०।

३. जातक, २, १२८।

४. "न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणिमुख्याश्च भूषिताः"—रामायण, अयोध्या-काण्ड, अध्याय २६, पंक्ति २७।

५. अग्निदैर्ग रदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च॥—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५८, ४९।

वनपर्व में गन्धर्वों से पराजित दुर्योधन श्रेणिमुख्यों के सामने जाने में लज्जा का अनुभव करता है।[1] हरिवंश से विदित होता है कि राज्य के बड़े-बड़े उत्सवों में 'श्रेणी' के अध्यक्षों को उच्च पदाधिकारियों की पंक्ति में स्थान दिया जाता था।[2] शान्ति-पर्व में 'श्रेणिधर्म' के उल्लङ्घन करने वाले को जघन्य अपराध का भागी ठहराया गया है।[3] प्राचीन महाकाव्यों में तत्कालीन भारतीय नगरों को व्यवसाय का केन्द्रविन्दु कहा गया है। महाभारत के अनुसार हस्तिनापुर में नाना प्रकार के शिल्पी रहते थे (सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायभ्यागमस्तदा---महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ७६)। रामायण के अनुसार अयोध्या में सम्पूर्ण प्रकार के शिल्पी रहते थे (सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः---रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति ३०)।

व्यापार---बौद्ध-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शिल्पियों की निपुणता तथा व्यावसायिक केन्द्रीकरण ने अन्तःप्रान्तीय व्यापार के विकास को सरल किया। व्यापारी, वस्तुओं को उत्पादन-केन्द्रों से एकत्र करते थे तथा धनलाभ के निमित्त उन्हें सुदूर भागों में विक्रय के निमित्त भेजते थे। मार्गों में चोर तथा डाकुओं के भय के कारण इस प्रकार का व्यापार अकेले ही करना अत्यन्त दुष्कर था, अतएव सहभागिता के सिद्धान्त पर वे सङ्घ बनाते थे तथा वस्तुओं के विक्रय के निमित्त सहस्रों गाड़ियों में भर कर बड़ी व्यापार-मण्डली के साथ ही बाहर भेजते थे। व्यापार-पद्धति में इस परिवर्तन के कारण व्यक्ति-विशेष के हाथ में अतुल धनराशि का सञ्चय होने लगा, जिससे 'श्रेष्ठि' नामक व्यापारिक मुखियों तथा नेताओं की उत्पत्ति हुई। इनके कोष में ८० करोड़ तक मुद्राओं के वर्तमान रहने का उल्लेख मिलता है।[4] देशमध्यस्थ वाणिज्य के साथ सामुद्रिक व्यापार का भी विकास हुआ। जलपोत-निर्माण इस काल का प्रिय व्यवसाय बनने लगा। अधिक संख्या में यात्रियों के

श्रेणिमुख्योपजापेषु बल्लभानुनयेषु च।
अमात्यान् परिरक्षेत् भेदसंघातयोरपि। ---वही, शान्पितर्व, अध्याय १४१, ६४।

१. महाभारत, वन पर्व, अध्याय २४८, १६।

२. हरिवंश, अध्याय ८६, श्लोक ५।

३. जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्माश्च सर्व्वतः।
वर्ज्जयन्ति च धर्म्मं तेषां धर्मो न विद्यते। ---महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २५, १९।

४. जातक, ४, १२८।

बैठने तथा व्यापारिक वस्तुओं के रखने की सुविधा के दृष्टिकोण से लोग बड़े जहाजों का निर्माण करते थे। समुद्रतट पर उनके रुकने तथा माल को लादने एवं उतारने की आवश्यकता के प्रश्न ने बन्दरगाहों को जन्म दिया, जिन्हें 'पत्तन' तथा 'पत्तनगाम' की संज्ञा दी गई। भृगुकच्छ, शूर्पारक, रोरुक तथा ताम्रलिप्ति आदि समुद्रतट पर स्थित व्यापारिक नगरों के उद्गम का यही कारण था।

महाभारत एवं रामायण से भी ज्ञात होता है कि इस काल में व्यापार एवं वाणिज्य का सन्तोषजनक विकास हो रहा था। व्यापार के क्षेत्र में प्रादेशिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं। आसाम घोड़े एवं हाथीदाँत के लिए विख्यात था। मगध पच्चीकारी के साज, चारपाइयों, रथों एवं यानों के निर्माण का प्रतिष्ठित केन्द्र था। वङ्ग तथा कलिङ्ग देश कपड़ों तथा अच्छी राशि के हाथियों के लिये प्रख्यात थे।[१] कम्बोज तेज घोड़ों, खच्चरों, ऊँटों, कपड़ों तथा खालों के लिये प्रसिद्ध था।[२] महाभारत के अनुसार इस समय के नगर वाणिज्य के प्रतिष्ठित केन्द्र थे। इसमें वर्णन मिलता है कि नाना दिशाओं के वणिक् धनप्राप्ति की इच्छा से इन्द्रप्रस्थ आते थे।[३] रामायण में अयोध्या की व्यापारिक समितियों को 'निगम' कहा गया है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर निगमों के प्रतिनिधि राजसभा में आमन्त्रित किये जाते थे।[४]

मुद्राएँ——इस काल में मुद्रा को क्रय-विक्रय का साधन बनाया जा चुका था। महाभारत में निष्क तथा सुवर्ण आदि मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। द्यूत-क्रीड़ा के अवसर पर युधिष्ठिर राजकोष की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि मेरे अक्षय-भण्डार में चिह्नों से अङ्कित सहस्र सुवर्ण मुद्राओं की सौ पेटियाँ भरी हैं।[५] सभा-पर्व में युधिष्ठिर एक स्थान पर कहते हैं कि मेरे यहाँ ताँबे के पात्रों में आहत स्वर्ण

---

१. सार्थवाह, पृष्ठ ६८।

२. वही——पृष्ठ ६७।

३. "वणिजश्चाययुस्तत्र देशे दिग्भ्यो धनार्थिनः"——महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ७५।

४. "पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह"——रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय १४, पंक्ति ८०।

५. इमे निष्कसहस्रस्य कुण्डिनो भरिताः शतम्।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः॥

——महाभारत, सभा पर्व, अध्याय ५४, ८

से भरी हुई चार सौ निधियाँ पड़ी हैं। इनमें से प्रत्येक सुवर्ण की तौल पाँच द्रोण के बराबर है।[१]

पालिग्रन्थों में सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्कों के पर्याप्त उल्लेख मिलने लगते हैं। सुवर्ण मुद्रा के लिए 'निष्क',[२] 'सुवर्ण',[३] 'सुवर्णमासक',[४] तथा 'हिरण्य'[५] आदि शब्दों का प्रयोग इसमें प्रचुर मात्रा में हुआ है। ताँबे के सिक्कों को 'कार्षापण'[६] कहा जाता था तथा उनका प्रचार विशेष रूप में था। अष्टाध्यायी में भी निष्क, सुवर्ण, सुवर्ण-मासक, शतमान, शाण तथा कार्षापण आदि मुद्राओं का उल्लेख मिलता है।[७]

कला—कला के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। लकड़ी पर सुन्दर काम करने वाले बढ़ई (वर्धकि),[८] थवई (स्थपित),[९] तक्षक[१०] तथा चित्रकार[११] का उल्लेख मिलता है। सभ्यता के अन्य क्षेत्रों के समान सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ। समाज में एक नवीन वर्ग की उत्पत्ति हुई, जिसकी जीविका का साधन पूर्ण रूप से व्यापार तथा व्यवसायमात्र था। दासप्रथा, सङ्कीर्णता तथा जटिलता का रूप धारण कर रही थी। 'दासी-पुत्र',[१२] दण्ड-दास[१३] तथा 'ध्वजाहृत'[१४] आदि विभिन्न

---

१. ताम्रलोहैः परिवृता निधयो मे चतुःशता।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै।
—महाभारत सभापर्व, अध्याय ५४, २८

२. जातक, ४, ४६०।

३. वही, ६, ६९।

४. वही, ४, १०६।

५. वही, ५, १६४।

६. वही, १, ७।

७. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २५८–२६६।

८. जातक, २, १८।

९. स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा॥
—महाभारत, १, ५१, १५

१०. जातक, १, ४७८।

११. वही—२, १५१।

१२. वही—पृष्ठ १, ४५२।

१३. वही—६, २८५।

१४. जातक, ३, १४७।
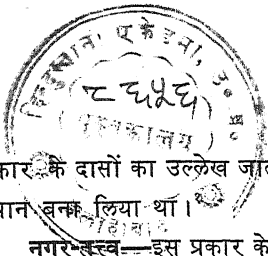
प्रकार के दासों का उल्लेख जातकों में मिलता है। गणिकाओं ने भी समाज में स्थान बना लिया था।[1]

नगर-तत्त्व—इस प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण में जिन नगर-तत्त्वों का आविर्भाव हुआ, उसका निरूपण शान्तिपर्व के ८७वें अध्याय में मिलता है। युधिष्ठिर के द्वारा आदर्श नगर की परिभाषा तथा लक्षणों के पूछने पर[2] भीष्म कहते हैं कि नगर छह प्रकार के होते हैं—(१) धन्व दुर्ग, (२) महीदुर्ग, (३) गिरिदुर्ग, (४) मनुष्य दुर्ग, (५) मृद्दुर्ग तथा (६) वनदुर्ग। वे सुदृढ़ प्राकार एवं परिखाओं से युक्त होते हैं (दृढ़प्राकारपरिखं), उनमें हाथी, घोड़े, अश्व एवं रथ बहुलता के साथ मिलते हैं (हत्यश्वरथसंकुलम्), उनमें विद्वान्, धार्मिक एवं शिल्पी आदि रहते हैं,[3] उनका वातावरण उत्सव आदि के मनाने के कारण प्रफुल्लित रहता है (समाजोत्सवसम्पन्नम्), उनमें भाण्डागार एवं आयुधागार बने होते हैं (भाण्डागारायुधागारम्) तथा वहाँ पर आचार्य, पुरोहित, स्थपति, चिकित्सक, प्राज्ञ, मेधावी, दक्ष, शूर, बहुश्रुत, कुलीन एवं सत्वसम्पन्न व्यक्ति रहते हैं।[4]

नगर-सूची—इस काल के नगरों में वाराणसी, राजगृह, कौशाम्बी, श्रावस्ती, उज्जयिनी, तक्षशिला, साकेत, वैशाली, कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर, भृगुकच्छ, शूर्पारक, काम्पिल्य, मथुरा, मिथिला, रोरुक, शाकल, पुष्कलावती, पाटल, मिन्न-नगर, द्वारका, इन्द्रप्रस्थ, ताम्रलिप्ति, दन्तपुर, विदिशा तथा पाटलिपुत्र आदि उल्लेखनीय हैं। पालि-साहित्य में वाराणसी, राजगृह, चम्पा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, साकेत, वैशाली तथा पाटलिपुत्र को इस समय का प्रधान नगर बताया गया है। उज्जयिनी

---

१. जातक ३, ६०।

२. कथं विधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह॥—महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ८७, १।

३. विद्वांसः शिल्पनो यत्र निचयाश्चसुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तमास्थिताः॥—वही, शान्ति पर्व, अध्याय ८७, ७।

४. सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यर्त्विक्पुरोहिताः।
महेश्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः॥
प्राज्ञामेधाविनो दान्ता दक्षाः शूराः बहुश्रुताः।
कुलीनाः सत्वसम्पन्नाः युक्ताः सर्वेषु कर्मसु॥—वही, शान्ति पर्व, अध्याय, ८७, १६–१७।

तक्षशिला, कपिलवस्तु, पावा, काम्पिल्य, मथुरा, मिथिला, पुष्कलावती तथा ताम्रलिप्ति की भी ख्याति इस समय के नगरों में विशेष रूप से थी।

सामान्य परिचय—बौद्ध-ग्रन्थों में **वाराणसी** को काशी जनपद की राजधानी कहा गया है। आनन्द ने इसकी प्रधानता के कारण ही इसे गौतम बुद्ध के 'परिनिब्बान' के योग्य बताया था। यह नगर गहरी खाई तथा ऊँची दीवाल के द्वारा चारो ओर से घिरा हुआ था। नगर की दीवाल में दरवाजे बने हुए थे, जो सुरक्षा की दृष्टि से रात्रि को बन्द कर दिये जाते थे।[1] यह नगर इस समय शिल्प एवं व्यवसाय का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। यहाँ पर पतले एवं चिकने मलमल बनाये जाते थे, जो अत्यन्त लोकप्रिय थे।[2] बौद्धग्रन्थों में **राजगृह** की महत्ता का निर्देश मिलता है। इनमें इस नगर को चम्पा, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी आदि प्रधान नगरों की समकक्षता में ठहराया गया है। इसमें नाना उपवन एवं उद्यान सुशोभित थे। पालिग्रंथों में वेलुवन नामक प्रसिद्ध नगर-उद्यान का उल्लेख मिलता है। मगध-नरेश बिम्बिसार ने इसे भिक्षुसङ्घ को दान में दिया था। इस नगर की छटा जलाशयों की शोभा के कारण द्विगुणित हो उठती थी।[3] इस काल के नगर-जीवन की एक प्रमुख विशेषता वैभव एवं समृद्धि के क्षेत्र में **वैशाली** की प्रधानता थी। यहाँ पर लिच्छवियों की राजधानी वर्तमान् थी। गौतम बुद्ध के समय में यह नगर अपने अभ्युदय की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। जातकों के अनुसार इस नगर में अगणित विशाल भवन, केलिवन तथा कमलतड़ाग बने हुए थे। सुरक्षा की दृष्टि से यह नगर परिखा एवं प्राकार के द्वारा परिवेष्ठित था। नगर-वेश्या अम्बपालिका की कीर्ति उसके सौन्दर्य एवं वैभव के कारण लिच्छवियों के गणराज्य में सर्वव्यापिनी थी।[4]

कपिलवस्तु में शाक्य-गणराज्य की राजधानी वर्तमान थी। इस नगर की दीवाल १८ हाथ ऊँची थी। सम्बोधि के उपरान्त गौतम बुद्ध इस नगर में कई बार आये थे। शाक्यों ने उनके विश्राम की सुविधा के निमित्त निग्रोधाराम नामक मठ का निर्माण किया था।[5] कपिलवस्तु की समकक्षता में मल्लों का पावा नामक नगर आता था। पालिग्रन्थों में इस नगर का वर्णन भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध

---

१. जातक, १, ९८।
२. जातक संख्या, ५४०।
३. रिज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३७।
४. मललसेकर, २, ९४१।
५. वही—१, ५१८।

केन्द्र के रूप में आता है। गौतम बुद्ध धर्म-प्रचार के उद्देश्य से इस नगर में कई बार आ चुके थे। यह बौद्धों, जैनों तथा निर्ग्रन्थों का निवासस्थान था।[1] **कुशीनगर** में मल्लों की एक दूसरी शाखा की राजधानी थी। गौतम बुद्ध को यह नगर अत्यन्त प्रिय था। उनका निर्वाण यहीं पर हुआ था। इसके अनन्तर यह बौद्धों का तीर्थ-स्थान बन गया। इस नगर का सम्बन्ध उत्तरी भारत के व्यापारिक मार्गों के साथ था।[2]

चम्पा की भी गणना इस काल के प्रसिद्ध नगरों में की जाती थी। यहाँ पर अङ्ग की राजधानी थी। आनन्द ने गौतम के 'परिनिब्बान' के उपयुक्त नगरों में इसकी भी गणना की थी। जातकों के अनुसार यह नगर खाइयों तथा शिखरयुक्त प्राकारों के द्वारा परिवेष्टित था।[3] गौतम बुद्ध इस नगर में अनेक बार आ चुके थे। यह नगर वाणिज्य का भी एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी सुवर्ण-भूमि तक व्यापार के निमित्त जाया करते थे। इस काल में **पाटलिपुत्र** की भी स्थापना हो चुकी थी। प्रारम्भिक पालिसाहित्य में इसका नाम पाटलिग्राम दिया गया है। लिच्छवियों के विनाश की तैयारी में अजातशत्रु ने कूटनीतिज्ञ सुनीध तथा वस्सकार नामक मन्त्रियों की सहायता से इसका निर्माण गङ्गा एवं सोन नदियों के सङ्गम पर एक विशाल दुर्ग के रूप में किया था। **मिथिला** में विदेह गणराज्य की राजधानी वर्तमान थी। महाउम्मग जातक के अनुसार इस नगर के चतुर्दिक तीन परिखाएँ विद्यमान थीं—जलपरिखा, पङ्कपरिखा एवं रिक्तपरिखा। इसके अनुसार इसमें सुन्दर राजमार्ग, उपवन एवं सरोवर विद्यमान थे।[4] **ताम्रलिप्ति** का नगर पूर्वी भारत का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था। कलिङ्गराजधानी **दन्तपुर** के उत्कर्ष की क्रिया इस समय प्रारम्भ हो चुकी थी। विद्वानों का मत है कि गौतम बुद्ध के दाँत के यहीं पर सुरक्षित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा।

कौशाम्बी भी इस काल का एक सुप्रसिद्ध नगर था। वत्सों की राजधानी होने के कारण भारतवर्ष में इस नगर की कीर्ति सर्वव्यापिनी थी। यमुना के तट पर स्थित होने के कारण यहाँ पर वाणिज्य का महान् विकास हुआ। जलमार्ग के द्वारा अनेक नगरों के साथ इसका व्यापारिक सम्बन्ध था। अनेक स्थलमार्ग भी इससे होकर जाते थे, जिसके कारण वाणिज्यविषयक विकास में इस नगर को

---

१. मललसेकर २, १९४।
२. वही, १, ६५३।
३. जातक, ६, ३२।
४. वही, ३, ३६५।

सहयोग उपलब्ध हुआ।[1] इस नगर में अनेक लक्षपति व्यापारी रहते थे, उदाहरणार्थ, कुक्कुट, घोषित तथा पावरिक। **श्रावस्ती** का नगर भी इस काल में वैभवशाली नगर समझा जाने लगा था। गौतम बुद्ध के समय में यहाँ पर प्रसेनजित की राजधानी थी। पालि ग्रन्थों के अनुसार उत्कर्ष के दिनों में यह नगर वाणिज्य का केन्द्र माना जाता था। यह अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित तथा तत्कालीन सुप्रसिद्ध नगरों के बीच वर्तमान था। यहाँ के व्यापारियों में अनाथपिण्डक सबसे प्रसिद्ध था। उसने जेतवन नामक विहार भिक्षु-सङ्घ को दान में देकर अमर यश कमाया।

श्रावस्ती के अतिरिक्त **साकेत** भी कोसल का प्रसिद्ध नगर माना जाता था। सुप्रसिद्ध वाणिज्य-केन्द्र होने के कारण समकालीन नगरों के साथ इसका घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। धर्म-प्रचार के उद्देश्य से गौतम बुद्ध इस नगर में कई बार आ चुके थे। इसकी सीमा पर कालकाराम नामक विश्रामगृह बना हुआ था। यहाँ पर कालक नामक एक व्यापारी रहता था, जिसकी पुत्री चुल्लसुभद्द गौतम बुद्ध में असीम भक्ति रखती थी।[2] **काम्पिल्य** नामक नगर गङ्गा के उत्तरी तट पर बसा हुआ था। यहाँ पर पाञ्चालों की राजधानी थी। यमुना के तट पर स्थित **मथुरा** शूरसेनों की राजधानी थी। इसके शासक का नाम पालि ग्रन्थों में अवन्तिपुत्तो बताया गया है। यह इस बात का द्योतक है कि वह अवन्ति-राजवंश से सम्बन्धित था। बुद्ध के धर्म-प्रचार का मथुरा भी एक केन्द्र था। उनके उपदेशों से प्रभावित होने के कारण यहाँ के नागरिक विशेष संख्या में उनके अनुयायी बन गये थे।[3]

पुष्कलावती नामक नगर का भी उल्लेख पालि ग्रन्थों में यत्रतत्र मिलता है। वह पश्चिमी गन्धार का प्रधान नगर था। रामायण के अनुसार इसकी स्थापना भरत ने की थी। उन्होंने अपने पुत्र पुष्क के नाम पर इसका नाम रखा था।[4] **तक्षशिला** पूर्वी गन्धार का प्रधान नगर था। यह नगर एक विशिष्ट वाणिज्य-केन्द्र था। इस नगर की प्रधानता का कारण सुप्रसिद्ध व्यापारिक मार्गों पर इसकी स्थिति थी। शिक्षा के केन्द्र के रूप में भी यह भारतवर्ष के सुदूर भागों में विख्यात

---

१. रिज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३६।
२. मललसेकर, २, १०८६।
३. रिज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३५।
४. रामायण, ७, ११४, २०१।

पाटलिपुत्र का ऐश्वर्य - युग
पुष्कलावती
पुरुषपुर
प्रवरपुर
तक्षशिला
शाकल
कनिष्कपुर
सिकन्दरिया
हस्तिनापुर
अहिच्छत्र
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
पावा
कुशीनगर
मथुरा
कान्यकुब्ज
अयोध्या
वैशाली
पद्मावती
पाटलिपुत्र
चम्पा
दशपुर
इन्द्रपुर
राजगृह
विदिशा
उज्जयिनी
नवनगर
द्वारका
वलभी
गिरिनगर
माहिष्मती
भृगुकच्छ
श्रीपुर
दंतपुर
प्रभास
शूर्पारक
नासिक
प्रतिष्ठान
कल्याण
कलिंगनगर
नौरा
टिण्डिज
सुवर्णगिरि
र त्ना क र
मसुलीपट्टण
म हो द धि
नेल्लोर
मुजिरिस
(अ र ब सा ग र)
(बं गा ल की खा ड़ी)
कांची
सोपत्मा
कावेरीपत्तन (कावेरीपट्टिनम्)
बलित
पोदका
मदुरा
कौमारी
सिंहल
भा र ती य म हा सा ग र
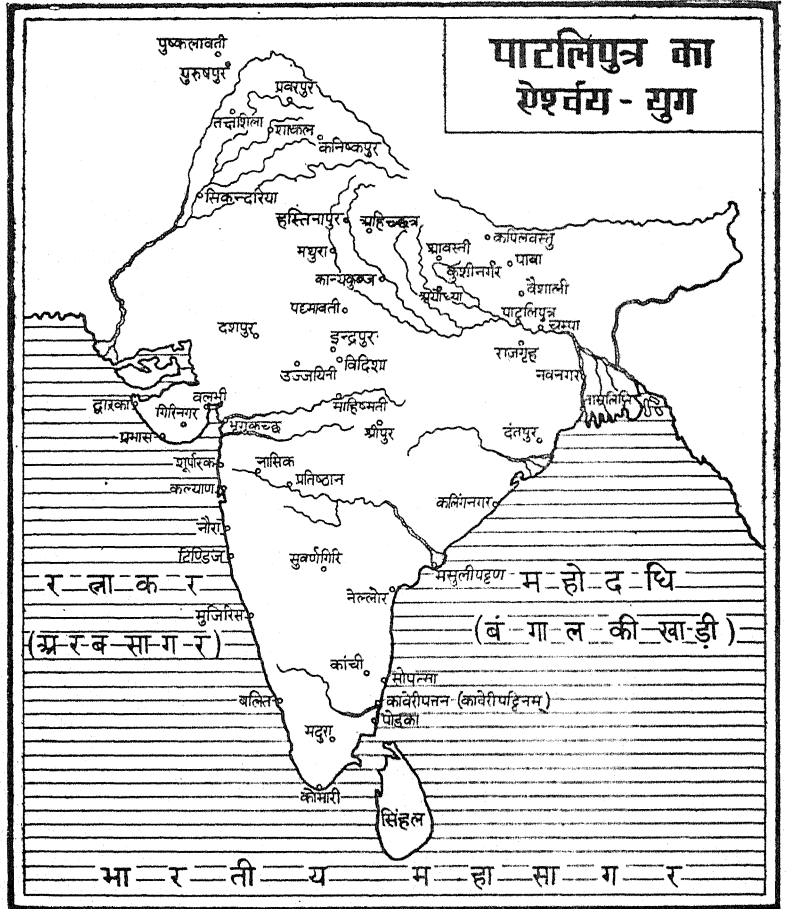
था। जातकों के अनुसार देश के प्रत्येक कोने से विद्यार्थी यहाँ अध्ययनार्थ एकत्र होते थे।[1]

अवन्ति राज्य की राजधानी होने के कारण सुप्रसिद्ध प्राचीन भारतीय नगर **उज्जयिनी** की विकासोन्मुखी क्रिया इस काल में प्रारम्भ हो चुकी थी। तत्कालीन सुप्रसिद्ध नगरों के साथ इसका घनिष्ठ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था।[2] **भृगुकच्छ** पश्चिमी समुद्रतट का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था। जातकों में इसे भरुकच्छ कहा गया है। **शूर्पारक** (सोपारा) की महत्ता वाणिज्य के क्षेत्र में थी। यह भी पश्चिमी समुद्रतट का विशिष्ट बन्दरगाह माना जाता था। इसका समकालीन समकक्ष नगर **रोरुक** था। जातकों में इसे सौवीर की राजधानी बताई गई है तथा कच्छ की खाड़ी के दाहिने तट पर स्थित बताया गया है।[3]

पालि साहित्य में **शाकल** को मद्रों की राजधानी बताई गई है।[4] इसके पहले महाभारत-काल में यहाँ मद्र-राज शाल्य की राजधानी थी।[5] **गया** की महत्ता केवल धार्मिक क्षेत्र में थी। महाभारत में इसे एक धार्मिक केन्द्र के रूप में चित्रित किया गया है।[6] इस समय **पातानप्रस्थ (पाटल)** नगर क्रमशः विकासोन्मुख होने लगा था। द्वारका का सुन्दर वर्णन महाभारत की पंक्तियों में मिलता है। समुद्र-तट पर स्थित होने के कारण इसकी शोभा इन्द्रपुरी का स्मरण दिलाती थी (भूषयन्ती समुद्रं सा स्वर्गमिन्द्रपुरी यथा)।[7]

परिच्छेद (ख):—पाटलिपुत्र का ऐश्वर्य-युग

पाटलिपुत्र की प्रधानता—पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर छठी शताब्दी

---

१. मललसेकर, १, ९८२।

२. कनिंघम, एँशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ १३३।

३. जातक, २, ४७०।

४. वही, ४, २३०।

५. महाभारत, ३, ३२।

६. "ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत॥
तत्र चाक्षय्यवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते।"—महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८२, श्लोक ८१–८२।

७. हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति ५७।

ईसवी के पूर्वार्द्ध तक के काल को नगर-जीवन के क्षेत्र में पाटलिपुत्र का ऐश्वर्य-युग कहा जा सकता है। इस दीर्घ अवधि में इसे अनेक भारतीय राजवंशों की राजधानी बनने का गौरव उपलब्ध हुआ। राजनीतिक कारण के अतिरिक्त इस नगर के बौद्धिक तथा वाणिज्य-विषयक विकास की गणना इसके उत्थान के अन्य कारणों में की जा सकती है।

मौर्य-नरेशों के काल में इस नगर की समृद्धि का विशेष विकास हुआ। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र को भारतवर्ष का प्रधान नगर उल्लिखित किया है। उसके अनुसार यह एक उच्च प्राकार तथा गहरी परिखा के द्वारा परिवेष्टित था। वह लिखता है कि मौर्यों का राजप्रासाद सूसा एवं एकबतना में निर्मित पारसीक महलों से अधिक भव्य था।[१] शुङ्गों के काल में भी यहाँ मगध-साम्राज्य की राजधानी वर्तमान थी। पतञ्जलि ने महाभाष्य में पाटलिपुत्र के प्रासादों (पाटलिपुत्रकाः प्रासादाः) तथा प्राकारों (पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः) का उल्लेख किया है।[२] इस नगर का वैभव गुप्त-नरेशों के काल में अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। फाहियान के आगमन के समय यहाँ मौर्यों का राजप्रासाद वर्तमान था। वह उसे देख कर आश्चर्यचकित हो उठा। उसे ऐसा आभास हुआ कि उस विशाल भवन का निर्माण देवों ने किया था, मनुष्य ने नहीं। उसके अनुसार पाटलिपुत्र मध्य देश का सबसे श्रेष्ठ नगर था।[३] दण्डी ने दशकुमारचरित में इसको मगध का सर्वोत्तम पुर (मगधदेशशेखरीभूता) तथा समस्त नगरों की महत्ता की पहचान की कसौटी (समस्तनगरीनिकषायमाणा) माना है।[४]

पाटलिपुत्र के इस ऐश्वर्य-युग में भारत-भूमि पर नगर-जाल विस्तृत था। इसकी सूचना विदेशी यात्रियों के लेखों से मिलती है। मेगस्थनीज के अनुसार उसके आगमन के अवसर पर भारतवर्ष में संख्यातीत नगर विद्यमान थे।[५] अन्य यूनानी लेखकों के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय केवल उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में ही नाना नगर विद्यमान थे।[६]

सामान्य नगर-परिचय—उत्तर-पूर्व भारत के नगरों में पाटलिपुत्र के पश्चात्

---

१. एरियन, इण्डिका १०।
२. महाभाष्य, २, ३२१ (कीलहार्न)।
३. गाइल्स, पृष्ठ ५८।
४. दशकुमारचरित, पृष्ठ १।
५. एरियन, इण्डिका १०।
६. प्लिनी, ६, १७।

मथुरा सर्वप्रधान नगर था। ललितविस्तर में इसे ऐश्वर्य-युक्त (ऋद्धा), विशाल (स्फीता), मङ्गलमय (क्षेमा) तथा बहुत से मनुष्यों से परिपूर्ण (चाकीर्णबहुजन-मनुष्या) कहा गया है।[1] पतञ्जलि ने मथुरा के निवासियों को साङ्काश्य तथा पाटलिपुत्र के निवासियों से अधिक सुन्दर (अभिरूपतराः) उल्लिखित किया है।[2] चीनी यात्री फाहियान ने मथुरा की जनसंख्या, सभ्यता एवं समृद्धि की अत्यन्त प्रशंसा की है।[3]

उत्तर-पूर्व भारत के सुप्रसिद्ध नगरों में **कौशाम्बी, वैशाली, अहिच्छत्र, काम्पिल्य, मिथिला, वाराणसी, हस्तिनापुर, साङ्काश्य, ताम्रलिप्ति, कान्तिपुरी तथा नालन्दा** की भी गणना की जा सकती है। इस काल के साहित्य में **कौशाम्बी** का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। स्वप्नवासवदत्त, ललितविस्तर, प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा मेघदूत आदि ग्रन्थ उदयन की कथा एवं उसकी राजधानी (कौशाम्बी) में बौद्ध धर्म के प्रचार पर प्रकाश डालते हैं। मौर्यों के शासन-काल में यह नगर सुप्रसिद्ध राजनीतिक तथा व्यापारिक केन्द्र था। इस महत्ता के कारण ही अशोक ने कौशाम्बी में स्तम्भ-लेखों को उत्कीर्ण किया था।

कौशाम्बी के समान वैशाली का नगर भी सुप्रसिद्ध राजनीतिक केन्द्र था। अनेक शताब्दियों की इस कालावधि में **वैशाली** को तीरभुक्ति प्रान्त की राजधानी बनने का सुअवसर उपलब्ध हुआ। इस स्थान से गुप्त वंश के अनेक सिक्के तथा उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुए हैं, जो कि इसके एक प्रसिद्ध केन्द्र होने की ओर सङ्केत करते हैं। फाहियान ने अपने यात्रा-विवरण में इस नगर का उल्लेख किया है।[4]

अहिच्छत्र एवं **काम्पिल्य** की बौद्धकालीन प्रतिष्ठा इस समय वर्तमान थी। पतञ्जलि ने इन नगरों का उल्लेख प्रसिद्ध स्थलों के रूप में किया है।[5] भास के नाटकों में भी काम्पिल्य का नामोल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। गुप्तों के आविर्भाव-काल में अहिच्छत्र राजनीतिक केन्द्र था। समुद्रगुप्त के समय में यहाँ पर अच्युत नामक नरेश शासन करता था। कालान्तर में सम्भवतः इन नगरों की प्रतिष्ठा विलुप्त हो गई, क्योंकि उत्तरकालीन साहित्य में उनका नाम नहीं मिलता।

---

१. ललितविस्तर, अध्याय ३।

२. महाभाष्य, २, ४१६।

३. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ४२।

४. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ३६।

५. महाभाष्य, २, २४३।

ललितविस्तर में **मिथिला** को अतीव रमणीया (इयं मिथिला नगरी अतीव रमणीया)[१] तथा **हस्तिनापुर** को महानगर (हस्तिनापुरे महानगरे)[२] कहा गया है। **साङ्काश्य** के नागरिकों की तुलना पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र के निवासियों से की है।[३] इससे स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र के समान साङ्काश्य भी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था। फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि इस नगर में अनेक मठ तथा विहार बने हुए थे।[४]

वाराणसी को पूर्व-काल की भाँति राज्य-अधिष्ठान बनने का सुअवसर उपलब्ध नहीं हुआ। मौर्य-काल में इसकी ख्याति प्रधानतः सारनाथ के कारण थी। यहाँ के मठों में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं की संख्या अनेक थी। लगता है कि अशोक के काल में सारनाथ के भिक्षु-सङ्घ में आन्तरिक वैमनस्य था। सारनाथ के लेख से ज्ञात होता है कि इस भेद को रोकने के निमित्त अशोक ने महान् प्रयत्न किया।[५] **ताम्रलिप्ति** का नगर इस समय भी पूर्वी समुद्रतट का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। फाहियान ने यहीं पर जहाज में बैठ कर स्वदेश के लिये प्रस्थान किया था।[६] **नालन्दा** के विश्वविद्यालय की स्थापना इस समय हो चुकी थी। विद्वानों का मत है कि कुमारगुप्त प्रथम इस सुविशाल महाविहार के जन्मदाता थे। य्वान् च्वाङ्ग के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस सम्राट के उत्तराधिकारियों ने इसके विकास में विशेष सहयोग दिया था, उदाहरणार्थ बुधगुप्त, बालादित्य एवं वज्र।

उत्तर-पूर्व भारत के अन्य नगरों में **कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर, प्रयाग, गया, अयोध्या, चम्पा तथा कान्यकुब्ज** की गणना की जा सकती है। कपिलवस्तु, पावा तथा कुशीनगर का पूर्व रूप विलीन हो चुका था। शाक्यों एवं मल्लों के अधःपतन के साथ इन तीनों नगरों का विनाश प्रारम्भ हो गया। गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण कालान्तर में बौद्ध धर्म के क्षेत्र में ही इनकी प्रतिष्ठा वर्तमान थी। फाहियान ने इनके पूर्व ऐश्वर्य के अवसाद का उल्लेख किया है।[७] **साकेत का विनाश बाह्य आक्रमणकारियों की देन थी।** पतञ्जलि ने यवनोंके द्वारा साकेत

---

१. ललितविस्तर, अध्याय ३।

२. वही, अध्याय ३।

३. महाभाष्य, १, २७३।

४. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १००।

५. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ७५।

६. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १००।

७. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ३३।

एवं माध्यमिका के अवरोध का उल्लेख किया है ('अरुणद्यवनः साकेतम्', 'अरुण-द्यवनः माध्यमिकाम्')।[1] कान्यकुब्ज इस काल का एक गौण नगर था। फाहियान ने गङ्गा के तट पर इसकी स्थिति का निर्देश किया है। उसके वर्णन से विदित होता है कि यहाँ के नागरिकों की संख्या अत्यल्प थी।[2] राजगृह के विनाश का कारण पाटलिपुत्र नगर का निर्माण था। मगध-नरेशों ने पाटलिपुत्र के विकास के लिये अनवरत प्रयास किया, जिससे राजगृह की राजनीतिक महत्ता नष्ट हो गई थी। फाहियान के यात्राविवरण में यह नगर एक निर्जन तथा विविक्त स्थान के रूप में वर्णित है।[3] **प्रयाग** की गणना मोक्षदायिका पुरी के रूप में होती थी।[4] **गया**[5] तथा **चम्पा**[6] की प्रसिद्धि धार्मिक केन्द्र के रूप में अधिक थी।

पश्चिम भारत के नगरों में **उज्जयिनी** की प्रधानता थी। मौर्यों के काल में यह भुक्ति-अधिष्ठान (प्रान्तीय राजधानी) के रूप में वर्तमान था।[7] प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व (विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य के राज्यकाल) में इसे पुनः राजधानी बनने का सुअवसर उपलब्ध हुआ। कतिपय विद्वानों का मत है कि कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास का आविर्भाव-काल यही था तथा उपर्युक्त नरेश उनके आश्रयदाता थे। इस नगरी के वैभव एवं सम्पत्ति पर मुग्ध होकर उन्होंने इसे स्वर्ग का एक चमकता हुआ टुकड़ा कहा है (दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्)।[8] पेरिप्लस ने इसे एक महान् व्यावसायिक तथा व्यापारिक नगर के रूप में चित्रित किया है।[9] मृच्छकटिक में उज्जयिनी के ऐश्वर्ययुक्त प्रासादों का वर्णन मिलता है।[10]

सौराष्ट्र में स्थित **गिरिनगर** की ख्याति भी इस समय एक प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में स्थापित हो चुकी थी। रैवतक गिरि के समीप स्थित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। मौर्यों के समय में यहाँ सौराष्ट्र-प्रान्त की राजधानी थी। चन्द्रगुप्त

---

१. महाभाष्य, २, ११९।
२. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ५३।
३. लेग्गे, वही, पृष्ठ ८०।
४. रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ५८।
५. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ८७।
६. लेग्गे, वही, पृष्ठ १००।
७. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ४४।
८. (पूर्व) मेघदूत, ३०।
९. पेरिप्लस, पृष्ठ १११।
१०. मृच्छकटिक, अङ्क ४।

मौर्य के काल में पुष्यगुप्त तथा अशोक के काल में यवनराज तुषास्फ यहाँ राज्यपाल के रूप में रहते थे। स्कन्दगुप्त के सिंहासनारोहण के समय यहाँ पर्णदत्त नामक व्यक्ति राज्यपाल था। पाटलिपुत्र-काल के द्वितीयार्द्ध में मालवा का दशपुर नामक नगर सहसा अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया था। मन्दसोर की प्रशस्ति के अनुसार यहाँ पर सुन्दर सरोवर तथा वाटिकाएँ सुशोभित थीं। यहाँ के भवन कई मञ्जिलों से युक्त थे। कुमारगुप्त प्रथम के काल में यहाँ विश्ववर्मा नामक व्यक्ति राज्यपाल था। यहाँ पर जुलाहों की एक समिति थी, जिसके सदस्य कपड़ा बुनने के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। वे कताई और बुनाई के कार्य के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्याओं में भी पारङ्गत थे। इनमें से कतिपय धनुर्विद्या में निपुण, कतिपय कलाविद एवं कतिपय धार्मिक कर्तव्यों के बताने एवं हितकारी वचन कहने में समर्थ थे।[1]

इस काल के द्वितीय भाग में **वलभी** का भी आविर्भाव हो चुका था। इसकी स्थापना का श्रेय भटार्क नामक व्यक्ति को है। इस काल के पश्चात् इस नगर की विकासोन्मुखी क्रिया वेगवती होती है। पतञ्जलि के अनुसार उज्जयिनी-नागरिक एक दिन की पैदल यात्रा के पश्चात् माहिष्मती पहुँच सकता था। (उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भाव्यते सूर्यमुद्गमयतीति)।[2] गुजरात के **प्रभास** नामक स्थान की गणना तीर्थस्थान के रूप में होती थी। अभिलेखों के द्वारा पुण्य-लाभ के निमित्त इस क्षेत्र में धर्मशीलों के आगमन की सूचना मिलती है।[3]

भृगुकच्छ भी पश्चिमी भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। परम्परा के अनुसार भृगु मुनि ने यहाँ कठिन तपस्या की थी। इन्हीं के नाम के आधार पर इस नगर का नामकरण भृगुकच्छ अथवा भृगुपुर हुआ।[4] अत्यन्त प्राचीन काल से ही धर्म-केन्द्रों में इसकी गणना की जाती थी। लोकमत में प्रतिष्ठित भृगुकच्छ-माहात्म्य से आकर्षित होकर शक-क्षत्रप नहपान के दामाद उषवदात ने इस स्थान पर आराम, तटाक तथा उदपान की स्थापना की थी।[5] जल-कूल पर स्थित होने के

---

१. **सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २९१।**

२. **महाभाष्य, २, ३५।**

३. **सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ १६१।**

४. **"ततो गच्छेत राजेन्द्र भृगुतीर्थमनुत्तमम्।
यत्र देवो भृगुः पूर्वं देवमाराधयत्पुरा॥" —कूर्मपुराण, अध्याय ४१।**

५. **सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ १६३।**

कारण इसकी महानता वाणिज्य के क्षेत्र में प्रतिपादित हो चुकी थी। पेरिप्लस के वर्णन के अनुसार यह नगर भारतीय आयात एवं निर्यात का सुप्रसिद्ध पाश्चात्य केन्द्र था।[१] सुप्पारक जातक में भृगुकच्छ के वणिकों की व्यापारिक कृतियों का उल्लेख मिलता है।[२] सुस्सोंदि जातक में भी इस नगर का वर्णन एक वाणिज्य-केन्द्र के रूप में मिलता है।[३]

उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नगरों में **तक्षशिला, शाकल, पुरुषपुर, पातानप्रस्थ, कनिष्कपुर, पुष्कलावती तथा श्रीनगर** की गणना की जा सकती है। विदेशी यात्रियों के विवरण में **तक्षशिला** के वैभव का वर्णन मिलता है। एरियन ने इसे समृद्धशाली तथा जनाकीर्ण नगर बताया है।[४] स्ट्रैबो के अनुसार तक्षशिला विशाल एवं धनधान्य से सम्पन्न था।[५] प्लिनी ने भी इसके महान् उत्कर्ष का उल्लेख किया है।[६] यवनराज मिलिन्द के शासन-काल में **शाकल** नगर अभ्युदय की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। मिलिन्दपञ्हो के अनुसार यह नगर व्यापार एवं वाणिज्य का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। यहाँ अनेक आराम, उद्यान तथा तटाक् बने हुए थे। इसके चतुर्दिक शिखरों से युक्त प्राकारों तथा खाइयों का निर्माण किया गया था। नगर के बाज़ारों में विविध प्रकार के भाण्ड सुसज्जित थे।[७]

सिन्धु-तट पर स्थित **पातन अथवा पातानप्रस्थ** नामक नगर भी इस भाग का एक विशिष्ट केन्द्र था। यूनानी लेखकों के विवरण में इसके लिये पाटल शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इस नगर को तन्नामधारी राज्य की राजधानी के रूप में हम उल्लिखित पाते हैं। स्पार्टा-शासन-प्रणाली के समान इस नगर-राज्य में दो विभिन्न वंशों के शासक शासन करते थे।[८] पाणिनि ने इस नगर को पातन[९] तथा

---

१. पेरिप्लस, पृष्ठ ४२।
२. जातक, ४, १४०।
३. वही, ३, १८८।
४. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ १०५।
५. राय चौधरी, पो० हि० ऐं० इ०, पृष्ठ २४७।
६. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ १०६।
७. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ १।
८. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ७०।
९. पाणिनि, ४, १, १४।

पतञ्जलि ने पातानप्रस्थ कहा है।[1] विद्वानों ने इसकी एकता सिन्ध में स्थित पोतल-पुरी[2] से की है। इस काल के प्राथमिक भाग में **पुष्कलावती** पश्चिमी गन्धार की राजधानी थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय इस नगर को पर्याप्त क्षति पहुँची, क्योंकि यहाँ के शासक तथा यूनानी आक्रमणकारियों का भीषण सङ्ग्राम एक मास तक निरन्तर चलता रहा। उत्तर-पश्चिम भारत की सीमा पर स्थित होने के कारण यह नगर यवन, शक तथा कुषाण आक्रमणकारियों का सर्वदा शिकार बना, जिसके कारण इसकी प्राचीन समृद्धि विलुप्त हो गई।

शाकल का समीपस्थ नगर **पुरुषपुर** कुषाणों के शासनकाल में उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच चुका था। कनिष्क की राजधानी होने के कारण इसका अत्यधिक विकास हुआ। इस नगर में तथाकथित कुषाण-शिरोमणि सम्राट ने अनेक भवनों, मठों तथा विहारों को निर्मित किया।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि इस शासक के संरक्षण में वास्तुकला तथा शिल्पकला की यहाँ अत्यधिक उन्नति हुई। इस काल में यह नगर स्थापत्य-कला की गन्धार-शैली का प्रधान केन्द्र था। यवन-मूर्तियों के आधार पर गौतम की प्रतिमाओं का निर्माण इस नवीन शैली में हुआ। विद्वानों का मत है कि इस नगर के भग्नावशेष पर आधुनिक पेशावर स्थित है।[4] कनिष्क ने काश्मीर में कनिष्कपुर नामक एक दूसरे नगर की स्थापना की थी।[5] कनिंघम का मत है कि श्रीनगर का यह एक समीपस्थ नगर था।[6] स्ताइन एवं स्मिथ महोदयों ने कनिष्कपुर तथा काश्मीर में स्थित आधुनिक कानिसपुर को एक ही नगर माना है।[7]

दक्षिण भारत के वैभवशाली तथा समृद्ध नगरों में **कल्याण, नासिक्य (नासिक), प्रतिष्ठान, तोसाली, काञ्ची, शूर्पारक, मसुलीपत्तन** तथा **कावेरीपत्तन** की गणना की जा सकती है। कल्याण तथा शूर्पारक की प्रतिष्ठा व्यापारिक क्षेत्र में थी। सातवाहन-सम्राट् शातकर्णि के शासन-काल में यह नगर चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका

---

१. पतञ्जलि, ४, २, १०४।
२. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ७१।
३. राय चौधरी, पो० हि० एँ० इ०, पृष्ठ ७१।
४. वही, पृष्ठ ४७३।
५. राय चौधरी, पो० हि० एँ० इ०, पृष्ठ ४७४।
६. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ११४।
७. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २७५।
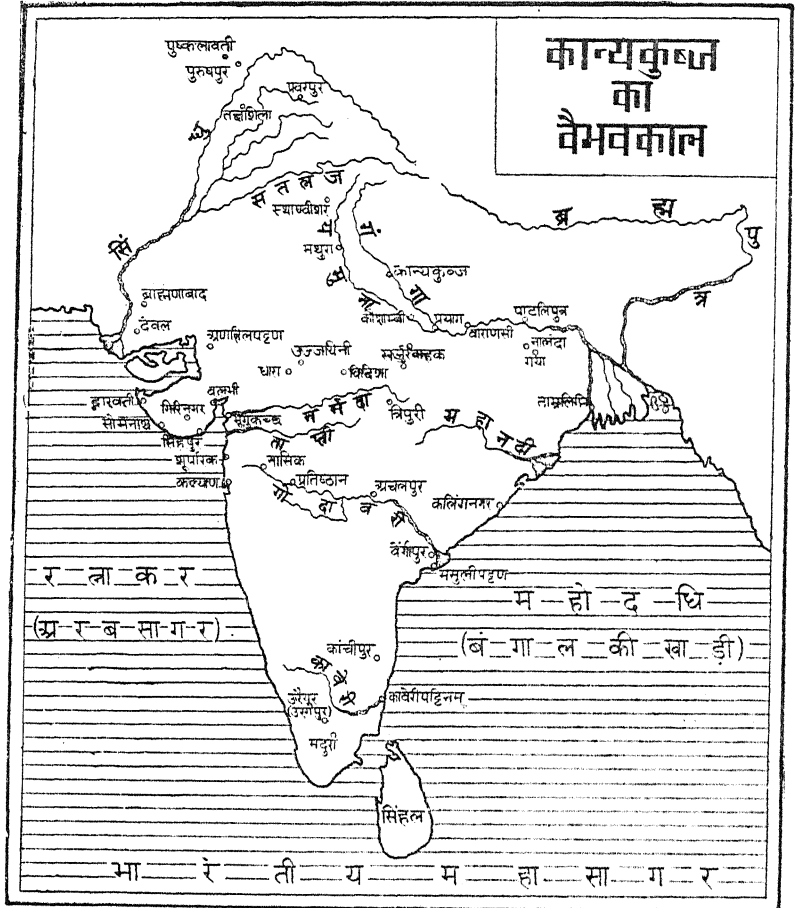
कान्यकुब्ज का वैभवकाल
पुष्कलावती
पुरुषपुर
प्रवरपुर
तक्षशिला
स त ल ज
स्थाण्वीश्वर
मथुरा
कान्यकुब्ज
ब्रह्म
पु
त्र
ब्राह्मणाबाद
देवल
अणहिलपट्टण
उज्जयिनी
धारा
विदिशा
खर्जुरवाहक
कौशाम्बी
प्रयाग
वाराणसी
पाटलिपुत्र
नालंदा
गया
द्वारवती
सोमनाथ
गिरिनगर
वलभी
भृगुकच्छ
न र्म दा
त्रिपुरी
म हा न दी
ताम्रलिप्ति
ता प्ती
सिंहपुर
शूर्पारक
नासिक
प्रतिष्ठान
अचलपुर
कल्याण
गो दा व री
कलिंगनगर
वेंगीपुर
मसुलीपट्टण
र त्ना क र
(अ र ब सा ग र)
म हो द धि
(बं गा ल की खा ड़ी)
कांचीपुर
कावेरीपट्टिनम्
उरैयूर
(उरगपुर)
मदुरा
सिंहल
भा र ती य म हा सा ग र

था। पेरिप्लस के वर्णन से विदित होता है कि कालान्तर में यहाँ स्वतन्त्र वाणिज्य का निषेध था। विदेशी यात्रियों को इस नगर के अधिकारियों के द्वारा पकड़ जाने का सर्वदा भय बना रहता था।[1] शूर्पारक भी इस काल का एक सुप्रसिद्ध भारतीय पोताश्रय था। पेरिप्लस के अनुसार यहाँ पर सुदूर देशों के व्यापारी माल के विक्रय के लिये आते थे।[2] यह नगर इस काल का एक प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र भी था। **नासिक** तथा **प्रतिष्ठान** की प्रतिष्ठा व्यापारिक क्षेत्र में थी। सातवाहन-नरेशों के द्वारा इनके उत्कर्ष में महान् योग मिला। पतञ्जलि ने नासिक का उल्लेख सुप्रसिद्ध भारतीय नगर के रूप में किया है (नासिक्यं नगरमिति)।[3] पेरिप्लस में प्रतिष्ठान का वर्णन दक्षिण भारत के एक व्यापार-केन्द्र के रूप में हुआ है।[4] पतञ्जलि ने महाभाष्य में **काञ्ची** नाम की व्युत्पत्ति का विवेचन किया है (काञ्चीपुरकः)।[5] इससे स्पष्ट है कि यह इस काल का एक प्रसिद्ध नगर था। प्रयाग की प्रशस्ति में काञ्ची का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार समुद्रगुप्त के समय में वहाँ विष्णुगोप नामक शासक राज्य करता था (काञ्चेयक विष्णुगोप)[6]। **मसुलीपत्तन**[7] तथा **कावेरी-पत्तन**[8] दक्षिण भारत के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। पेरिप्लस में इनका उल्लेख मिलता है।

परिच्छेद (ग):—कान्यकुब्ज का वैभवकाल

कान्यकुब्ज की प्रधानता—छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बारहवीं शताब्दी तक नगर-जीवन के क्षेत्र में कान्यकुब्ज के वैभव का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। अनेक आनुक्रमिक राजवंशों (मौखरि, वर्द्धन, प्रतीहार एवं गहड़वाड़) की राजधानी होने के कारण इस अवधि में यह नगर भारत का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक केन्द्र था। नगर के बौद्धिक, व्यापारिक तथा धार्मिक विकास ने भी इसके उत्कर्ष में योग दिया। इस दीर्घ काल में कान्यकुब्ज का वही स्थान था, जो पूर्वकाल में पाटलिपुत्र का।

---

१. पेरिप्लस, पृष्ठ ४३।
२. वही, पृष्ठ ४३।
३. महाभाष्य, ३, ३१९।
४. पेरिप्लस, पृष्ठ ४३।
५. महाभाष्य, २, २९८।
६. समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति।
७. पेरिप्लस, पृष्ठ १९६।
८. अय्यर, एंशेण्ट डकन, पृष्ठ २।

नगर के नाम की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालता हुआ चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि गङ्गा के तट पर निर्मित कान्यकुब्ज तीन मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा था। उसके अनुसार नगर के चतुर्दिक परिखा एवं सुदृढ़ प्राकार वर्तमान थे तथा भीतर अनेक उपवन, वितान, सरोवर और अट्टालिकाएँ विद्यमान थीं। नगर के प्रधान बाज़ार में सुदूर देशों से विक्रय के लिये संख्यातीत भाण्ड केन्द्रित किये गये थे। इसके भीतर मठ एवं मन्दिर सुशोभित थे तथा नागरिकों का चरित्र-सङ्गठन उच्च कोटि का था।[1] ग्यारहवीं शताब्दी के विदेशी यात्री अल्बरूनी ने भी नगर के ऐश्वर्य की प्रशंसा की है।[2] उत्वी ने इसे गङ्गा के तट पर स्थित तथा सात पृथक् दुर्गों का समूह कहा है।[3]

सामान्य नगर-परिचय—इस समय **थानेश्वर** का नगर प्रसिद्धि में आ चुका था। हर्षचरित के अनुसार इसमें विभिन्न शास्त्रों में पारङ्गत विद्वान्, शस्त्रोपजीवी, शिल्पी, व्यापारी, वेश्याएँ, लासक, विद्यार्थी, गायक तथा वन्दी रहते थे।[4] अल्बरूनी लिखता है कि समीपस्थ कुरुक्षेत्र के कारण यह नगर धर्म-केन्द्र भी माना जाता था।[5] उत्बी लिखता है कि इस नगर में सिंहल द्वीप के कुन्जरों का बाहुल्य था। ये सेना में अधिक उपयोगी सिद्ध होते थे।[6]

इस समय **नालन्दा** विशेष रूप से शिक्षा का केन्द्र माना जाता था। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि यहाँ पर देश-विदेश से विद्यार्थी ज्ञानार्जन के निमित्त प्रभूत संख्या में एकत्र होते थे। इस काल के द्वितीयार्द्ध में **भीमनगर** (नगरकोट), **खर्जुरवाहक** (खजुराहो) तथा **त्रिपुरी** की महत्ता प्रतिपादित हो चुकी थी। विदेशी लेखकों के अनुसार यह दुर्ग (नगरकोट) गिरिशिखर पर स्थित था तथा इसमें देश की अतुल धनराशि सुरक्षित थी।[7] खर्जुरवाहक चन्देल-नरेशों का प्रधान अधिष्ठान था। इस नगर का सबसे आकर्षक अङ्ग उनके द्वारा भव्य मन्दिरों का निर्माण था।[8] त्रिपुरी कलचुरि नरेशों की राजधानी थी। इसकी एकता आधुनिक जबलपुर में

---

१. वाटर्स, १, ३४१।
२. साचो, १, १९९।
३. इलियट, हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, २, ४६।
४. हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७१-७२।
५. साचो, १, १४७।
६. इलियट, २, ४०।
७. वही, २, ३४।
८. मजुमदार, ऐंशेण्ट इण्डिया, ३०७।

स्थित तेवार नामक ग्राम से की जाती है।[१] इस काल में **मथुरा, वाराणसी,** तथा **प्रयाग** की गणना धार्मिक केन्द्रों के रूप में होती थी। उत्तरपूर्व भारत के राजनीतिक केन्द्रों में **शाकम्भरी** का नाम भी उल्लेखनीय है। इस नगर को समृद्ध बनाने का श्रेय चौहान-नरेशों को था।

वङ्गभूमि के सुप्रसिद्ध नगरों में **ताम्रलिप्ति, लक्ष्मणावती, विजयपुर (नवद्वीप-नदिया), रामावती** तथा **विक्रमशिला** की गणना की जा सकती है। य्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति का नगर पूर्वी समुद्र-तट का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था।[२] बृहत्कथामञ्जरी के द्वारा इस नगर के वाणिज्यविषयक विकास के सम्बन्ध में सूचना मिलती है।[३] अभिधानचिन्तामणि में इस बन्दरगाह के कई अन्य नाम दिये गये हैं, उदाहरणार्थ ताम्रलिप्त, तमालिनी, स्तम्बपुर तथा विष्णुगृह।[४] त्रिकाण्डशेष में ताम्रलिप्ति के लिये वेलाकूल तथा तमालिका नामों का प्रयोग किया गया है।[५] इस काल के द्वितीय चरण में लक्ष्मणावती (लखनौती) के उत्कर्ष का विस्तार हुआ था।[६] धोयी के पवनदूत के अनुसार सेन राजाओं की राजधानी विजयपुर में प्रतिष्ठित थी।[७] इस ग्रन्थ की पंक्तियों में लेखक कहीं नगर के विशाल भवनों का उल्लेख करता है,[८] तो कहीं उनमें विहार करने वाली सुस्निग्ध एवं प्रकृतिमधुर पौराङ्गनाओं की केलि तथा कौतूहल का।[९] कवि ने किसी स्थल पर गृहप्राङ्गण में पुरवासियों के द्वारा आरोपित तरुओं का विवरण प्रस्तुत किया[१०] है, तो अन्यत्र प्रणयकलह में कुपित बालाओं की भृकुटिरचना का।[११] विद्वानों ने

---

१. मजुमदार ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ३०९।
२. वाटर्स, २, १९०।
३. बृहत्कथामञ्जरी, (चतुर्दारिका) लम्बक, ४, श्लोक ७७।
४. मजुमदार, ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ३०।
५. वही, पृष्ठ ३०।
६. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ ३२।
७. "स्कन्धावारं विजयपुरं इत्युन्नतां राजधानीम्", पवनदूत, पंक्ति ७१।
८. "यत्सौधानामुपरिवड़भीशालभञ्जीषु लीनाः", वही, पंक्ति ७४।
९. "सुस्निग्धासु प्रकृतिमधुराः केलिकौतूहलेन", वही, पंक्ति ७५।
१०. "पौरस्त्रीभिः क्रमुकतरवो रोपिता प्रांगणेषु", वही, पंक्ति ७६।
११. "बालाभ्योऽथ प्रणयकलहैरुढ़कोपांकुराभ्यो
दिन्यस्यन्ति भृकुटिरचनां चारुभीमाननाभ्यः।"—वही, पंक्ति ७४।

इसका तादात्म्य उस नवद्वीप (नदिया) से स्थापित किया है, जिसे समकालीन मुसलमान लेखकों ने राय लखमनिया (लक्ष्मणसेन) की राजधानी बताई है।[१]

डॉक्टर मजुमदार का कथन है कि इस नरेश की गौण राजधानी **लक्ष्मणावती** में प्रतिष्ठित थी तथा **नवद्वीप (नदिया)** में प्रधान।[२] डॉक्टर अग्रवाल के अनुसार नवद्वीप पाणिनि-अष्टाध्यायी में उल्लिखित नवनगर प्रतीत होता है।[३] नवद्वीप प्राचीन भारत का एक विशिष्ट बौद्धिक केन्द्र था। विद्वानों का मत है कि नवद्वीप को हलायुध, जयदेव तथा धोयी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पण्डितों तथा काव्यकारों को उत्पन्न करने का श्रेय था।[४] पाल-शासकों की राजधानी होने के कारण (लक्ष्मणावती की समीपस्था पुरी) रामावती की ख्याति राजनीतिक केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।[५] बारहवीं शताब्दी के लगभग यह नगर बौद्धिक केन्द्र भी बन चुका था। रामपाल नामक बङ्गाल-शासक के सक्रिय प्रयास द्वारा इसका विश्वविद्यालय पर्याप्त रूप में समृद्ध था। विभूतिभद्र, दानशील, शुभकर तथा मोक्षाकरगुप्त सदृश पण्डितों की विद्वत्ता के कारण उसकी ख्याति का विस्तार हुआ। संस्कृत तथा तिब्बत-भाषाओं के विशेष ज्ञान के फलस्वरूप इन्हें महापण्डित की उपाधि दी गई थी। दानशील ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बत-भाषा में अनुवाद किया, जिसके कारण तिब्बत में भारतीय दर्शन का व्यापक प्रचार हुआ। शुभकर को 'सिद्धवीरतङ्कटीका' नामक ग्रन्थ को लिखने का श्रेय था, जिसका कालान्तर में तिब्बत-भाषा में अनुवाद किया गया। भिक्षु तथा महापण्डित आदि उपाधियों को धारण करने वाले मोक्षाकरगुप्त तर्कभाषा के मर्मज्ञ तथा संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् थे।[६]

इस काल में **पाटलिपुत्र** का पूर्व ऐश्वर्य विलीन होने लगा था। य्वान्-च्वाङ्ग के यात्राविवरण में यह नगर विविक्त तथा निर्जन स्थान के रूप में चित्रित है। उसके आगमन के अवसर पर इसके अधिकांश भवन भग्नावशेष को प्राप्त हो चुके थे।[७] इस काल के पूर्वार्द्ध में **कौशाम्बी** को हूण-आक्रमणकारियों का शिकार बनना

---

१. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ २५१–५२।
२. वही, पृष्ठ ३३।
३. अग्रवाल, इ० ए० नो० पा०, पृष्ठ ६३।
४. मुकर्जी, ए० इ० ए०, पृष्ठ ५९८–९९।
५. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ ३३।
६. मुकर्जी, ए० इ० ए०, पृष्ठ ५९५।
७. वाटर्स, २, ८७।

पड़ा। कौशाम्बी के आधुनिक उत्खनन में तोरमाण की एक मुहर उपलब्ध हुई है। इस साक्ष्य से लगता है कि यह नगर इस हूण-सम्राट् के राज्य के अन्तर्गत था। कौशाम्बी में लगभग उसी काल की एक मुद्रा उपलब्ध हुई है, जिस पर ध्रुवदत्त शब्द अङ्कित है। सम्भव है कि हूण-साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् इस नगर में किसी दत्तवंशीय शासक का आविर्भाव हुआ हो।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में कौशाम्बी का पूर्व रूप विलुप्त होने लगा था। य्वान्-च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर इस नगर में कतिपय मठ तथा विहारमात्र अवशिष्ट रह गये थे, जिनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या अत्यल्प थी।[२] कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर वैशाली, राजगृह तथा श्रावस्ती का पूर्ण विनाश हो चुका था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार कपिलवस्तु विजन तथा त्यक्त स्थान के तुल्य दिखाई देता था।[३] उसने, पावा,[४] कुशीनगर,[५] वैशाली,[६] राजगृह,[७] श्रावस्ती,[८] गया[९] तथा चम्पा[१०] का उल्लेख नष्ट स्थानों के रूप में किया है। इनके भग्नावशेषों के बीच यत्र-तत्र मठ तथा विहार दृष्टिगोचर होते थे, जिनकी संख्या पूर्व काल की अपेक्षा अत्यल्प थी।

काश्मीर-क्षेत्र के विशिष्ट नगरों में **प्रवरपुर, जयपुर, अवन्तिपुर, कल्याणपुर** तथा **परिहासपुर** की गणना की जा सकती है। राजतरङ्गिणी के अनुसार काश्मीरकेप्रवरसेन द्वितीय नामक शासक नेप्रवरपुरकीनींव डाली थी।[११] विक्रमाङ्क-देवचरित में इस नगर के वैभव का चित्रण मिलता है।[१२] नवीं शताब्दी में जयपुर काश्मीर का एक विशिष्ट केन्द्र था। राजतरङ्गिणी से विदित होता है कि जयापीड़

---

१. निर्देशक, कौशाम्बी-उत्खनन—शिविर (प्रयाग विश्वविद्यालय) के सौजन्य से उपलब्ध सूचना।

२. वाटर्स, १, ३६६।

३. वही, २, ८७।

४. वही, २, २७।

५. वही, २, २६।

६. वही, २, ६३।

७. वही, २, ८६।

८. वही, २, ३७७।

९. वही, २, ८७।

१०. वही, २, १८१।

११. राजतरङ्गिणी, ३, ३४६-४९।

१२. विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८।

नामक नरेश ने इस नगर की नींव डाली थी। अपनी भार्या जयादेवी की पुण्य स्मृति में उसने इस नगर को गौतम की मूर्तियों तथा नाना विहारों से अलङ्कृत किया था। पुर-मध्य में उसके द्वारा एक ऐसे विष्णुमन्दिर की स्थापना की गई, जिसमें शेषशायी भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति प्रतिष्ठित थी।[1]

स्ताइन के अनुसार नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक **अवन्तिपुर** काश्मीर का एक प्रसिद्ध नगर माना जाता था। राजतरङ्गिणी में इसकी स्थापना का समस्त श्रेय अवन्तिवर्मा नामक सम्राट् को दिया गया है। इसका निर्माण विश्वैकसार नामक उस स्थल पर हुआ, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक सुखों का दायक समझा जाता था।[2] इस नगर में कला-प्रेमियों का बाहुल्य था। राजतरङ्गिणी से सूचना मिलती है कि इस नगर के मम्म नामक एक अन्धे गान्धर्विक को अवन्तिवर्मा ने राजकीय गायक नियुक्त किया था।[3]

जयापीड़ की भार्या कल्याणदेवी ने अपने पति के विजय के उपलक्ष में **कल्याण-पुर** नामक नगर का निर्माण किया।[4] स्ताइन का मत है कि इस नगर के भग्नाव-शेष पर कल्याणपुर नामक आधुनिक ग्राम स्थित है। उनके अनुसार आठवीं शताब्दी में इस नगर की नींव पड़ी थी। काश्मीर-प्रान्त के तत्कालीन नगरों में

---

१. "द्रूतं वित्तैः पूरयित्वा सरोगाधं च राक्षसैः।
चक्रे जयपुरं कोट्टं त्रिविष्टपसमं नृपः॥
बुद्धत्रयं महाकारं विहारं च विधाय सः।
नगरान्तर्जयादेवीं पुण्यकर्मा स निर्ममे॥
तत्पुरे चतुरात्मा च शेषशायी च केशवः।
विष्णुलोकस्थितिं त्यक्त्वा ध्रुवं बध्नाति सन्निधिम्॥"
—राजतरङ्गिणी, सर्ग ४, ५०६—५०८।

२. "क्षेत्रे विश्वैकसाराख्ये मृतानामपवर्गदे।
भूरिभोगास्पदं राज्ञा तेनावन्तिपुरं कृतम्॥" वही, सर्ग ५, ४४।

३. "अंधगांधर्विकान्मम्मनाम्नः स्वार्चनसेवकात्।
अवन्तिपुरजं हस्तग्राहद्विव्रजचेलकम्॥"
—राजतरङ्गिणी, सर्ग ६, २९९।

४. "प्रपेदे यत्र कल्याणं स विरोधविधान्नृपः।
देशे कल्याणपुरकृत्तत्र कल्याणदेव्यभूत्॥" वही, सर्ग ४, ४८३।

परिहासपुर का नाम भी उल्लेखनीय है। इस नगर की स्थापना ललितादित्य नामक सम्राट् ने की थी। यह नरेश परिहासशील था, अतएव उसके द्वारा स्थापित नगर परिहासपुर के नाम से विख्यात हुआ। कल्हण की काव्योक्ति के अनुसार इस नगर ने सौन्दर्य के क्षेत्र में इन्द्रपुरी को भी लज्जित किया था। इस लेखक के अनुसार परिहासपुर में ललितादित्य के द्वारा मुक्तेश्वर की रजत-प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी।[१]

उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष के अन्य प्रसिद्ध नगरों में **पुष्कलावती, पुरुषपुर, तक्षशिला, सिंहपुर, शाकल, जयपुर** तथा **मूलस्थान** की गणना की जा सकती है। वाह्यआक्रमणों के कारण **पुष्कलावती** की जो ख्याति पूर्व काल में विलुप्त हो गई थी, उसका कालान्तर में पुनरुज्जीवन हुआ। इस नगर की भौगोलिक स्थिति इसके विकास की क्रिया में उपयोगी सिद्ध हुई। वाणिज्य का प्रतिष्ठित केन्द्र होने के कारण इसके नष्ट वैभव का उद्धार स्वाभाविक था। य्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण से सूचना मिलती है कि उसके आगमन के अवसर पर यह एक समृद्धिशाली नगर था। उसके अनुसार पुष्कलावती की परिधि लगभग तीन मील थी। इस जनाकीर्ण केन्द्र के निवासी धनधान्य से सम्पन्न थे। नगर के पश्चिम द्वार पर एक देव-मन्दिर था, जिसमें स्फटिक-निर्मित मूर्ति प्रतिष्ठित थी। इसके उपकण्ठ पर अशोक के द्वारा निर्मित स्तूप अब भी विद्यमान था।[२] इसके दर्शनार्थ अनेक बौद्ध धर्मानुयायी देश के विभिन्न भागों से एकत्र होते थे। इस नगर के समीपवर्ती भागों में कुछ स्तूप एवं विहार बने हुए थे।[३]

पुरुषपुर की पूर्वकालीन प्रतिष्ठा इस काल में भी वर्तमान थी।[४] य्वान् च्वाङ्ग तथा अल्बरूनी[५] के लेखों से विदित होता है कि यह नगर उत्तर-पश्चिम भारत का एक विशिष्ट केन्द्र था। कालान्तर में इसके उत्कर्ष का दूरतर विस्तार हुआ।

---

१. "ततः परं परिहासशीलो भूलोकवासवः।
विहसद्वासवावासं परिहासपुरं व्यधात्।
विरेजे राजतोदेवो श्रीपरिहासकेशवः।
लिप्तो रत्नाकरस्वापे मुक्ताज्योतिमणेरिव॥"

—राजतरङ्गिणी, सर्ग ४, १९४ ९५।

२. वाटर्स, १, २१४।

३. वही, १, २१५।

४. वही, १, २०१।

५. साचो, २, ११।

पुष्कलावती के समान पूर्व काल में **तक्षशिला** की समृद्धि पर वाह्य आक्रमणों के कारण अवश्यमेव कुठाराघात हुआ, किन्तु अनुकूल परिस्थितियों में पड़ने पर इसकी स्थिति पर्याप्त मात्रा में सुधर चुकी थी। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार इस नगर का प्राकारमण्डल लगभग २ मील था। इस क्षेत्र की साधनसम्पन्नता पर प्रकाश डालता हुआ चीनी यात्री लिखता है कि तक्षशिला के नागरिक अत्यन्त निर्भीक थे।[१] य्वान् च्वाङ्ग ने अपने यात्राविवरण में **शाकल** का भी उल्लेख किया है। इस नगर में एक मठ था, जिसमें अनेक बौद्ध मतावलम्वी रहते थे। उपर्युक्त चीनी यात्री के अनुसार वसुबन्धु ने 'परमार्थ-सत्यसार' की रचना यहीं पर की थी।[२] जयपुर चन्द्रभागा के तट पर स्थित था। इस नगर के पश्चिम द्वार पर एक विहार था, जहाँ य्वान् च्वाङ्ग ने एक रात्रि बिताई थी।[३] इस काल के द्वितीय भाग में **मूलस्थान** (मुल्तान) सहसा अधिक विख्यात हो गया था। सन्देशरासक नामक बारहवीं शताब्दी के एक जैन ग्रन्थ से विदित होता है कि तत्कालीन विशिष्ट केन्द्रों में इसकी गणना होती थी।[४] **सिंहपुर** एक गिरिदुर्ग था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार यह नगर तक्षशिला से दक्षिण-पूर्व की दिशा में १४० मील की दूरी पर स्थित था। इस नगर की परिधि तीन मील के लगभग थी।[५]

पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध नगरों में **उज्जयिनी, वलभी, गिरिनगर, भृगुकच्छ, अणहिलपुर, सोमनाथ, आनन्दपुर तथा धारा** की गणना की जा सकती है। अनेक साक्ष्यों से विदित होता है कि **उज्जयिनी** की पूर्व प्रतिष्ठा इस काल में विद्यमान थी। कादम्बरी के अनुसार यह नगर त्रिभुवन में सर्वश्रेष्ठ था तथा इसके चतुर्दिक गम्भीर परिखा एवं उच्च प्राकार विद्यमान थे। शिप्रा के तट पर स्थित होने के कारण इसकी शोभा दर्शनीय थी। नगर के भीतर आपण, राजमार्ग, चित्रशालाएँ सरोवर, उद्यान तथा विशाल भवन यथास्थान सुशोभित थे।[६]

भटार्क के द्वारा स्थापित **वलभी** का नगर पश्चिमी भारत का एक प्रसिद्ध राजनीतिक, व्यापारिक तथा बौद्धिक केन्द्र था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार इस नगर

---

१. वाटर्स, १, २७०।
२. वही, १, २८८।
३. वही, १, २९६।
४. "तन्मूलस्थानं नाम प्रसिद्धं सर्वैरपि नरामरैः श्रूयते।"—सन्देशरासक, पृष्ठ २६, (मूल का संस्कृत अनुवाद)।
५. वाटर्स, १, २४८।
६. कादम्बरी, पृष्ठ ९८–१०४।

में अनेक मठ तथा विहार बने हुए थे, जिनमें रहने वाले भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों की संख्या अनेक थी।[1] वह लिखता है कि नगर की पण्यवीथिका में विविध भाण्ड विक्रय के निमित्त सुसज्जित थे।[2] यह नगर शिक्षा का भी एक प्रख्यात केन्द्र था। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि इस नगर में लगभग एक सौ बौद्ध मठ बने हुए थे, जिनमें रहने वाले शिक्षार्थी भिक्षुओं की संख्या अनेक थी।[3] इत्सिङ्ग के अनुसार सातवीं शताब्दी ईसवी में वलभी की ख्याति नालन्दा के समान थी।[4]

इस काल में **गिरिनगर** को प्रान्त-अधिष्ठान तथा तदुपरान्त राजधानी बनने का सुअवसर उपलब्ध हुआ। वलभी के मैत्रकों का प्रतिनिधि यहाँ राज्यपाल के रूप में शासन करता था। इस कुल की शक्ति के नष्ट हो जाने पर गिरिनगर को चूड़ाशमा नामक एक नवीन राजवंश की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। इस वंश के राजाओं ने इस नगर को एक सुदृढ़ दुर्ग का रूप प्रदान किया।[5] यही कारण है कि मूलराज नामक महत्त्वाकांक्षी नरेश कठिन परिश्रम के पश्चात् भी इस दुर्ग को तोड़ने में असफल सिद्ध हुआ था।[6] कालान्तर में इस नगर के उपकण्ठ पर नेमिनाथ के उस मन्दिर का निर्माण हुआ, जिसकी रचना में काठियावाड़ की तीन साल की आय लगाई गई थी।[7] इस काल में **भृगुकच्छ** को भी राजधानी तथा प्रान्त-अधिष्ठान बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। दद्द द्वितीय के एक अभिलेख से विदित होता है कि यह नगर परिखा तथा प्राकार के द्वारा परिवेष्टित था।[8] इसकी प्रतिष्ठा प्रधानतः धार्मिक एवं व्यापारिक क्षेत्रों में थी।

अणहिलपुर (अणहिलपट्टण, अणहिलवाड़) की नींव आठवीं शताब्दी ईसवी के मध्य भाग में पड़ी। परम्परा के अनुसार नगर के स्थापक ने इसके निर्माण के लिये भूमि का सङ्कलन अन्हिल नामक मेषपाल की मन्त्रणा के द्वारा किया था। चावाटक, सोलङ्की तथा बघेल आदि गुजरात के अनेक राजवंशों की राजधानी बनने का गौरव इसे प्राप्त हुआ। मन्दिरों, महलों, विहारों, सरोवरों तथा उद्यानों

---

१. वाटर्स, १, २४६।
२. बील, २, २६०।
३. वाटर्स, २, २४६।
४. इत्सिङ्ग, पृष्ठ १७७।
५. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २१–२२।
६. वही, पृष्ठ २२।
७. वही, पृष्ठ २२।
८. वही, पृष्ठ ३५।

के निर्माण के कारण इसकी शोभा दर्शनीय थी। कुमारपालचरित के लेखक के अनुसार यह एक जनाकीर्ण केन्द्र था। इस ग्रन्थ में अतिशयोक्ति के साथ कहा गया है कि समुद्र की बूँदों की भाँति इस नगर के निवासियों की गणना असम्भव थी।[१] यहाँ पर ८४ प्रकार की बाज़ारें लगतीं थीं। प्रत्येक में पृथक् वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था।[२] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि पृथ्वीचन्द्रचरित में भी चौरासी बाज़ारों के उल्लेख मिलते हैं।[३] इस नगर के चतुर्दिक प्राकार तथा परिखा के निर्माण की सूचना प्राप्त होती है। इसके भग्नावशेषों में जैन मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ पर जैन धर्म के अनुयायियों का बाहुल्य था।[४]

प्रभास (सोमनाथ) के धार्मिक जीवन में शिव-पूजा की प्रधानता थी। इब्न-असीर के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि तीर्थाटन करने वाले सहस्रों की संख्या में प्रति-दिन सोमनाथ आते थे। उसने कुछ अतिरञ्जित वर्णन करते हुए लिखा है कि तीर्थ-सेवियों के क्षौरकर्म के लिये वहाँ तीन सौ नापितों की आवश्यकता प्रति दिन पड़ती थी।[५] य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार आनन्दपुर वलभी से १४० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित था। इस नगर की परिधि उपर्युक्त चीनी यात्री के अनुसार लगभग चार मील थी। इसके निवासी धनधान्य से सम्पन्न थे।[६] नगर के भीतर बौद्ध विहार भी बने हुए थे, जिनमें भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ रहती थीं।[७] आनन्दपुर की प्रशस्ति से विदित होता है कि चिरकाल तक इस नगर में वप्र तथा प्राकार का अभाव था। इससे लगता है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था।[८] **धारा** नगरी परमार राजाओं की राजधानी थी। राजा भोज के शासन-काल में यहाँ साहित्य का विकास प्रचुर मात्रा में सम्पन्न हुआ।

दक्षिण भारत के नगरों में मदुरा, काञ्ची, कावेरीपत्तन, वञ्जी, उरगपुर, अचल-

---

१. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ १२।
२. वही, पृष्ठ १३।
३. प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह (पृथ्वीचन्द्रचरित), पृष्ठ ९५।
४. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ १३।
५. वही, पृष्ठ ३१।
६. वाटर्स, २, २४७।
७. वही, २, २४७।
८. "माभूत्तस्य तथापि तीव्रतपसो बाधेति भक्त्या नृपः।
वप्रंविप्रपुराभिरक्षणकृतं निर्मापयामास सः॥"
—ए० इ०, १, पृष्ठ २००।

पुर, वेङ्गीपुर, अमरावती, वादामी, वनवासी, प्रतिष्ठान, कलिङ्गनगर तथा नासिक की गणना की जा सकती है। मदुरा में पाण्ड्यों की राजधानी थी। इसके चतुर्दिक परिखा तथा प्राकार एवं भीतर राजमार्ग, महल, भवन, सरोवर, उद्यान, कार्यालय तथा सार्वजनिक गृह बने हुए थे।[१] पल्लव नरेशों ने काञ्ची के उत्कर्ष में महान् योग दिया। इस नगर की प्रशंसा करते हुए पवनदूत के रचयिता धोयी ने इसे अमरावती से भी बढ़कर सुन्दर (अमरनगरस्यापि गर्व्वं हरन्ति) तथा दक्षिणी भारत का भूषण (भूषणं दक्षिणस्याः) कहा है।[२] य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि इस नगर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र पृथक् पुरभागों में रहते थे।[३] चोलवंश के शक्तिशाली सम्राटों ने इस नगर को जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि धोयी के काल में इस नगर पर चोलों का ही आधिपत्य था क्योंकि उन्होंने काञ्ची में रहने वाली चोल सुन्दरियों का वर्णन अत्यन्त मनोरम शब्दों में किया है।[४]

कावेरीपत्तन दक्षिणी भारतवर्ष का राजनीतिक, व्यावसायिक तथा व्यापारिक केन्द्र था। चोल-नरेशों की राजधानी होने के कारण इस नगर के वैभव में महान् योग मिला। इसकी सम्पन्नता पर प्रकाश डालते हुए एक कवि ने लिखा है कि यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका शान्तिपूर्ण इतिहास दुर्भिक्ष, भयङ्कर व्याधि तथा शत्रुओं के आक्रमण से सर्वथा अपरिचित है।[५] यह नगर राजप्रासाद, नागरिक शालाओं, सैनिक शिविर, शिल्पगृह तथा पण्यशालाओं से सुशोभित था।[६] **कल्याण** का वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरित नामक ऐतिहासिक काव्य में उपलब्ध होता है। बिल्हण ने इस ग्रन्थ में अतिशयोक्ति के साथ कहा है कि उपर्युक्त नगर में हर्म्यों की पंक्तियाँ

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३१—३९।

२. पवनदूत, १२।

३. वाटर्स, २, २२६।

४. "मन्ये मोक्षः कठिनसुरतायासलब्धस्य पूर्णं,
दुष्प्रापस्ते भविता चोलसीमन्तनीभ्यः।
कवातासामलकरचनालीननीलसनाथे
गण्डाभोगे मलयजपयः पिच्छले न स्खलन्ति॥"

—पवनदूत, ८।

५. अय्यर, वही, पृष्ठ ८२।

६. वही, पृष्ठ ८२।

सुशोभित थीं तथा उनकी ऊँचाई के कारण आकाश में अन्धकार छा गया था।[१] नगर में कहीं खिले हुए कमलों से युक्त सरोवर सुशोभित थे, तो कहीं उत्तुङ्ग भवनों में लगे हुए ध्वज।[२]

चेरों की राजधानी वञ्जी में प्रतिष्ठित थी। यह एक सुदृढ़ दुर्ग का आदर्श उदाहरण था। सुरक्षा की दृष्टि से इसके चतुर्दिक एक विशाल प्राकार तथा गहरी खाई का निर्माण किया गया था, जिन्हें शत्रु सरलता के साथ नहीं पार कर सकते थे। राजभवन नगर के मध्य भाग में सुशोभित था।[३] **उरगपुर** (उरैयूर) भी इस काल का एक प्रसिद्ध राजनीतिक केन्द्र था। इस नगर में चोलों ने अपनी राजधानी बनाई थी। धोयी के पवनदूत से विदित होता है कि ताम्रपर्णी के तट पर स्थित यह नगर कुछ समय तक पाण्ड्यों के राज्य में भी सम्मिलित था।[४] धोयी ने पवनदूत में कलिङ्गनगर का उल्लेख किया है।[५] यह कलिङ्ग का प्रधान नगर प्रतीत होता है। पवनदूत में **ययातिनगरी** नामक एक दूसरे पुर का वर्णन मिलता है।[६] इसकी ऐतिहासिकता के विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना दुष्कर है।

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग २, पंक्ति २।

२. वही, सर्ग २, पंक्ति ११।

३. अय्यर, वही, पृष्ठ ६४।

४. "श्रीखण्डादेः परिसरातिक्रम्य गव्यूतिमात्रं
गन्तव्यस्ते किमपि जगतीमण्डनं पाण्ड्यदेशः।
तत्राख्यातं पुरमुरगमित्याख्यया ताम्रपर्ण्या-
स्तीरे मुग्धक्रमुकतरुभिर्बद्धरेखे भजेथाः॥"

—पवनदूत, ९।

५. "अन्धान् हित्वा जनपदवधूगादगोदावरीकान्।
कालिङ्गास्यानुसर नगरीं नाम तां राजधानीम्॥"

—पवनदूत, २१।

६. "लीलां नेतुं नयनपदवीं केरलीनां रतेश्चेत।
गच्छेःख्यातां जगति नगरीमाख्यया तां ययातेः॥"—वही, २६।

प्राचीन भारत के कुछ प्रमुख नगर
पुष्कलावती
पुरुषपुर
प्रवरपुर
तक्षशिला
शाकल
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
मथुरा
अयोध्या
कान्यकुब्ज
वैशाली
दशपुर
वाराणसी
पाटलिपुत्र
प्रयाग
नालन्दा
चम्पा
राजगृह
उज्जयिनी
गया
वलभी
द्वारका
गिरिनगर
भृगुकच्छ
ताम्रलिप्ति
शूर्पारक
कल्याण
कांची
कावेरीपत्तन
मदुरा
सिंहल
र त्ना क र
(अ र ब सा ग र)
म हो द धि
(बं गा ल की खा ड़ी)
भा र ती य म हा सा ग र
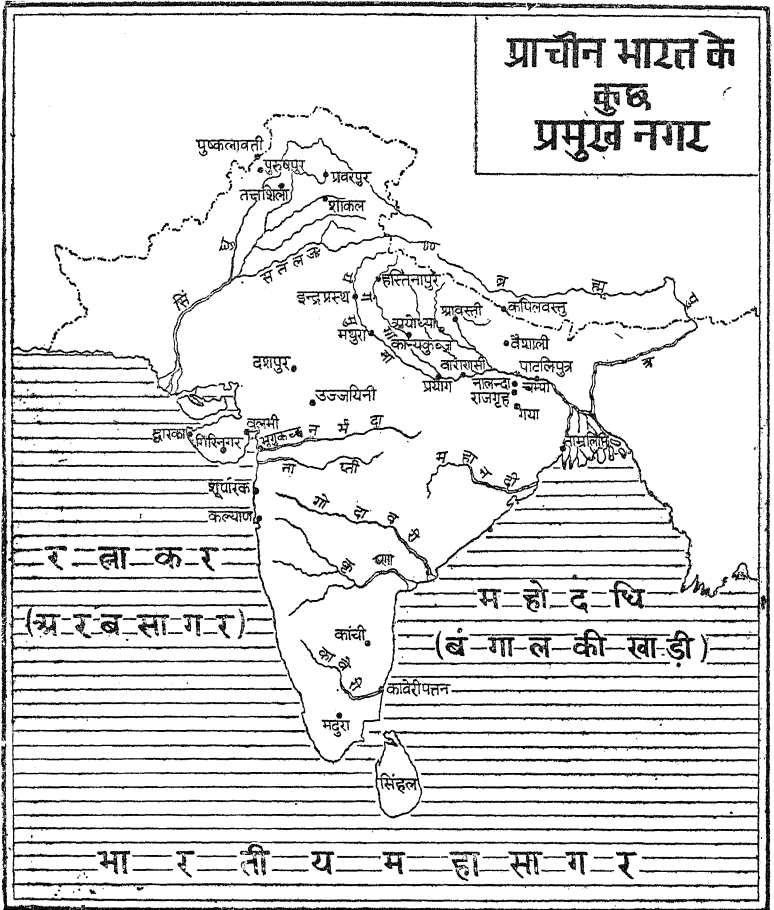
अध्याय ४

उत्तर-पश्चिम भारत के प्रमुख नगर

पुष्कलावती—रामायण में इस नगर की स्थापना का श्रेय भरत को दिया गया है। उन्होंने इसका नाम अपने पुत्र पुष्क के नाम पर रखा था।[१] यह पश्चिमी गन्धार का प्रधान नगर था। इसका उल्लेख पालिग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलता है। पेरिप्लस के अनुसार यह नगर प्रसिद्ध व्यापारिक मार्गों पर स्थित था।[२] टालमी तथा एरियन ने इसे विशाल तथा घनी आबादी वाला नगर कहा है। उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में स्थित होने के कारण इस नगर पर भी तक्षशिला के ही समान आक्रमण होते रहे। सिकन्दर के आक्रमण ने इस नगर को महान् क्षति पहुँचाई थी। यूनानी सैनिकों तथा तत्कालीन स्थानीय शासक की सेना के बीच एक महीने तक भीषण संग्राम चलता रहा।

यह नगर समय-समय पर शकों तथा कुषाणों के आक्रमण का भी शिकार हुआ, जिसके फलस्वरूप इसकी प्राचीन समृद्धि विलीन हो गई। कालान्तर में पुष्कलावती का पुनरुज्जीवन हुआ। सम्भवतः उसकी स्थिति ने इस दिशा में सहायता प्रदान की थी। वाणिज्य का केन्द्र होने के कारण इसके नष्ट वैभव का उद्धार स्वाभाविक ही था। य्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण से विदित होता है कि उसके आगमन के अवसर पर यह एक समृद्ध नगर था। इस लेखक के अनुसार पुष्कलावती की परिधि लगभग तीन मील थी। इस जनाकीर्ण केन्द्र के निवासी धनधान्य से सम्पन्न थे। नगर के पश्चिम द्वार पर एक देवमन्दिर था, जिसमें स्फटिकनिर्मित मूर्ति प्रतिष्ठित थी। इसके उपकण्ठ पर अशोक के द्वारा निर्मित स्तूप अब भी विद्यमान था।[३] इसके दर्शनार्थ अनेक बौद्ध धर्मानुयायी देश के विभिन्न भागों से एकत्र होते थे। उपर्युक्त साधन के द्वारा नगर के समीपवर्ती भागों में अन्य स्तूपों एवं विहारों के भी विद्यमान होने की सूचना मिलती है।[४]

तक्षशिला—तक्षशिला उत्तर-पश्चिम भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। यहाँ

---

१. रामायण, ७, ११४, २०१।

२. पेरिप्लस, ५७।

३. वाटर्स, १, २१५।

४. वही, १, २१५।

पर प्रारम्भ में पूर्वी गन्धार की राजधानी थी। रामायण में इस नगर की स्थापना का श्रेय भरत के पुत्र तक्ष को दिया गया है।[१] महाभारत के अनुसार परीक्षित के ज्येष्ठ पुत्र जन्मेजय का नागयज्ञ यहीं पर हुआ था।[२] कुछ लोग इसके नाम का सम्बन्ध शक्तिशालिनी तक्क जाति से मानते हैं, जो सिन्धु और चेनाब नदियों के बीच रहा करती थी।[३] फाहियान ने अपने यात्राविवरण में इसे 'चु-शु-शि-लो" कहा है, जिसका अर्थ चीनी भाषा में 'कटा सिर' होता है।[४] जातक कथाओं के अनुसार गौतम बुद्ध का जन्म एक बार "दलिद्दी' नामक ग्राम के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उन्होंने एक याचक को अपना सिर काट कर इसे भिक्षा के रूप में समर्पित किया था। इस घटना के कारण इस नगर का यह नाम पड़ गया।[५]

बौद्ध ग्रन्थों में इस नगर (तक्कसिला) का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। उनसे ज्ञात होता है कि यह नगर बहुत ही समृद्ध था। एक जातक के अनुसार वाराणसी का कोई शासक आक्रमण के उद्देश्य से प्रेरित होकर अपनी शक्तिशालिनी सेना के साथ तक्षशिला पहुँचा। इस नगर के प्रधान द्वार के ऊपर निर्मित शिखर के सौन्दर्य से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने आक्रमण की भावना छोड़ दी।[६] इस नगर के भीतर भव्य भवन सुशोभित थे।[७] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार इस नगर की विशेष ख्याति बौद्धिक क्षेत्र में थी। देश के सुदूर भागों से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन के निमित्त बहुसंख्या में एकत्र होते थे। यहाँ तक कि राजकुलों से सम्बन्धित व्यक्ति भी मार्ग में अनेक विषम कठिनाइयों का सामना करते हुए इस विद्या-केन्द्र में आया करते थे।[८] काशी के राजकुमारों की शिक्षा प्रायःयहीं पर सम्पादित होती थी।[९]

---

१. "तक्षस्य दिक्षु विख्याता रम्या तक्षशिला पुरी", रामायण, ७, ११४, २०१।
२. महाभारत, १, ३, २०।
३. बेनीप्रसाद, स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२३।
४. लेग्गे, फाहियान का यात्रा-विवरण, पृष्ठ ३२।
५. वही, पृष्ठ ३२।
६. बेनीप्रसाद, स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२३।
७. वही, पृष्ठ १२३।
८. जातक, २, १९३।
९. "तक्कसिलं गत्वा सव्वासिप्पाणि उग्गहत्वा वाराणसियं—
दिसापामोक्खो आचारियो हुत्वा पञ्चमाणवकसतानि सिप्पं वाचेति"— जातक संख्या १५०, द्रष्टव्य : मेरा लेख, पृष्ठ ३—६, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १६, अङ्क १—२।

जातकों के अनुसार कोशल के राजकुमार प्रसेनजित तथा बिम्बिसार के अवैध पुत्र जीवक की शिक्षा तक्षशिला में सम्पन्न हुई थी।[१] पाणिनि एवं कौटिल्य भी सम्भवतः इसी विश्वविद्यालय के छात्र थे।[२] राजगृह,[३] मिथिला[४] तथा उज्जयिनी[५] के नागरिक भी ज्ञानार्जन के लिये यहीं एकत्र होते थे।

तक्षशिला में केवल उच्च शिक्षा दी जाती थी। यहाँ पर केवल वे ही विद्यार्थी अध्ययन के निमित्त आते थे, जिनका लक्ष्य ज्ञान के किसी एक ही विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करना था। जीवक यहाँ पर चिकित्साशास्त्र की शिक्षा लेने आया था। उसने यहाँ पर इस विषय का सात वर्षों तक अध्ययन किया।[६] काशी के दो नवयुवक इस नगर में धनुर्विद्या सीखने के लिये आये हुए थे।[७] वेद, व्याकरण,दर्शन, नक्षत्रविद्या, ज्योतिष, कृषि, इन्द्रजाल, सङ्गीत, नृत्य एवं चित्रकला में भी विद्यार्थी यहाँ पर पारङ्गत बनाये जाते थे।[८] विषय के सङ्कलन में कोई जातिप्रतिबन्ध नहीं था। क्षत्रिय ब्राह्मणों के साथ वेदों का अध्ययन कर सकते थे। ब्राह्मण धनुर्विद्या का अध्ययन कर सकता था। बनारस के एक राजकीय पुरोहित ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या के अध्ययन के लिये तक्षशिला भेजा था।[९] इस नगर में आधुनिक विद्यालयों की भाँति सङ्गठित शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थीं। यहाँ पर विद्वान् पण्डित रहते थे, जिनके घर विद्यालय का कार्य देते थे। एक ही पण्डित के पास पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या बीस तक हुआ करती थी। योग्यता की स्वीकृति के लिए विद्यार्थी को परीक्षा नहीं देनी पड़ती थी। प्रतिदिन के अध्यापन-कार्य में शिक्षक विद्यार्थी के ज्ञान का अनुमान लगा लेता था।[१०]

इस नगर में विद्यार्थियों को प्रायः निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। आचार्य

---

१. जातक, संख्या ४९८।
२. अल्टेकर, ए० इ० ऐं० इ०, पृष्ठ ११०।
३. जातक, संख्या ३७८।
४. वही, संख्या ४८९।
५. वही, संख्या ३३६।
६. अल्टेकर, वही, पृष्ठ १११।
७. वही, पृष्ठ १११।
८. वही पृष्ठ १११।
९. वही, पृष्ठ १११।
१०. वही, पृष्ठ १११।

के घर में विद्यार्थी के भोजन एवं विश्राम की व्यवस्था हो जाया करती थी। बदले में वह आचार्य के घर का कार्य एवं उसकी परिचर्या करता था। केवल धनिक विद्यार्थियों के द्वारा ही दक्षिणा देने का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ, काशी के एक राजकुमार ने तक्षशिला में अपने आचार्य को एक हजार मुद्राओं की थैली प्रस्तुत की थी।[१] कभी-कभी राजकुमार यहाँ पर अलग घर लेकर रहते थे।[२] विद्यार्थी अत्यन्त अनुशासित एवं संयमित जीवन बिताने के लिये बाध्य थे। आचार्य का अपने विद्यार्थी के ऊपर विशेष प्रभाव हुआ करता था। जातकों से ज्ञात होता है कि राजवर्ग के लोग भी प्रायः शारीरिक दण्ड के भाजन बनते थे।[३]

पालिसाहित्य में तक्षशिला का जो वर्णन मिलता है, उससे इस नगर के बौद्धकालीन अर्थात् छठी शताब्दी ई० पू० की दशा के विषय में परिचय प्राप्त होता है। पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में साखामनीष सम्राट् दारा प्रथम के राज्यकाल में यह नगर पारसीक साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। इस नरेश के पर्सिपोलिस और नक्शेरुस्तम की समाधि के लेख से ज्ञात होता है कि तक्षशिला के आसपास का भूभाग बहुत ही सम्पन्न और जनाकीर्ण था। इससे पारसीक सम्राट् को बहुत अधिक आय हुआ करती थी।[४] इस आधिपत्य का ऐतिहासिक प्रभाव यह हुआ कि उत्तर-पश्चिम भारत में स्वदेशीय ब्राह्मी लिपि के स्थान को खरोष्ठी लिपि ने ले लिया।[५]

चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में इस नगर के ऊपर सिकन्दर का आक्रमण हुआ। इस समय यहाँ पर आम्भि शासन कर रहा था। उसका राज्य सिन्ध और झेलम नदियों के बीच में फैला हुआ था।[६] विदेशी विवरण से ज्ञात होता है कि इस समय यह नगर बहुत उन्नति पर था। एरियन ने इसे समृद्धिशाली एवं जनाकीर्ण नगर बताया है।[७] स्ट्रेबो के अनुसार तक्षशिला विशाल एवं धनधान्य से सम्पन्न था।[८] प्लिनी

---

१. जातक, संख्या ४५६।
२. वही, संख्या २५२।
३. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ १०।
४. वही, पृष्ठ १०।
५. अल्टेकर, ए० इ० ऐं० इ०, पृष्ठ १०८।
६. राय चौधरी, पो० हि० ऐं० इ०, पृष्ठ १०८।
७. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ १०५।
८. वही, पृष्ठ १०६।

ने भी इसके महान् उत्कर्ष का उल्लेख किया है।[1] यूनानी लेखकों के अनुसार यहाँ पर बहुविवाह और सतीप्रथा प्रचलित थी।[2] मौर्यों के शासनकाल में यह नगर उनके उत्तर-पश्चिम प्रान्त का प्रधान केन्द्र था। बिन्दुसार के राज्यकाल में अशोक तक्षशिला का राज्यपाल था। इस स्थान से एक लेख मिला है, जिसमें अशोक का नाम प्रियदर्शि दिया गया है।[3] इस नगर के नागरिकों में अशोक बहुत प्रिय था। दिव्याव-दान के वर्णन से ज्ञात होता है कि बिन्दुसार के काल में सीमान्त प्रदेशों के कर्मचारी अत्याचारी हुआ करते थे। इनके क्रूर व्यवहार से ऊबकर तक्षशिला के नागरिकों ने बिन्दुसार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसके दमन के लिये उन्होंने अशोक को वहाँ भेजा। इसके आगमन का सन्देश पाते ही तक्षशिला-नागरिक श्रद्धा के कारण भारावनत हो उठे। उन्होंने विद्रोह की भावना का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया। उन्होंने कुमार से शोषण करने वाले दुष्ट पदाधिकारियों की घोर निन्दा की।[4] अशोक के शासन-काल में कुणाल तक्षशिला का राज्यपाल बनाया गया। इस नरेश के राज्यकाल में भी इस नगर के नागरिकों ने एक बार विद्रोह किया। इस विद्रोह के दमन के लिये कुणाल भेजा गया।[5] यहाँ के नागरिक कुणाल से प्रभावित थे। उन्होंने आत्मसमर्पण करते हुए मौर्य कर्मचारियों के क्रूर शासन की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया।[6]

अमात्यों के द्वारा प्रजा के ऊपर किये गये उत्पीड़न के सम्बन्ध में अशोक के अभिलेखों में भी प्रमाण मिलते हैं। जौगड़ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि सीमान्त प्रान्तों के नागरिक इस कारण बहुत दुखी थे। इनको आश्वासन प्रदान करने के लिये अशोक ने राजवाचनिक महामात्रों की नियुक्ति की थी। इन

---

१. कनिंघम, ऐंशेण्ट, ज्याग्रफी, पृष्ठ १०६।

२. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ ११।

३. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ८२।

४. "अथ राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दु-सारेन अशोको विसर्जितः...यावत् कुमारश्चतुरङ्गेन बलकायेन तक्षशिलां गतः श्रुत्वा तक्षशिलानिवासिनः पौराः...प्रत्युद्गम्य च कथयन्ति न वयं कुमारस्य विरुद्धाः नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य अपि तु दुष्टामात्या अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति"।—दिव्यावदान, पृष्ठ ३७१।

५. "राज्ञोऽशोकस्योत्तरापथे तक्षशिला नगरं विरुद्धम"—वही, पृष्ठ ४०७।

६. "न वयं कुमारस्य विरुद्धा न राज्ञोऽशोकस्यापि तु दुष्टात्मानोऽमात्या आगत्यास्माकं अपमानं कुर्वन्ति"—वही, पृष्ठ ४०७

पदाधिकारियों के द्वारा उसने इनके पास सन्देश भेजा कि वे दुखी न हों। वे राजा में विश्वास रखें। वह उनके सुख की पूर्ण व्यवस्था करेगा।[१] धौली के लेख में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तक्षशिला के नागरिकों के कल्याण के लिये अशोक ने 'नगर-व्यवहारक' नामक महामात्रों की नियुक्ति की थी। उनके पास इसने राजकीय सन्देश भेजा कि वे सभी उसे पुत्र के तुल्य हैं। वह उनके ऐहिक एवं पारलौकिक हित की पूर्ण व्यवस्था करेगा।[२]

मौर्यों के उपरान्त यह नगर "इण्डो-बैक्ट्रियन" राजाओं के साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। उन्होंने लगभग १२५ वर्षों तक यहाँ राज्य किया। तक्षशिला के ऊपर इनके आधिपत्य के सम्बन्ध में बेसनगर का गरुड़स्तम्भ-लेख सबसे महत्वपूर्ण अभिलेख-साक्ष्य है। इसके अनुसार तक्षशिला के यूनानी शासक अन्तियालकिदास के दरबार से भागवत मतावलम्बी हेलिओदोरस नामक राजदूत शुङ्ग-नरेश भागभद्र (भद्रक) के दरबार में आया था।[३] यवनों के काल में एक निश्चित योजना के अनुसार इस नगर का पुर्ननिर्माण किया गया।[४] इनके शासन ने तक्षशिला की कला को विशेष रूप से प्रभावित किया। मुद्रानिर्माण की शैली परिवर्तित हुई। पहले यहाँ पर 'पञ्च-आहत-मुद्राएँ' प्रचलित थीं, जो कि बनावट में भद्दी और कुरूप हुआ करती थीं। अब यूनानी ढङ्ग पर सिक्के ढाले गये। इनकी तौल एथेंस की मुद्राओं की तौल के आधार पर निर्धारित हुई। इनके ऊपर विरुद यूनानी भाषा में उत्कीर्ण की गई। राजाओं के चित्र एवं मुद्राओं के प्रकार यूनानी आदर्श पर आधारित थे। इस काल के भीतर तक्षशिला के कलाकारों ने जो मृण्मयी मूर्तियाँ एवं बर्तन बनाये, उनके ऊपर यूनानी प्रभाव स्पष्ट रूप में था।[५] विद्वानों का अनुमान है कि इस नगर में शिल्पविद्या के विद्यार्थियों को यूनानी आधार पर मुद्राओं एवं प्रतिमाओं का

---

१. "अनु (विगि) न ह्वे (यू) ममियाये (अ) स्वसेयु च मे सुख मेव च लहे (यू) ममते (नो) (दु) ख"--सरकार, वही, पृष्ठ ४६।

२. "सवे मुनिसे पजा मम (।) अथ (।) पजाये इछामि हक (   ) (किंति) (स) वे (न) (हि) तसुखेन हिदलो (किक) पाललोकिके (न) (यूजेवू) (ति) तथा (सव) (मुनि) सेसु पि (इ) छामि।"—वही, पृष्ठ ४२।

३. "देवदेवस वासुदेवस गरुडध्वजे अयं कारिते इअ हेलिओदोरेण भागवतेन दियसपुत्रेण तख्खसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अन्तलिकितस उप(ता) सकासं रजो कोसीपुत्रस भागभद्रस।"—वही, पृष्ठ ९१।

४. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ १२।

५. अल्टेकर, ए० इ० एं० इ०, पृष्ठ १०८।

निर्माण करना सिखाया जाता था। "इण्डो-बैक्ट्रियन" शासन ने भाषा एवं साहित्य को भी प्रभावित किया होगा। तक्षशिला के यूनानी शासकों को ऐसे पदाधिकारियों की आवश्यकता पड़ी होगी, जो कि यूनानी भाषा से अभिज्ञ हों। इस निमित्त इस नगर के आचार्यों ने यूनानी भाषा एवं साहित्य को सीखा होगा तथा अपने कुछ विद्यार्थियों को इसकी शिक्षा दी होगी।[1] शासक की भाषा के यूनानी होने के कारण बहुतों ने इसे सीखने की चेष्टा की होगी। यूनानी राजाओं ने अपने देश के नाटकों का अभिनय कराया होगा। इससे लोगों की अभिरुचि यूरोपीडिज़ और सोफोक्लिज़ की कृतियों के अध्ययन में जाग्रत हुई होगी। इस दृष्टि से तक्षशिला की शिक्षापद्धति के ऊपर यूनानी प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।[2] ऐपोलोनियस के अनुसार पहली शताब्दी ईसवी में इस नगर के भारतीय एवं यूनानी एक दूसरे के दर्शन को जानते थे। इसके आसपास के ग्रामनिवासी यूनानी भाषा लिख और समझ सकते थे। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यूनानियों के शासनकाल में यूनानी अनुशीलन तक्षशिला के पाठ्यक्रम में सम्मिलित था।[3]

इण्डो-बैक्ट्रियन राज्य के अधःपतन के उपरान्त यह नगर शकों और कालान्तर में पह्लव राजाओं के अधीन था। जिस समय पह्लव सम्राट् फ्राओट्स इस नगर में राज्य कर रहा था, उस समय उसके दरबार में ४४ ई० के लगभग तियाना का ऐपोलोनियस यहाँ आया था। वह लिखता है कि यह नगर 'निनवेह' के समान विशाल आकार का था।[4] यूनानी नगरों की भाँति इसकी किलेबन्दी की गई थी। इसकी सड़कें बनावट में एथेंस की सड़कों से मिलती जुलती थीं। नगर के अधिकांश घर प्रायः एक ही मञ्जिल के थे। नगर के भीतर एक प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर वर्तमान था। यहाँ के राजकीय प्रासाद से बहुत अधिक सादगी टपकती थी। इस दृष्टि से यह बैबीलोनिया के राजप्रासादों से कुछ विभिन्न था।[5] प्रथम शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध में यह नगर कुषाणों के द्वारा छीन लिया गया। इन्होंने यहाँ पर कई शताब्दियों तक राज्य किया। तक्षशिला से कुषाणों के काल का एक लेख (तक्सिला सिलवर स्काल इंसक्रिप्शन) मिला है। इसमें यहाँ के धर्मराजिका स्तूप का उल्लेख मिलता है। इस लेख के अनुसार

---

१. अल्टेकर, वही, पृष्ठ १०८।

२. वही, पृष्ठ १०८।

३. वही, पृष्ठ १०९।

४. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ १५।

५. मार्शल, वही, १५।

उरशादेशीय इन्तप्रिय के पुत्र के द्वारा, जो कि बाह्लिक एवं नवाचल नगर का रहने वाला था, धर्मराजिका स्तूप के समीप वर्तमान अपने बोधिसत्व-गृह में भगवान गौतम बुद्ध का देहावशेष पुण्यार्जन के निमित्त प्रतिष्ठापित किया गया।[1]

चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम चरण में फाहियान तक्षशिला आया था। बोधिसत्व के जीवन से सम्बन्धित स्थानों का उसने दर्शन किया था। वह लिखता है कि यहाँ पर कई स्तूप बने हुए थे, जहाँ सभी वर्गों के लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पूजा चढ़ाते थे। उसके अनुसार यहाँ पर फूल चढ़ाने वालों एवं दीपक चढ़ाने वालों की भीड़ बराबर लगी रहती थी।[2] पाँचवीं शताब्दी में इस नगर के ऊपर हूणों के आक्रमण हुए। ये स्वभाव से बहुत ही बर्बर तथा ध्वंसकारी थे। इन लोगों ने नगर के भीतर वर्तमान मठों और विहारों को काफी क्षति पहुँचाई। जिस समय सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में य्वान् च्वाङ्ग इस नगर में पहुँचा, उस समय इसकी शोभा क्षीण हो चुकी थी। उसके अनुसार इस नगर की परिधि १० 'ली' (लगभग २ मील) थी। इसके अधिकांश मठ ध्वस्त हो चुके थे। नगर के भीतर बौद्धभिक्षुओं की संख्या सबसे अधिक थी। वे महायान धर्म के अनुयायी थे। यहाँ का स्थानीय शासक काश्मीर-नरेश के अधीनस्थ था। वह लिखता है कि यहाँ का जलवायु उत्तम था। उसके अनुसार नगर की उत्तर-पश्चिम दिशा में थोड़ी दूर पर 'एलापत्र का सरोवर' था, जिसके निर्मल जल में विभिन्न रङ्ग के कमल खिले हुए थे। इसके दक्षिण-पूर्व में पास ही अशोक का एक स्तूप था, जिसकी ऊँचाई १०० फीट थी।[3]

नगर के उत्तर में अशोक के द्वारा बनवाया हुआ एक दूसरा स्तूप था। लोग इसके चमत्कार में विश्वास करते थे। तत्कालीन एक जनपरम्परा के अनुसार एक स्त्री इसकी आराधना के फलस्वरूप चर्मरोग से मुक्त हो गई थी। इसके पास ही एक प्राचीन विहार था, जिसमें कुमारलब्ध नामक सौत्रान्तिक बौद्ध आचार्य ने अपने सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया था।[4] नगर के दक्षिणपूर्व में अशोकनिर्मित एक और स्तूप था। यह ऊँचाई में १०० फीट के लगभग था। स्थानीय परम्परा के अनुसार कुणाल की सौतेली माँ ने इसी स्थान पर उसकी आँखें निकलवा ली

---

१. "तेण इमे प्रविस्तवित भगवतो धतुओ धमरइये तक्षशिलये तणुक्ये बोधि-सत्व-गहमि।"—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ १२९।

२. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ३२।

३. वाटर्स, १, २७०।

४. वही, १, ३८०।

थी।[1] चीनी यात्री ने नगर के आसपास के कतिपय अन्य स्तूपों और विहारों का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार यहाँ पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी बहुसंख्या में रहते थे। वे अनवरत तपश्चर्या में संलग्न रहा करते थे। इसके सिद्धान्त अधिकांशतः बौद्ध धर्म से लिये गये थे। इनके आचार-सम्बन्धी कतिपय नियम थे, जिनका पालन प्रत्येक के लिये अनिवार्य था। बड़े शिष्य भिक्षु तथा छोटे शिष्य श्रमण कहलाते थे। इन लोगों की देव प्रतिमाएँ गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं की भाँति हुआ करती थीं। इनकी धार्मिक क्रियाएँ बौद्ध परिपाटी के तुल्य थीं। वे लोग अपने सिर के बाल को बहुत छोटा रखते थे और प्रायः नङ्गे रहते थे। उनमें से कुछ कभी-कभी श्वेत रङ्ग का वस्त्र पहन लिया करते थे। इन विभिन्नताओं के कारण वे क्रमशः बौद्धों से पृथक् हो गये थे।[2]

तक्षशिला के अवशेष आधुनिक रावलपिण्डी के उत्तर-पश्चिम में लगभग २० मील की दूरी पर स्थित हैं। इसके दर्शक को आज भी अनुमान होता है कि इसकी प्राकृतिक स्थिति बहुत ही अनुकूल थी। इसकी रक्षा के प्राकृतिक साधन, भूमि की उर्वरता तथा प्राचीन व्यापारिक मार्गों के साथ इसका सम्बन्ध इसके आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे।[3] तक्षशिला के भग्नावशेष एक दूसरे से लगभग साढ़े ३ मील की दूरी पर तीन स्थानों से उपलब्ध हुए हैं:—(१) भिर माउण्ड, (२) सरकप तथा (३) सिरसुख। भिर माउण्ड उत्तर से दक्षिण तक १२१० गज और पूर्व से पश्चिम तक ७३० गज लम्बा है। स्थानीय परम्परा के अनुसार तक्षशिला सबसे पहले भिर माउण्ड पर ही बसा हुआ था।[4] उत्खनन साक्ष्य के द्वारा भी इसका समर्थन हुआ है।[5] जमीन की सतह से भिर माउण्ड की ऊँचाई लगभग ७० फीट है।[6]

इस स्थान पर बसा हुआ नगर वैज्ञानिक ढङ्ग पर बनाया गया था। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भिक भाग में पञ्जाब की विजय के उपरान्त 'इण्डो-बैक्ट्रियन' राजाओं ने सरकप के स्थान पर तक्षशिला के नये नगर का निर्माण किया। तदुपरान्त ईसा की आदिम शताब्दी के अन्त तक यह नगर इसी स्थान पर वर्तमान था।

---

१. वाटर्स १, २८२।
२. वही, २, २८८।
३. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ ४१।
४. वही, पृष्ठ ३।
५. वही, पृष्ठ ३।
६. वही, पृष्ठ ३।

इस काल के भीतर इण्डो-बैक्ट्रियन शासकों के पश्चात् शक, पह्लव एवं कुषाणों ने यहाँ पर राज्य किया। पञ्जाब की एक स्थानीय परम्परा के अनुसार सरकप का यह नाम तन्नामधारी एक राक्षस के नाम पर पड़ा था।[1] इण्डो-बैक्ट्रियन राजाओं के काल में इस नगर के चतुर्दिक एक मिट्टी की दीवाल थी। इसके कुछ भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं। स्थानीय लोग इसे धूलकोट कहते हैं।[2] परन्तु कालान्तर में शक सम्राट् ऐज़ेज प्रथम के काल (५० ई० पू०) में इसके चारो ओर एक पक्की दीवाल खड़ी की गई। इसमें पत्थर चुनकर लगाये गये थे। यह दीवाल लगभग साढ़े तीन मील लम्बी थी। इसकी चौड़ाई १५ फीट से लेकर साढ़े २१ फीट तक थी। इस दीवाल में स्थान-स्थान पर तीन मञ्ज़िलों वाले बुर्ज़ बने हुए थे। बुर्ज़ की दूसरी ओर तीसरी मञ्जिल के ऊपर नगर-रक्षक सैनिक रहा करते थे।[3] बुर्ज़ के ऊपर चढ़ने के लिये अन्दर से सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। दीवाल में प्रत्येक दिशा में एक बड़ा द्वार बना हुआ था। इनमें उत्तरी द्वार निर्माण की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण था। यह ऐसे स्थान पर बना हुआ था, जहाँ से आकस्मिक आक्रमण सरलता के साथ रोका जा सकता था। इसमें द्वारमार्ग एक विशाल कमरे के आकार का बना हुआ था, जो ६२ फीट लम्बा तथा ३५ फीट चौड़ा था। इसमें रक्षकों के ४ कमरे भी बने हुए थे। इनमें से दो कमरे द्वार के अत्यन्त समीप तथा दो कुछ दूरी पर बने थे।[4]

सरकप के प्राचीन अवशेषों में सबसे महत्वपूर्ण वहाँ का राजमहल है। यह बहुत ही विशाल बना हुआ था तथा नगर के मध्य में स्थित था। इसकी दीवालों और खम्भों में पत्थर चुनकर लगाये गये थे। इस राजमहल की विशेषता इसकी सादगी थी। यह बनावट की दृष्टि से असीरिया के राजमहलों के समान था। इस राजमहल का निर्माण पह्लवों के काल में हुआ था। पह्लव-काल में असीरिया के राजमहलों के उदाहरण पर इस राजप्रासाद का निर्मित होना कोई आश्चर्य-जनक नहीं था। असीरिया की सभ्यता का बहुत बड़ा प्रभाव फारस एवं बल्ख आदि समीपवर्ती देशों के ऊपर था। पह्लव इन देशों की प्राचीन सभ्यता की परम्परा में आते थे। नागरिकों के घर भी बहुत सादे बने हुए थे। मार्शल महोदय का

---

१. मार्शल, वही, पृष्ठ ६५।

२. वही, पृष्ठ ५–६।

३. वही, पृष्ठ ६५।

४. वही, पृष्ठ ६६।

५. वही, पृष्ठ ६७–७०।

मत है कि भिर माउण्ड के घरों से ये अधिक अच्छे थे। शास्त्रों में वर्णित चतुःशाल घरों की पद्धति पर इनका निर्माण किया गया था। इनकी दीवालों के ऊपर मिट्टी का गाढ़ा लेप मिलता है।[1]

सबसे बाद में यह नगर सिरसुख में बसाया गया। इसका निर्माण कुषाणों के राज्यकाल में पहली शताव्दी में किया गया। इसके चतुर्दिक एक पत्थर की दीवाल बनी हुई थी, जिसकी चौड़ाई साढ़े १८ फीट थी।[2] सरकप और सिरसुख के दुर्गों में कई दृष्टियों से अन्तर था। सिरसुख के दुर्ग में चिकने पत्थरों की चुनाई की गई थी। इसकी समता में सरकप के दुर्ग में चुने हुए पत्थर खुरदरे थे। सिरसुख की दीवाल में छिद्र बने हुए थे। दुर्ग के भीतर के सैनिक बाहर की शत्रु-सेना के ऊपर इन छिद्रों से बाण फेंका करते थे। सरकप के बुर्ज़ आयताकार तथा अन्दर से ठोस बने हुए थे। परन्तु सिरसुख के बुर्ज़ अर्द्धवृत्ताकार थे तथा इनका भीतरी भाग ठोस नहीं था। सिरसुख का नगर आयताकार बना हुआ था। रक्षा के प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त कृत्रिम साधनों से भी यह अधिक युक्त था।[3]

तक्षशिला के प्राचीन स्मारकों में धर्मराजिका स्तूप विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दिव्यावदान में अशोक की उपाधि "धर्मराज" दी गई है। इसके आधार पर प्रोफेसर फोगेल का कहना है कि इसका निर्माण अशोक के राज्य-काल में हुआ था।[4] दिव्यावदान में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अशोक धर्म-राजिका का निर्माणकर्ता था।[5] तक्षशिला में अशोक ने अपने पिता के राज्यकाल में अपने जीवन के कई वर्ष बिताये थे। यह नगर उसके राज्य के उत्तर-पश्चिम प्रान्त का सबसे प्रधान नगर था। अशोक ने तत्कालीन विशिष्ट नगरों में स्तूपों का निर्माण कराया था। ऐसी दशा में तक्षशिला में उसके द्वारा स्तूपों का निर्माण असम्भाव्य नहीं है। इस नगर के स्तूपों में सबसे प्राचीन यही है। अतएव इससे भी प्रतिपादन होता है कि यदि अशोक ने यहाँ पर किसी स्तूप का निर्माण कराया, तो वह यही था। यह स्तूप वृत्ताकार है एवं एक चबूतरे के ऊपर बना हुआ है। चबूतरे के ऊपर चढ़ने के लिये चारो ओर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। स्तूप के चतुर्दिक चबूतरे पर प्रदक्षिणापथ बना हुआ है। इसकी चौड़ाई ११ से लेकर १२ फीट तक है। इस

---

१. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ ७१।
२. वही, पृष्ठ ९४।
३. वही, पृष्ठ ९५-९६।
४. वही, पृष्ठ ३७।
५. दिव्यावदान, पृष्ठ ३७२।

स्तूप के निर्माण में पत्थरों का भी उपयोग हुआ है।[१] तक्षशिला के अन्य स्मारकों में कुणाल का स्तूप है जिसका उल्लेख य्वान् च्वाङ्ग ने अपने यात्रा-विवरण में किया है। जिस समय वह भारत में आया, उस समय यह नगर सिरसुख में बसा हुआ था।[२] मार्शल ने इस स्तूप की पहचान इस स्थान पर वर्तमान एक स्तूप से की है। इसका आधार आयताकार है। यह पूर्व से पश्चिम तक ६३ फीट ९ इञ्च तथा उत्तर से दक्षिण तक १०५ फीट १ इञ्च है। आधार के ऊपर क्रमशः तीन चबूतरे बने हुए हैं। प्रस्तर-खण्डों के उपयोग द्वारा इसे ठोस बनाने की चेष्टा की गई है।[३]

तक्षशिला की पुरातत्व-सामग्री के अध्ययन के विषय में गन्धार-कला उल्लेखनीय है। यह नगर इस कला का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। उत्तर-पश्चिम भारत में स्थित होने के कारण अपने इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही यह नगर विदेशी सम्पर्क में बना रहा। इस नगर में यूनानियों, पारसीकों, शकों, पह्लवों एवं कुषाणों में अधिकांश बस गये थे। यही कारण है कि यहाँ की कला के ऊपर पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गन्धार-कला का विषय यद्यपि पूर्ण रूप से भारतीय है, तथापि इसकी शैली निर्विवाद रूप से विदेशी है। यह कला प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक विशेष रूप से प्रचलित थी। इस शैली में निर्मित मूर्तियाँ अधिकांशतः गौतम बुद्ध की हैं। तक्षणकारों ने इनके निर्माण में सौन्दर्य को प्रधानता दी थी। इनके निर्माण में स्वातघाटी के भूरेदार प्रस्तर-खण्डों का उपयोग किया गया। मूर्तियों के वस्त्र पतले एवं व्यावर्तनयुक्त दिखाये गये। सिर के बाल यूनानी मूर्तियों में प्रदर्शित बालों की भाँति कुटिल हैं। गौतम की कुछ मूर्तियाँ बनावट की दृष्टि से यूनान की एपोलो की मूर्तियों से साम्य रखती हैं। तक्षशिला से मिले हुए इस कला के उदाहरण इस नगर के तक्षणकारों की कला-कुशलता के ज्वलन्त प्रतीक हैं।

प्रवरपुर—इसकी स्थापना प्रवरसेन द्वितीय ने की थी।[४] यही कारण है कि इसका नाम प्रवरसेनपुर पड़ा। इसका संक्षिप्त नाम प्रवरपुर था। प्रवरसेन द्वितीय का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध था। अतएव इस नगर का इतिहास

---

१. धर्मराजिका स्तूप के स्थापत्य के लिये द्रष्टव्य—मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ ३५–४८।

२. मार्शल, गाइड तक्सिला, पृष्ठ ६०।

३. वही, पृष्ठ ६२।

४. आरेल स्ताइन, राजतरङ्गिणी, १,८४।

इसी समय से प्रारम्भ होता है।[१] सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री य्वान्-च्वाङ्ग ने इसे 'नवनगर' कहा है। उसके वर्णन से लगता है कि काश्मीर की राजधानी इसी नगर में प्रतिष्ठित थी। उसने काश्मीर की पुरानी राजधानी पण्ड्रेठन (पुराणाधिष्ठान) से इसकी पृथकता स्थापित करते हुए इसके अचिराधिष्ठित पुर होने की ओर सङ्केत किया है।[२] राजतरङ्गिणी में इस नगर की स्थापना के सम्बन्ध में एक आख्यानात्मक वर्णन उपलब्ध होता है।[३]

विक्रमाङ्कदेवचरित में इसे काश्मीर का प्रधान नगर बताया गया है (काश्मीरेषु प्रवरपुरमित्यस्ति मुख्यं पुराणाम्)।[४] वितस्ता (झेलम) की कुटिल तरङ्गों के कारण इस नगर की छटा द्विगुणित हो उठती थी (यस्यायान्ति प्रकृतिकुटिलास्ते वितस्तास्तरङ्गाः)।[५] इसमें शास्त्रों में पारङ्गत ब्राह्मण रहते थे, जो धार्मिक क्रियाओं के अनुष्ठान में तल्लीन थे (यस्मादुच्चैः स्फुटितमहसां ब्राह्मणानां निवासाः)।[६] इसके उद्यानों की छटा रमणीक थी।[७] इस नगर की शोभा यक्षपुरी, कुवेरपुरी तथा लङ्का के सौन्दर्य को झूठा सिद्ध कर देती थी।[८] ग्रीष्मऋतु में तापशान्ति के लिए यहाँ शीतल गृह बने हुए थे।[९] इस नगर के शिष्ट कुलों की महिलाएँ संस्कृत एवं प्राकृत में बात कर सकती थीं।[१०] आठवीं शताब्दी के चीनी लेखों में प्रवरपुर का नाम उपलब्ध होता है।[११]

---

१. आरेल स्ताइन, राजतरङ्गिणी, पृष्ठ ८४।
२. वही, पृष्ठ ८५।
३. राजतरङ्गिणी, ३, ३३९–४९।
४. विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८।
५. वही, सर्ग १८।
६. वही, सर्ग १८।
७. "उद्यानेभ्यः सकलभुवनाश्चर्यमाधुर्यधुर्यं।
पीत्वा द्राक्षारसमिव करैर्जातसन्तापशान्तिः॥"—वही, सर्ग १८।
८. "यक्षग्रस्ता धनपतिपुरी निष्कलङ्का न लङ्का।
सातङ्केव त्रिदशनगरी मेरुपृष्ठेऽधिरूढ़ा॥"—वही, सर्ग १८।
९. "भीष्मग्रीष्मक्लमविरतये सर्वसाधारणत्वम्।
यस्मिन्नायान्त्यपि हिमशिलाशीतलानि स्थण्डिलानि॥"—वही, सर्ग १८।
१०. "यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव।
प्रत्यावासं विलसति वचः संस्कृतं प्राकृतं च॥"—वही सर्ग १८।
११. आरेल स्ताइन, राजतरङ्गिणी, पृष्ठ ८४।

राजतरङ्गिणी में प्रवरपुर का प्रचुर उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार एक बार ललितादित्य मुक्तापीड़ ने मदोन्मत्त होकर अपने सचिवों को प्रवरपुर जला डालने की आज्ञा दी। पर उन्होंने चतुराई के साथ कार्य किया। नगर के सीमा-प्रान्त पर घोड़ों के खाने के निमित्त घास की एक ऊँची ढेर लगी हुई थी। उनकी आज्ञा के अनुसार इसमें आग लगा दी गई। ललितादित्य ने अपने प्रासाद की छत से अग्नि की लपटों को देख कर समझा कि मन्त्रियों ने उसकी आज्ञा को पूर्ण किया। पर उन्माद के उतरने पर उसे अपनी इस कृति पर पश्चात्ताप हुआ तथा अत्यन्त दुःख से वह आक्रान्त हो उठा। मन्त्रियों ने उसकी यह दशा देख कर उसे वास्तविक बात बता दी। इसे सुन कर उसे उसी प्रकार प्रसन्नता हुई, जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वप्न में अपने पुत्र को मरा समझ कर क्लेशयुक्त तथा उसके उपरान्त जगने पर उसे वह देख कर सुखी होता है।[१]

राजतरङ्गिणी के अनुसार इस नगर में कुछ मठ बने हुए थे, उदाहरणार्थ भट्टारक-मठ तथा सङ्ग्रामकक्षेत्र-मठ। दिद्दा ने अपने पुत्र को भट्टारक-मठ में भेजा था।[२] सङ्ग्रामकक्षेत्र-मठ का निर्माण काश्मीर के अनन्तदेव नामक नरेश के द्वारा किया गया था।[३] वहाँ के हलधर नामक सम्राट् ने इस पुर में झेलम तथा सिन्धु नदी के सङ्गम पर एक मठ बनवाया था।[४] इस नगर में कुछ मन्दिर भी बने हुए थे। उदाहरणार्थ अनन्तदेव की भार्या ने वहाँ एक शिव-मन्दिर का निर्माण किया। इसके समीप एक गोष्ठागार भी बना हुआ था।[५] प्रवरसेन द्वितीय ने भी वहाँ एक शिव-मन्दिर का निर्माण किया था। इसकी छत में एक छिद्र बना हुआ था। इसके सम्बन्ध में काश्मीर में कथा प्रचलित थी कि प्रवरसेन इससे होकर सदेह स्वर्ग गया

---

१. "श्रुते प्रनष्टे नगरे निःशोकोऽभून्महीपतिः।
स्वप्नान्तर्हारिते पुत्रे प्रबुद्धोऽग्रे इव स्थिते।।"
—राजतरङ्गिणी, ४, ३१९।

२. "प्रविष्टेषु ततः कोपात्पुरं शुभधरादिषु।
भट्टारकमठे दिद्दा भूयः पुत्रं व्यसर्जयत्।।"
—वही, ६, २४०।

३. वही, ७, १८५।

४. "तेनायासहृता नीतः कचत्स्वर्णैः सुरास्पदैः।
शोभा मठाग्रहारैश्च वितस्तासिन्धुसङ्गमः।।"
—राजतरङ्गिणी, ७, २१४।

५. वही, ७, १८०।

था। इसका उल्लेख राजतरङ्गिणी[1] तथा विक्रमाङ्कदेवचरित[2] दोनों ग्रन्थों में हुआ है। इस नगर की पहचान आधुनिक श्रीनगर (का-मीर की राजधानी) से की जाती है। पण्डितवर्ग में अब भी इस नगर को प्रवरपुर कहा जाता है।[3]

शाकल—इसे ब्राह्मण ग्रन्थों में शाकल, बौद्ध साहित्य में सागल तथा यूनानी लेखों में सङ्गल कहा गया है। इसका प्रथम उल्लेख महाभारत में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार यहाँ पर मद्र देश की राजधानी विद्यमान थी।[4] एरियन, कर्टियस तथा डिओडोरस ने इस नगर की काफी प्रशंसा की है। इनके अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय वहाँ कठ जाति के लोग राज्य करते थे। कर्टियस लिखता है कि उस समय इसके चतुर्दिक एक ऊँची दीवाल तथा गहरी खाई थी। यूनानी सैनिकों से जान बचाने के लिये कुछ नागरिकों ने इसे तैर कर पार किया था।[5] एरियन ने इस परिखा को झील कहा है।[6] इस नगर के बाहर एक छोटी पहाड़ी थी, जिस पर सिकन्दर के आक्रमण के समय कठ लोगों का सैनिक शिविर पड़ा हुआ था।[7]

मिलिन्दपञ्हो में इसे 'योनकानं नगरम्' कहा गया है। इसका कारण है कि यहाँ पर यवनराज मिलिन्द (मेनेण्डर) की राजधानी प्रतिष्ठित थी। इस ग्रन्थ के अनुसार इसमें आराम, उद्यान तथा तड़ाग बने हुए थे (पवनतडागपोक्खरणी-सम्पन्नम्)। नदी एवं पर्वत के कारण इसकी शोभा परम रमणीया थी (नदीपव्वत-वनारामणेय्यकम्)। इसके चतुर्दिक प्राकार तथा परिखा का निर्माण किया गया था। प्राकार में द्वार तथा बुर्ज बने हुए थे (वरगोपुरतोरणं गम्भीरपरिखापण्डर-पाकारपरिक्खित)। नगर के भीतर सुन्दर राजमार्ग, नालियाँ तथा चौराहे बने

---

१. "एवं स भुवनैश्वर्यं भुक्त्वा भूमिभृतां वरः।
अनेनैव शरीरेण भेजे भूतपतेः सभाम्॥"
—वही, ६, ३७७।

२. "यद्यातस्य प्रवरनृपतेर्या शरीरेण सार्धं।
स्वर्गद्वारप्रतिममुपरिच्छिद्रमद्यापि धत्ते॥"
—विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८, २८।

३. आरेल स्ताइन, राजतरङ्गिणी, पृष्ठ ८४।

४. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ३६८।

५. वही, पृष्ठ ३६९।

६. वही, पृष्ठ ३७०।

७. वही, पृष्ठ ३७१।

हुए थे (सुविभक्त वीथिचच्चरचतुक्कसिङ्घाटकम्)। बाजारों में अनेक प्रकार के भाण्ड सुसज्जित थे (सुप्पसारितानेकविधवरभण्डपरिपूरितन्तरापणम्)। इसमें तरह-तरह के पुष्पों एवं सुगन्धित द्रवों की महक आ रही थी (बहुविधपुप्फगन्धापणगन्धगन्धितम्)। नगर के भीतर श्रेष्ठ उत्तुङ्ग प्रासाद सहस्रों की संख्या में पंक्तिबद्ध थे।(हिमगिरिसिखरसङ्कासवरभवनसतसहस्सप्पटिमण्डितम्)।

वहाँ के नागरिकों के कोष में कार्षापण, रजत तथा सुवर्ण मुद्राएँ बहुसंख्या में एकत्र थीं (कहापणरजतसुवणकंसपत्थरपरिपूरं)। इस नगर में रहने वाले पुरुष तथा स्त्रियाँ शिष्ट थीं (अभिरूपनरनारीगणानुचरितम्)। निरन्तर हाथियों, अश्वों, रथों तथा नगर-महिलाओं के सम्भ्रमण के कारण वीथियों की शोभा अन्वेक्षणीय थी। यह नगर विभिन्न धर्मों के अनुयायियों तथा नाना सदस्यों के द्वारा परिपूर्ण था। लगता था, मानो साक्षात् देवपुरी पृथ्वी पर उतर आई हो (आलकमन्दाविय देवपुरम्)।[१]

इसके अनन्तर इस नगर का उल्लेख य्वान् च्वाङ्ग के यात्रा-विवरण में मिलता है। उसके आगमन के समय यह उजड़ चुका था। नगर-प्राकार के भग्नावशेष साफ दृष्टिगोचर हो रहे थे। इसकी नींव २० ली (३$\frac{१}{३}$ मील) के घेरे में फैली हुई थी। नगर के खण्डहरों के बीच ६ ली (१ मील) के क्षेत्र में एक छोटी आबादी उस समय भी वर्तमान थी। वहाँ पर एक मठ था, जिसमें हीनयान मत के अनुयायी एक सौ भिक्षु रहते थे। उसके समीप दो सौ फीट ऊँचा एक स्तूप भी था। इससे ६ ली (१ मील) की दूरी पर अशोक के द्वारा निर्मित एक दूसरा स्तूप था।[२] इस नगर की पहचान आधुनिक स्यालकोट से की जाती है।[३]

---

१. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ २।
२. वाटर्स, १, २९०।
३. वही, २, ३३७।

अध्याय ५

मध्य-देश के नगर

थानेश्वर--इसका प्राचीन नाम स्थाण्वीश्वर (स्थाणु तथा ईश्वर शब्दों के संयोग से बना हुआ) था। इस नगर के बहुमुखी विकास का मनोरम विवरण हर्षचरित की पंक्तियों में उपलब्ध होता है। इसके सौन्दर्य को देखने से ऐसा आभास होता था, मानो वह स्वर्ग का एक देश हो (एकदेश इव सुरराजस्य)।[1] वहाँ के धवल गृह सुधा-रस से सिक्त लगते थे। उनमें मधुपान से मतवाली कामिनियों के आभूषणों की आवाज व्याप्त रहती थी। दर्शक इसे देख कर आश्चर्यचकित हो उठता था। उसे वह कुबेर की नगरी अलका का बदला हुआ रूप प्रतीत होता था।[2]

काव्यात्मक भाषा में इस नगर के ऐश्वर्य का वर्णन करता हुआ लेखक कहता है कि यह मुनियों को तपोवन, वेश्याओं को कामायतन (कामोपभोग का स्थान), नर्तकों को सङ्गीतशाला, शत्रुओं को यमनगर, याचकों को चिन्तामणि की भूमि, शस्त्रोपजीवियों को वीरक्षेत्र, विद्यार्थियों को गुरुकुल, गायकों को गन्धर्व-नगर, शिल्पियों को विश्वकर्ममन्दिर, वणिकों को लाभभूमि, बन्दियों को द्यूतस्थान, सज्जनों को साधुसमागम, शरणागतों को वज्रपञ्जर, विदग्धों को विटगोष्ठी, पथिकों को सुकृतपरिणाम, वातिकों को असुरविवर, भिक्षुओं को बौद्ध विहार, कामियों को अप्सराओं का नगर, चारणों को महोत्सवसमाज तथा विप्रों को धन का प्रवाह सा प्रतीत होता था।[3] पुरललनाएँ गजगामिनी, शीलवती, गौरवर्णा, मधुरभाषिणी एवं लावण्ययुक्ता थीं।[4]

य्वान् च्वाङ्ग के यात्रा-विवरण में इस नगर का नामोल्लेख (स-त-नी-शी-फ-लो)

---

१. हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७१।

२. "नामाभिहार इव कुबेरनगरस्य स्थाण्वीश्वराख्यो जनपदविशेषः"--वही, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७१।

३. वही, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७१--७२।

४. वही, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७२।

हुआ है।[१] अल्बरूनी लिखता है कि समीपस्थ कुरुक्षेत्र के कारण यह नगर धर्म का एक प्रतिष्ठित केन्द्र माना जाता था। इसके दर्शनार्थ लोग प्रभूत संख्या में एकत्र होते थे।[२] उसके अनुसार इसकी पवित्रता का कारण महाभारत के युद्ध में वासुदेव की कृतियों के साथ इसका सम्बन्ध था।[३] महाभारत में इसे सरस्वती तथा दृषद्वती नामक नदियों के बीच स्थित बताया गया है।[४] महाभारत-काल से ही लोगों का विचार था कि जो कुरुक्षेत्र में रहते हैं, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[५]

इन्द्रप्रस्थ—इस नगर का निर्माण पाण्डवों ने किया था। इस स्थान पर पहले एक वन था, जिसको महाभारत में खाण्डव कहा गया है। इसको काट कर इन्द्रप्रस्थ की स्थापना की गई थी। महाभारत से ज्ञात होता है कि यह नगर कई खाइयों के द्वारा घिरा हुआ था (सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलङ्कृताम्)।[६] इसके चतुर्दिक उच्च प्राकार भी था (प्राकारेण च सम्पन्नम्)।[७] प्राकार में बुर्ज़ (अट्टालक) तथा द्वार (गोपुर) बने हुए थे। प्राकार की ऊँचाई पर विध्वंसकारी शस्त्र एकत्र किये गये थे।[८] धवल एवं उत्तुङ्ग भवनों के कारण इस पुर की छटा अन्वेक्षणीय थी (पाण्डुर्भवनोत्तमैः)।[९] सम्पूर्ण भाषाओं के बोलने वाले लोग इसमें रहते थे (सर्व-भाषाविदस्तथा)।[१०] धन-प्राप्ति की इच्छा से वहाँ पर विभिन्न दिशाओं के वणिक्

---

१. वाटर्स, २, ३३७।

२. साचो, २, १४७।

३. वही, २, १४७।

४. "दक्षिणे सरस्वत्याः दृषद्वत्युत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥"

—महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८१, ४।

५. "ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभीप्सितम्।
पापेभ्यो विमुच्यन्ते तद्गता सर्वजन्तवः॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्।
य एवं सततं ब्रूयात्सोऽपि पापैः प्रमुच्यते॥"

—वही, वनपर्व, अध्याय ८१, १–२।

६. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ११९।

७. वही, पंक्ति १२०।

८. वही, पंक्ति ११८।

९. वही, पंक्ति १३१।

१०. वही, पंक्ति १३७।

आते थे।[१] इस नगर में प्रायः सभी प्रकार के कारीगर वर्तमान थे (सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायभ्यागमंस्तदा)।[२] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि यह नगर इस समय एक प्रतिष्ठित केन्द्र था।

इस पुर के विभिन्न भागों में चित्ताकर्षक चित्रशालाएँ बनी थीं (मनोहरैः चित्रगृहैः)।[३] स्थान-स्थान पर वाटिकाएँ थीं, जिनमें तरह-तरह के वृक्ष लगाये गये थे।[४] यहाँ के सरोवरों का जल खिले हुए कमलों के द्वारा सुगन्धित हो गया था। हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियों के कारण उनकी छटा अन्वेक्षणीय थी।[५] यहाँ के नागरिक सुशिक्षित, सभ्य एवं धार्मिक प्रवृत्ति के थे।[६] उनके द्वारा यह नगर अमरावती की शोभा का स्मरण दिला रहा था।[७]

हस्तिनापुर—यह भी प्राचीन भारतवर्ष का एक प्रतिष्ठित नगर था। पाणिनि ने इसे अष्टाध्यायी में हास्तिनपुर कहा है।[८] इस पुर का विशद वर्णन महाभारत की पंक्तियों में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार हस्तिन् नामक व्यक्ति ने इस नगर की नींव डाली थी।[९] पुराणों में भी इसे हस्तिन् के द्वारा बसाया हुआ नगर कहा गया है (हास्तिनं पुरम्)।[१०] महाभारत के अनुसार विभिन्न शस्त्रों के

---

१. "वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः।"—महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १९९, पंक्ति १३८।

२. वही, पंक्ति १३९।

३. वही, पंक्ति १५१।

४. "उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।" महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति १४०।

५. "सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥
—वही, आदिपर्व, अध्याय १९९, श्लोक ७७।

६. "नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम्।" वही, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति १६१।

७. "शुशुभे तत्पुरं श्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा।"—वही, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति १२२।

८. अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ८६।

९. "जज्ञे हस्ती। य इदं पुरं निर्मापयामास तस्माद्हास्तिनपुरत्वम्।"
—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ३, पंक्ति ३७।

१०. विष्णुपुराण, पञ्चम अंश, अध्याय ३५, ३२।

द्वारा सुरक्षित होने के कारण नगर के भीतर शत्रुओं का प्रवेश पाना दुष्कर था।[१] इसके प्राकार में गोपुर बने हुए थे, जो बहुत ऊँचे थे।[२] नगर का भीतरी भाग कई राजमार्गों के द्वारा विभक्त था।[३] सड़कों के दोनों ओर हर्म्य, प्रासाद तथा आपण सुशोभित थे।[४] राजमहल नगर के बिल्कुल बीचोबीच था।[५] इसमें अनेक सरोवर एवं उद्यान थे।[६] इसके नागरिक धनधान्य से सम्पन्न, वर्णाश्रम-व्यवस्था के पालन करने वाले, धर्मनिरत, होमपरायण तथा यज्ञादि में श्रद्धा रखते थे।[७] इनके द्वारा नगर की शोभा इतनी बढ़ गई थी कि वह इन्द्रलोक के समान सुन्दर लगता था।[८] इसके भीतर सूत, मागध तथा बन्दी आदि अपने-अपने कर्मों में निरत थे।[९] ललित-विस्तर में इसके पूर्व रूप का वर्णन करते हुए इसे महानगर कहा गया है।[१०] पुराणों

---

१. "शतघ्नीचक्रयन्त्रैश्च गुप्तामन्यैर्दुरासदाम्।"
—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १०८।

२. "कैलासशिखराकारैर्गोपुरैः समलङ्कृताम्।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति ११२।

३. "राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिताम्।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १११।

४. "हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानापण्यभूषिताम्।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १०९।

५. "एतस्मिन्नगरमध्ये तु राजवेश्मप्रतिष्ठितम्।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १२२।

६. "सर्वपुष्पकरणीभिश्च उद्यानैश्च समावृताम्।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति ११५।

७. "कृतयज्ञैश्च विद्वद्भिरग्निहोमपरैः सदा।
वर्जिताकार्यकरणैर्दानशीलैर्दयापरैः ॥
अधर्मभीरुभिः सर्वैः सर्वलोकजिगीषुभिः ॥"
—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ९६, श्लोक ५८½–५९।

८. "एवंविधजनोपेतं इन्द्रलोकमिवापरम्।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १२०।

९. "संस्तूयमानो...सूतमागधवन्दिभिः।"
—वही, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १२७।

१०. "हस्तिनापुरे महानगरे।"—ललितविस्तर, अध्याय ३।

में इस नगर के विनाश का कारण गङ्गा की बाढ़ को बताया गया है (गङ्गयापहृते हस्तिनापुरे)।[१]

मथुरा—मथुरा भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख किया है।[२] परम्परा के अनुसार इस नगर के संस्थापक राम के छोटे भाई शत्रुघ्न थे। उन्होंने मधुवन को काट कर इस नगर का निर्माण किया था।[३] मधुवन में पहले मधु नामक राक्षस राज्य करता था। मथुरा को बसाने के पूर्व शत्रुघ्न को इस राक्षस का संहार करना पड़ा था।[४] यही कारण है कि यह नगर मथुरा तथा मधुपुरी आदि नामों से भी विख्यात था। प्राचीन ग्रन्थों में मथुरा के लिये कतिपय अन्य नाम भी आते हैं, उदाहरणार्थ **मेथोरा**[५] (Methora), **मदूरा**[६] (Madoura), **म-त-औ-लो**[७] (M–t'aou–lo), **मो-तु-लो**[८] (Mo–tu–lo), **शौरीपुर**,[९] **सूर्यपुर**[१०] तथा **सौर्यपुर**[११]। यहाँ पर शूरसेनों की राजधानी थी। यूनानी लेखकों ने अपने विवरण में इस बात का उल्लेख किया है।[१२]

प्राचीन ग्रन्थों में इस नगर का वर्णन एक समृद्धिशाली नगर के रूप में मिलता है। यहाँ के वणिक बड़ी नावों में अपने मालों को भर कर विक्रय के निमित्त पाटलिपुत्र चले जाते थे। पाटलिपुत्र से भी यहाँ पर व्यापारिक वस्तुओं से भरी हुई नावें आया करती थीं। ऐसा प्रतीत होता था, मानों इन दोनों नगरों के बीच नावों का

---

१. विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश, अध्याय २१, ८।

२. अष्टाध्यायी, ४, २, ८२।

३. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८।

४. "तस्मिन्मधुवनस्थाने मथुरा नाम सा पुरी।
शत्रुघ्नेन पुरा सृष्टा हत्वा तं दानवं रणे।"
—वही, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, ५६।

५. मेक्रिण्डिल, ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ९८।

६. वही, पृष्ठ ९८।

७. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ४२।

८. वाटर्स, १, ३०१।

९. जैन सूत्र (से० बु० ई०), भाग २, पृष्ठ ११२।

१०. वही, पृष्ठ ११२।

११. वही, पृष्ठ ११२।

१२. मेक्रिण्डिल, ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ९४। द्रष्टव्य—लॉ० बी० सी०, इण्डोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ २७–२८।

एक पुल बँधा हो।[१] इन्द्रप्रस्थ, श्रावस्ती, कौशाम्बी तथा वैशाली आदि नगरों के साथ भी यहाँ के नागरिकों ने वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित किया था।[२] प्रारम्भिक काल में इस नगर में सम्भवतः कुछ दोष भी थे, जिनके फलस्वरूप नागरिकों को असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। अङ्गुत्तर निकाय में मथुरा के पाँच दोषों का निरूपण किया गया है—(१) इसकी सड़कें समतल नहीं थीं, (२) कच्ची होने के कारण उनमें निरन्तर धूल जमी रहती थी, (३) इसके भीतर भयङ्कर कुत्ते रहते थे, (४) इसमें कभी-कभी जङ्गली जानवर चले आते थे तथा (५) यहाँ पर भिक्षा बहुत कठिनता के साथ प्राप्त होती थी।[३]

पर कालान्तर में मथुरा में ये दोष नहीं थे, क्योंकि बाद के सभी ग्रन्थों में इनकी ओर कोई भी सङ्केत नहीं मिलता। हरिवंश में इस नगर का सबसे सुन्दर वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर अर्द्धचन्द्राकार था तथा यमुना के तट पर स्थित था।[४] इसके चतुर्दिक एक गहरी खाई (परिखाकुलमेखला) थी तथा मिट्टी का एक प्राकार भी था (प्रांशुप्राकारवसना)।[५] इसमें सुन्दर प्रासाद (प्रासाद-वरकुण्डला), रमणीक उपवन (उद्यानवनसम्पन्ना), हाथी, रथ एवं घोड़े (हस्त्यश्व-रथसङ्कुला) तथा पुरुषार्थी व्यक्ति (अरोगवीरपुरुषा) विद्यमान थे।[६] इसके नागरिक सम्पन्न होने के कारण अत्यन्त प्रसन्नचित्त थे।[७] यहाँ पर सुन्दर बाज़ारें लगती थीं (पुण्यापण्यवती) तथा धनधान्य का बाहुल्य था (रत्नसञ्चयगर्विताम्)।[८]

---

१. "यावच्च मथुरां यावच्च पाटलिपुत्रं अन्तरान् नौसङ्क्रमोऽवस्थापितः।" —दिव्यावदान, पृष्ठ ३८६। द्रष्टव्य—लॉ बी० सी० इण्डोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ ३०।

२. मललसेकर, २, ९३०।

३. "पञ्च इमे भिक्खवे आदीनवा मधुरायम्। कतमे पञ्च? विसमा, बहुरजा, चण्डाशुणखा, वाडायक्खा, दुल्लभपिण्डा।"—अङ्गुत्तर निकाय, ३, २५६।

४. "अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता।"—हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, १२०।

५. "अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता।"—हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४।

६. वही, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४।

७. "नरनारीप्रमुदिता सा पुरी स्म प्रकाशते।"
वही, हरिवंश पर्व, अध्याय ५४।

८. वही, हरिवंश पर्व, अध्याय ५४।

ललितविस्तर में इसे एक विशाल, सम्पन्न तथा बहुत से मनुष्यों के द्वारा आकीर्ण केन्द्र बताया गया है।[१]

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में मथुरा भारत का एक विशिष्ट सांस्कृतिक केन्द्र माना जाता था। इस समय यह नगर शुङ्गों के राज्य में सम्मिलित था। इसकी सांस्कृतिक महत्ता की ओर लक्ष्य करते हुए पतञ्जलि ने (जो कि पुष्यमित्र के समकालीन थे) मथुरा के निवासियों को साङ्काश्य तथा पाटलिपुत्र के नागरिकों से भी अधिक शिष्ट बताया है।[२] शुङ्गों के काल में यवनों ने इस नगर के ऊपर आक्रमण किया। युगपुराण में कहा गया है कि यवनों ने साकेत तथा पाञ्चाल के ऊपर घेरा डालने के उपरान्त मथुरा के ऊपर भी आक्रमण किया था।[३] पतञ्जलि ने भी साकेत तथा माध्यमिका पर यवनों के आक्रमण का उल्लेख किया है (अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्)। इससे विदित होता है कि युगपुराण का उपर्युक्त साक्ष्य ऐतिहासिक तथ्यों से रहित नहीं है। यवनों के इस आक्रमण के कारण मथुरा को कोई विशेष क्षति नहीं उठानी पड़ी, क्योंकि युगपुराण से ही स्पष्ट है कि गृहयुद्ध के कारण इन आक्रमणकारियों को स्वदेश लौट जाना पड़ा।[४]

शुङ्गों के अधःपतन के उपरान्त प्रथम शताब्दी ईसवी में मथुरा में शक क्षत्रपों का अभ्युदय हुआ। इनके तीन अभिलेख तथा कुछ मुद्राएँ यहाँ से प्राप्त हुई हैं। इन मुद्राओं के ऊपर हगामश, राजुल (रंजुवुल) तथा शोडास नामक शक नरेशों के नाम अङ्कित मिलते हैं। मथुरा के सिंहशीर्ष से युक्त स्तम्भलेखों से ज्ञात होता है कि रंजुवुल के राज्यकाल में इस नगर में एक स्तूप तथा सङ्घाराम का निर्माण किया गया तथा नगर में रहने वाले भिक्षुओं के लिये एक धर्मदान भी दिया गया।[५] शोडास के मथुरा के प्रस्तरलेख के अनुसार इस नरेश के कोषाध्यक्ष ने यहाँ पर पुष्करणी, कूप तथा आराम का निर्माण किया था।[६] द्वितीय शताब्दी ईसवी में यह

---

१. "इयं मथुरा नगरी ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा चाकार्णबहुजनमनुष्या।" ललितविस्तर,—अध्याय ३।

२. "साङ्काश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।"—महाभाष्य, २, ४१६।

३. "ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान्मथुरांस्तथा।"—युगपुराण, पृष्ठ ३।

४. "मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवनाः युद्धदुर्मदाः।" युगपुराण, पृष्ठ ३

५. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस,पृष्ठ ११७

६. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ११९

नगर कुषाण-सम्राट् हुविष्क के राज्य के अन्तर्गत था। इसकी पुष्टि मथुरा से प्राप्त उसके लेखों के द्वारा हो जाती है। गुप्तों के आविर्भाव-काल के पूर्व मथुरा में नाग-वंशी नरेश राज्य कर रहे थे। विष्णु-पुराण में इसका उल्लेख हुआ है (नवनागा पद्मावत्यां, कान्तिपुर्यां, मथुरायाम्)। मथुरा के कतिपय नरेश अपने नाम के अन्त में दत्त शब्द लगाते थे। इन दत्तनामान्त शासकों की मुद्राएँ यहाँ से उपलब्ध हुई हैं। समुद्रगुप्त के काल में मथुरा में गणपतिनाग नामक नरेश राज्य कर रहा था। इस नागवंशी शासक को उसने द्वितीय आर्यावर्त युद्ध में परास्त किया तथा उसके राज्य को छीन कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया।

गुप्तों के राज्यकाल में मथुरा एक विशिष्ट केन्द्र माना जाता था। यहाँ से गुप्तकाल के कुछ लेख तथा मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में चीनी यात्री फाहियान इस नगर में आया था। उसने यहाँ के नागरिकों तथा उनकी सभ्यता एवं समृद्धि की प्रचुर प्रशंसा की है। उसके आगमन के अवसर पर यहाँ बहुत से मठ बने हुए थे, जिनमें भिक्षु बहुसंख्या में रहते थे। इस समय इस नगर में बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव था।[१] हर्ष के शासनकाल में य्वान् च्वाङ्ग मथुरा आया था। उसने लिखा है कि इस नगर की परिधि २० ली अर्थात् लगभग ४ मील थी। यहाँ के नागरिक बहुत अच्छे सूती वस्त्रों का निर्माण करते थे। उनकी शिष्टता तथा आचार व्यवहार एवं चरित्र-सङ्गठन से वह बहुत प्रभावित हुआ था। इस यात्री के अनुसार मथुरा के नागरिक गुणग्राही थे तथा विद्वत्ता का आदर करते थे। इसके आगमन के अवसर पर इस नगर में बहुत से स्तूप तथा विहार विद्यमान थे।[२]

मथुरा का सबसे प्रधान व्यवसाय मूर्तिनिर्माण था। कुषाण तथा गुप्त नरेशों के शासनकाल में यह नगर तक्षणकला का सुप्रतिष्ठित केन्द्र माना जाता था। यहाँ पर जो मूर्तियाँ बनाई गईं, उनमें एक प्रभामण्डल मिलता है। कुषाणकालीन मूर्तियों में यह प्रभामण्डल अनलङ्कृत है पर इसके विपरीत गुप्तकालीन मूर्तियों में प्रभामण्डल विविध आकृतियों के द्वारा सुसज्जित है। इन प्रतिमाओं के बाल घुघराले तथा वस्त्र व्यावर्तनयुक्त हैं। यह सम्भवतः "ग्रीको-बैक्ट्रियन" प्रभाव के कारण था। मथुरा में कई वर्षों तक विदेशियों ने शासन किया था। इस कारण मथुरा-कला के ऊपर वाह्य प्रभाव का पड़ना कोई आश्चर्यजनक नहीं था। यहाँ पर बहुधा लाल पत्थर की मूर्तियाँ ढाली गयी थीं।

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ४२।
२. वाटर्स, १, ३०१।

यह नगर प्राचीन भारत का एक विख्यात धार्मिक केन्द्र भी था। टालमी ने इसे देवताओं का नगर कहा है।[1] कृष्ण के जीवन से सम्वन्धित होने के कारण इस नगर में वासुदेव की पूजा का विशेष रूप से प्रचार हुआ। मेगस्थनीज़ ने मथुरा के शूरसेनों के द्वारा 'हेरेक्लिज' की पूजा का उल्लेख किया है।[2] यूनानी लेखक के विवरण में यह शब्द 'वासुदेव-कृष्ण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार मेगस्थनीज़ के साक्ष्य से वासुदेव-पूजा की प्राचीनता तथा मथुरा पर उसका प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। इस नगर से एक नाग-प्रतिमा मिली है। इससे व्यक्त होता है कि यहाँ पर नाग-पूजा का भी प्रचार था। यह मूर्ति कालियनाग तथा कृष्ण के द्वारा उसके दमन वाली कथा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ग्यारहवीं शताब्दी के लेखक अल्वरूनी ने लिखा है कि मथुरा की विशेष प्रसिद्धि वासुदेव (कृष्ण) के साथ इसके सम्वन्ध के कारण थी।[3]

कालान्तर में यहाँ शिवपूजा का भी व्यापक प्रचार हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल का जो स्तम्भलेख मथुरा में प्राप्त हुआ है, उससे विदित होता है कि चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक मथुरा के नागरिकों में शैव धर्म का पर्याप्त सम्मान था। इस अभिलेख के उत्तर भाग में "अथ माहेश्वराणां विज्ञप्तिः क्रियते" शब्द उत्कीर्ण हैं।[4] इससे विदित होता है कि मथुरा में शिवभक्तों का बाहुल्य था। इस लेख के अनुसार यहाँ पर माहेश्वर नामक एक शैव सम्प्रदाय था, जिसका तत्कालीन आचार्य इस नगर का उदिताचार्य नामक निवासी था। वह भगवत कुशिक की दशम पीढ़ी में आता था (भागवत्कुशिकाद्‌शमेन)। इससे स्पष्ट है कि भगवत कुशिक इस सम्प्रदाय का जन्मदाता था। वायुपुराण और लिङ्गपुराण के अनुसार कुशिक शिव महेश्वर के अन्तिम अवतार लकुलि का प्रथम शिष्य था। इस अभिलेख में कुशिक और उदिताचार्य के बीच माहेश्वर सम्प्रदाय के तीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है, उदाहरणार्थ, पराशर, कपिलविमल तथा उपमितविमल। पराशर से गणना करने पर उदिताचार्य चतुर्थ था (पराशराच्चतुर्थेन)। पराशर का शिष्य कपिल-विमल, कपिलविमल का शिष्य उपमितविमल तथा उपमितविमल का शिष्य उदिताचार्य था। उसने अपने आध्यात्मिक लाभ तथा गुरुओं के यश के लिये

---

१. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ३७४।

२. मजुमदार, ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ १८२।

३. साचो, १, १९९।

४. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, २७०।

गुरु-मन्दिर (गुर्व्वायतन) में उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर की स्थापना की थी।[१]

ईश्वर शब्द का तात्पर्य यहाँ पर लिङ्ग से है। लगता है कि उसने माहेश्वर सम्प्रदाय के पूर्वाचार्य कपिलविमल तथा उपमितविमल की पुण्य स्मृति में शिवलिङ्गों की स्थापना उनकी मूर्तियों के सहित की। गुरु-मन्दिर (गुर्व्वायतन) आचार्यों का प्रतिमागृह रहा होगा और उसमें शिवलिङ्ग के साथ अपने आचार्यों की प्रतिमाओं की स्थापना वह कर सकता था। इस लेख में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उदिताचार्य ने यह मूर्ति-स्थापना कोई अपनी ख्याति के लिये नहीं की थी (नैतत्ख्यात्यर्थमभिलिख्यते)।[२] इसमें वह माहेश्वरों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि ये प्रतिमाएँ उसकी कोई अपनी सम्पत्ति नहीं, अपितु आचार्य-सम्पत्ति समझी जायँ (आचार्याणां परिग्रहमिति मत्वा) तथा माहेश्वर सम्प्रदाय के अनुयायी उस पर पूजा-पुरस्कार चढ़ायँ एवं भेंट आदि के द्वारा उनकी रक्षा करें (परिग्रहपरिपाल्यम्)।[३]

इस नगर के धार्मिक जीवन में जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रचार प्रारम्भ से ही विशिष्ट था। महावीर के जीवन-काल में ही यहाँ उनके उपदेशों एवं सिद्धान्तों का प्रचार हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा में जैन धर्म का विशेष प्रचार कुषाणों के काल से हुआ। सम्राट् हुविष्क के काल की यहाँ दो प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनमें से एक पर "नम अरहतव" ("नमः अर्हद्भ्यः") शब्द अङ्कित हैं।[४] इससे स्पष्ट है कि इस नरेश के काल में किसी लेखबद्ध कार्य के प्रारम्भ में जैन अर्हतों की पूजा की जाती थी। इस नगर में बौद्ध धर्म का प्राधान्य कई शताब्दियों तक वर्तमान था। पालि ग्रन्थों के अनुसार गौतम बुद्ध यहाँ कई बार आये थे तथा वहाँ के नागरिकों ने उनका अत्यन्त सम्मान किया था। गौतम के परममेधावी शिष्य महाकच्चायन के निवासस्थान होने के कारण बौद्धमतावलम्बियों की श्रद्धा इस नगर के प्रति विशेष थी। इन्होंने कई महत्वपूर्ण विषयों पर अनेक अमूल्य भाषण दिये, जिनसे प्रभावित होने के कारण लोगों ने बहुसंख्या में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था।[५]

---

१. "आर्योदिताचार्येण स्वपुण्याप्यायननिमित्तं गुरूणां च
कीर्त्यर्थमुपमितेश्वरकपिलेश्वरौ गुर्व्वायतने गुरू प्रतिष्ठापितौ"।
—वही, २७०।

२. वही, २७०।

३. वही, २७०।

४. वही, १५१।

५. अङ्गुत्तर निकाय, १, ६७।

मथुरा की कला में कहीं-कहीं बौद्ध कथाओं का अङ्कन भी मिलता है। वलाहस्स जातक के अनुसार बोधिसत्व ने एक बार घोड़े का जन्म लिया, जो कि वायु में उड़ सकता था। इस घोड़े में आधिभौतिक शक्ति थी। मथुरा की बौद्ध कला में एक स्थान पर उड़ने वाले घोड़े का अङ्कन मिलता है। इसकी पूँछ को पकड़ कर इसके साथ उड़ते हुए कई व्यक्ति भी प्रदर्शित किये गये हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर वलाहस्स जातक में मिलने वाली उपर्युक्त कथा का चित्रण किया गया है। अशोक के आचार्य उपगुप्त इसी नगर में रहते थे। वे यहाँ पर नटभट नामक विहार में अपना उपदेश दिया करते थे। इस विहार का निर्माण नट तथा भट नामक दो भाइयों ने किया था, जो मथुरा के पूँजीपति माने जाते थे। इस विहार की महत्ता बौद्ध धर्म के इतिहास में विशिष्ट मानी जाती है, क्योंकि इसमें लगभग अठारह सहस्र व्यक्तियों ने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी।[1]

मथुरा से कई लेख भी प्राप्त हुए हैं, जिनके द्वारा इस नगर में बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त होती है। यहाँ से कुषाण-सम्राट् हुविष्क के काल के दो लेख प्राप्त हुए हैं। पहले लेख की तिथि शक सम्वत् ३३ तथा दूसरे लेख की तिथि शक सम्वत् ५१ है। दूसरे लेख से ज्ञात होता है कि हुविष्क ने मथुरा में एक विहार का निर्माण किया था, जो कि "महाराज देवपुत्र विहार" कहलाता था। इस अभिलेख के अनुसार बुद्धवर्मा नामक एक भिक्षु ने यहाँ पर गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा स्थापित की थी (भगवतः शाक्यमुनेः प्रतिमा प्रतिष्ठापित सर्व-बुद्ध-पूजात्यर्थम्)[2] तथा अपने माता पिता के आध्यात्मिक लाभ के लिये देवपुत्र विहार को एक दान भी दिया था (बुद्धार्थम् इदं च दानम्)।[3] पहले लेख से ज्ञात होता है कि धनवती नामक एक भिक्षुणी ने मथुरा में बोधिसत्व की प्रतिमा स्थापित की थी (भिक्षुणीये धनवतीये बोधिसत्वो प्रतिथावितो मधुरवणके)।[4]

विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित होने के कारण मथुरावास का माहात्म्य बढ़ने लगा। लोगों की धारणा थी कि यह पुरी पापहारिणी है (मथुरां पापहारिणीम्) तथा इसमें रहने वालों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।[5] वराहपुराण में कहा गया है कि इस महापुरी

---

१. वाटर्स, १, ३०६।

२. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ १५२।

३. वही, पृष्ठ १५२। ४. वही, पृष्ठ १५२।

५. "ये वसन्ति महाभागे मथुरायामितरे जनाः।
तेऽपि यान्ति परमां सिद्धिं मत्प्रसादान्न संशयः।।"
—वराहपुराण, पृष्ठ ८५२, श्लोक २०।

में जो लोग पवित्र विचार से रहते हैं, वे मनुष्य के रूप में साक्षात् देवता हैं।[1] मथुरा में श्राद्ध का फल विशेष माना जाता था। वराहपुराण के अनुसार जो यहाँ श्राद्ध देते हैं, उनके पूर्वजों को आध्यात्मिक तृप्ति मिलती है।[2] इस पुराण में मथुरा के विश्रान्ति घाट (विश्राम घाट) का उल्लेख हुआ है, जहाँ पर लोग स्नान करते थे। इस ग्रन्थ के अनुसार कंस को परास्त कर कृष्ण ने यहीं विश्राम किया था तथा इसी कारण इसका नाम विश्राम घाट (विश्रान्ति घाट) पड़ा।[3] कतिपय पुराणों में इस नगर का वर्णन भी प्राप्त होता है, उदाहरणार्थ ब्रह्मवैवर्तपुराण। इसके अनुसार यह नगर विश्वकर्मा के द्वारा बनाया गया था (रचितां विश्वकर्मणा)। इस ग्रन्थ में नगर की परिखा, प्राकार, सरोवर, उद्यान, राजमार्ग एवं वराङ्गनाओं का भी उल्लेख हुआ है।[4] आधुनिक मथुरा प्राचीन स्थान पर नहीं है। प्राचीन मथुरा की पहचान महोली से की जाती है, जो कि आधुनिक मथुरा से पाँच मील दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। वहाँ पर ऊँचे टीले दृष्टिगोचर होते हैं। ये इस बात के प्रमाण हैं कि यहाँ पर एक समृद्धिशाली नगर वर्तमान था।[5]

कान्यकुब्ज—कान्यकुब्ज भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। रामायण के अनुसार इसकी नींव कुशनाभ ने डाली थी, जो कि कुश के पुत्र थे।[6] कान्यकुब्ज नाम की व्युत्पत्ति के विषय में रामायण में एक कथा मिलती है। इस कथा के अनुसार घृताची नामक एक अप्सरा से कुशनाभ की सौ पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं।[7] ये सभी कन्याएँ परम रूपवती, गुणसम्पन्ना, यौवनशालिनी तथा नृत्य, वाद्य एवं सङ्गीत

---

१. "मथुरायां महापुर्यां ये वसन्ति शुचिव्रताः।
बलिभिक्षाप्रदातारो देवास्ते नरविग्रहाः॥"
—वराहपुराण, पृष्ठ ८५२, श्लोक २२।

२. "मथुरामण्डलं प्राप्य श्राद्धं कृत्वा यथाविधि।
तृप्तिं प्रयान्ति पितरो यावत्स्थित्यग्रजन्मनः॥"
—वही, पृष्ठ ८५२, १९।

३. वराहपुराण, पृष्ठ १५२।

४. ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय ७२।

५. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ४२८।

६. "कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम्।"—रामायण १, ३२, ६।

७. "कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम्।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन॥" —वही, १, ३२, ११।

में निपुणा थीं।[1] एक बार वे विचरण करती हुई पास के उद्यान में आईं। उनके उन्मादक यौवन को देखकर पवनदेव मोहित हो उठे। उन्होंने प्रकट होकर उनसे विवाह का प्रस्ताव किया। इसको सुनकर कन्याएँ हँस उठीं तथा तीखे वचनों के द्वारा उनके विवाह-प्रस्ताव को तिरस्कृत कर दिया। इस पर पवनदेव ने क्रुद्ध होकर इन कन्याओं को शाप दिया, जिसके कारण उनके सम्पूर्ण गात्र टूट गये (भग्नाः कन्याः) तथा उन्हें कूबड़ निकल आया (कुब्जाः)।[2] कन्याओं के इस प्रकार कुब्जत्व के प्राप्त होने के फलस्वरूप (कन्यानां कुब्जत्वं) यह नगर तदुपरान्त कान्यकुब्ज नाम से प्रख्यात हुआ।[3] डॉक्टर रमाशङ्कर त्रिपाठी के शब्दों में इस कथा में केवल कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है पर कोई ऐतिहासिक बात नहीं मिलती। इससे केवल नगर एवं इसके नाम की प्राचीनता मात्र प्रतिपादित होती है।[4]

कतिपय साक्ष्यों में कान्यकुब्ज के स्थान पर **कन्यकुब्ज**,[5] **कन्याकुब्ज**[6] तथा **कन्याकुब्जा**[7] नाम मिलते हैं पर अधिक प्रचलित नाम कान्यकुब्ज ही था, जिसका

---

१. "तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यःस्वलङ्कृताः।"--रामायण, १, ३२, १२।

२. "तासां तु वचनं श्रुत्वा हरिः परमकोपनः।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभञ्ज भगवान्प्रभुः।"--वही, १, ३२, २३।

३. "यद वायुना च ताः कन्याः तत्र कुब्जीकृता पुरा।
कान्यकुब्जमिति ख्यातं ततः प्रभृतितत्पुरम्।।"--वही, १, ३३, ३४-४५।

ग्वान् च्वाङ् के यात्रा-विवरण में भी कहा गया है कि वायु के शाप के कारण राजकन्याओं के वक्रपृष्ठ हो जाने के कारण नगर का यह नाम पड़ा--वाटर्स, १, ३४१। इस कथन की परम्परानुकूलता का समर्थन राजतरङ्गिणी की पंक्तियों के द्वारा भी हो जाता है:--

"कन्यकानां यत्र कुब्जत्वं व्यधाद्गाधिपुरे मरुत्।
तत्रैव शंसनीयः स पुंसां चक्रेभयस्पृशाम्।।"

--राजतरङ्गिणी, ३, १३३।

४. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, पृष्ठ ३।

५. राजतरङ्गिणी, १, ११७।

६. एपिग्रैफिआ इण्डिका, १, पृष्ठ २१९।

७. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ३२।

प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है।[१] इसके अतिरिक्त इस नगर के कतिपय अन्य नाम भी थे, उदाहरणार्थ **महोदय,**[२] **महोदया,**[३] **गाधिपुर,**[४] **गाधिनगर**[५] **तथा कुश-स्थल।**[६] महोदय इसका पहला नाम था। यह नाम इसके महान् उत्कर्ष की ओर सङ्केत करता है। गाधिपुर तथा गाधिनगर नाम का सम्बन्ध इसके गाधि नामक शासक के साथ प्रतीत होता है, जो कि महाभारत एवं पुराणों के अनुसार यहाँ का एक प्रतापी सम्राट् था।[७] कुशस्थल नाम की व्युत्पत्ति सम्राट कुश के नाम से विदित होती है, जो कि इसके संस्थापक (कुशनाभ) के पिता थे। सम्भवतः इसी कारण इसे कौश भी कहा जाता था।[८] य्वान् च्वाङ्ग ने इसे कुसुमपुर (कु-सु-मो-पु-लो) कहा है।[९] छठी शताब्दी के प्रारम्भ तक यह नगर अधिक प्रसिद्धि में नहीं आ सका था। इस काल तक के ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख यत्र-तत्र मिलता है पर कोई ऐसा वर्णन नहीं उपलब्ध होता जिससे कि इसकी महानता प्रतिपादित हो सके। महाभारत में इस नगर का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में पाण्डव इसे कौरवों से माँगते हुए दिखाये गये हैं।[१०] पतञ्जलि के महाभाष्य में कान्यकुब्जी शब्द आता है, जिसका अर्थ कान्यकुब्ज में रहने वाली स्त्री होता है।[११] गुप्तों के काल में

---

१. महाभारत, ३, ११६, १९, हर्षचरित, पृष्ठ ४२५।

२. महोदय के लिए द्रष्टव्य :—

(अ) रामायण, १, ३२, ६।

(ब) "कान्यकुब्जम् महोदयम्"—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १६६।

३. "कन्यकुब्जा महोदया"—वही, पृष्ठ ३२।

४. गाधिपुर के लिए द्रष्टव्य :—

(अ) "महोदयम् गाधिपुरम्"—कल्पद्रुमकोष, १६, पृष्ठ १०।

(ब) राजतरङ्गिणी, १, ४, १३३।

५. इण्डियन ऐण्टिक्वैरी, १५, ४१।

६. "कुशस्थलम् कान्यकुब्जम्"—अभिधानसंग्रह, २, १९३।

७. हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, पृष्ठ ४।

८. "कान्यकुब्जम् गाधिपुरम् कौशम कुशस्थलम् च तत्।"—अभिधान-चिन्तामणि, पृष्ठ १६६।

"कौशम" के लिये द्रष्टव्य :— हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, पृष्ठ ५।

९. वाटर्स, १, ३४१।

१०. महाभारत, ५, ३०, १९।

११. महाभाष्य, २, २३३ (कीलहार्न)।

भारतवर्ष का प्रधान नगर पाटलिपुत्र था। कान्यकुब्ज इसकी समता में बहुत पीछे था। चीनी यात्री फाहियान लिखता है कि यह नगर (कि-जू-ई) गङ्गा के तट पर स्थित था। इसमें केवल दो सङ्घाराम विद्यमान थे, जिसमें हीनयान मतावलम्बी रहते थे।[१]

छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कान्यकुब्ज की वास्तविक उन्नति प्रारम्भ होती है। इस काल में यहाँ पर मौखरियों की राजधानी थी। मौखरि-नरेश बहुत शक्तिशाली थे। उनके बढ़ते हुए प्रताप के साथ इस नगर की ख्याति भी विकासोन्मुखी होने लगी। मौखरियों के अधःपतन के उपरान्त इसे हर्ष की राजधानी बनने का सुअवसर उपलब्ध हुआ। इस नरेश के काल में चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग कान्यकुब्ज आया था। वह लिखता है कि गङ्गा के तट पर निर्मित यह नगर तीन मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा था। उसके अनुसार नगर के चतुर्दिक मेखला एवं सुदृढ़ प्राकार वर्तमान थे तथा भीतर अनेक उपवन, वितान, सरोवर तथा अट्टालिकाएँ विद्यमान थीं। आपण में सुदूर देशों से विक्रय के निमित्त संख्यातीत भाण्ड केन्द्रित किये गये थे। नागरिकों का चरित्र-सङ्गठन उच्च था। वे धनधान्य से सम्पन्न, सभ्य, सुसंस्कृत, धर्मनिष्ठ एवं सरलहृदय थे। नगर के विहारों में भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों का बाहुल्य था। स्थान-स्थान पर अनेक ब्राह्मणमन्दिर भी बने हुए थे।[२] हर्ष के काल में कान्यकुब्ज में एक बहुत बड़ी धार्मिक सभा हुई, जिसमें बौद्ध धर्म की महायान शाखा की विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया। उस समय होने वाले विविध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों का केन्द्र यही नगर था। वर्द्धनों के उपरान्त अनेक आनुक्रमिक वंशों (उदाहरणार्थ प्रतिहारों एवं गहड़वाड़ों) की राजधानी यहीं पर विद्यमान थी। इस कारण बारहवीं शताब्दी तक यह उत्तरी भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था। इस समय यहाँ के नागरिकों की संस्कृति उच्चकोटि की थी। उनका रहन-सहन अनुकरणीय था। राजशेखर ने लिखा है कि कान्यकुब्ज की ललनाओं का केशविन्यास, अलङ्कार-प्रसाधन, वेशभूषा एवं भाषा सम्पूर्ण भारत में आदर्श मानी जाती थी।[३] राजपूत-काल में आने वाले

१. लेग्गे, ट्रैवेल्स ऑफ़ फाहियान, पृष्ठ ५४।

२. वाटर्स, १, ३४१।

३. "यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राक्रमे।
भङ्गिर्याकवरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च॥
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकेरिहान्यच्च यच्च-
छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः॥"

—बालरामायण, १०, ९०।

मुसलमान यात्रिओं ने भी कान्यकुब्ज के वैभव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उदाहरणार्थ, अल्बरूनी ने इसके विस्तार एवं समृद्धि का वर्णन उच्च शब्दों में किया है।[१] उत्बी के यात्राविवरण में भी इसका वर्णन एक प्रसिद्ध नगर के रूप में मिलता है।[२]

कान्यकुब्ज की ख्याति बौद्धिक क्षेत्र में भी सुविशेष थी। यहाँ के शासक मौखरि-नरेश विद्या के प्रेमी थे। हरहा के लेख में कहा गया है कि मौखरि-राज-कुमार सूर्यवर्मा में लक्ष्मी एवं सरस्वती एक दूसरे के प्रति स्पर्द्धा रखती हुई निवास करती थीं।[३] इस अभिलेख के अनुसार महाराजाधिराज ईशानवर्मा के शासनकाल में तीनों वेदों का पठन-पाठन हुआ करता था।[४] इस प्रशस्ति का रचयिता रवि-शान्ति (जो कि एक उच्च कोटि का लेखक था) मौखरियों का आश्रित कवि था। ईशानवर्मा के प्रति प्रगाढ़ अनुराग के कारण (नृपानुरागात्) उसने मौखरियों की कृतियों का वर्णन किया था, जो कि हरहा के शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण मिलता है।[५] बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि मौखरियों ने उसके आचार्य भर्व की वन्दना की थी।[६] सम्राट् हर्ष के काल में कान्यकुब्ज का वायुमण्डल पूर्ण रूप से बौद्धिक हो उठा था। हर्ष एक उच्च कोटि के विद्वान् तथा निपुण लेखक थे। उन्होंने रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द की रचना की थी। उनकी शैली की प्रशंसा करते हुए बाण ने लिखा है कि हर्ष की कविता का वर्णन शब्दों में पर्याप्त रूप से नहीं हो सकता।[७] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है कि वे काव्य एवं कथाओं से अनास्वादित अमृत की वर्षा करते थे।[८] नागानन्द नाटक की प्रस्तावना में कहा गया है कि हर्ष एक निपुण कवि थे।[९] सोड्ढल ने उदयसुन्दरीकथा में हर्ष को विक्रमादित्य, मुञ्ज तथा भोज आदि सम्राटकवियों की समकक्षता में रखा है।[१०] दामोदरगुप्त ने

---

१. साचो, १, १९९।

२. इलियट, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, २, ४६।

३. "लक्ष्मीकीर्तिसरस्वती प्रभृतयो यं स्पर्धयेवाश्रिता।"—ए० इ० १४, ११७।

४. "यस्मिन्शासति च क्षितिं क्षितिपतौ जातेगभूयस्त्रयी।"—वही, १६।

५. वही, २३।

६. "सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्।"—कादम्बरी, पृष्ठ १, ४।

७. "अपि चास्य कवित्वस्य वाचः न पर्याप्तो विषयः।"—हर्षचरित, पृष्ठ १२१।

८. "काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमन्तम्",—वही, पृष्ठ ११२।

९. "श्रीहर्षो निपुणः कविः"—नागानन्द, पृष्ठ १।

१०. "कवीन्द्रैश्च विक्रमादित्य-श्रीहर्ष-मुञ्ज-भोजदेवादि-भूपालैः"—उदय-सुन्दरीकथा, पृष्ठ १५०।

'कुट्टनीमतम्' में लिखा है कि रत्नावली नाटक का रचयिता एक नरेश था।[1] यहाँ पर हर्ष की ओर सङ्केत है। जयदेव ने हर्ष को भास, कालिदास, बाण तथा मयूर की समकक्षता में रखते हुए उन्हें एक आदर्श लेखक के रूप में स्वीकार किया है।[2] सुभाषितभाण्डागार में हर्ष को माघ, मयूर, मुरारि तथा भारवि आदि के समान एक उच्च कोटि का कवि माना गया है।[3] मधुसूदनसरस्वती ने उन्हें रत्नावली का रचयिता कहा है।[4] विदेशी यात्री इत्सिङ्ग ने लिखा है कि हर्ष ने जीमूतवाहन (जिन्होंने एक नाग को बचाने के लिये अपना बलिदान कर दिया) की कथा को पद्यबद्ध किया था।[5]

हर्ष के काल में कान्यकुब्ज के दरबार में विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया गया था। इनके दरबारी कवियों में बाण प्रधान थे। इनके ग्रन्थों (हर्षचरित एवं कादम्बरी) की गणना संस्कृत-साहित्य की अनूठी निधियों में होती है। अनेक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि हर्ष ने बाण से प्रसन्न होकर उसे प्रचुर सम्पत्ति दान में दिया था।[6] हर्ष के अन्य दरबारी कवियों में मयूर तथा मातङ्गदिवाकर का नाम आता है। मयूर का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्यशतक' है, जिसमें १०० श्लोकों में सूर्य की स्तुति की गई है। राजशेखर जैसे कवि ने इसकी काव्यशैली की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है। मातङ्गदिवाकर का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है पर राजशेखर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वह अवश्य ही एक उच्चकोटि का कवि रहा होगा। इसके अनुसार

---

१. कुट्टनीमतम्, ८५६ वाँ (श्लोक)।

२. "यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो।
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः॥
हर्षो हर्षः हृदयवसतिह पञ्चबाणश्च बाणः।
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय॥"—प्रसन्नराघव, १, २२।

३. "माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः।
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भूवभूत्याह्वयो भोजराजः॥
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लाटो भट्टबाणः।
ख्यातश्चान्यो सुबंध्वादय इह कृतभिर्विश्वमाह्लादयन्ति॥"
—सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृष्ठ ३८, ७१।

४. "रत्नावल्याख्यनाटिकाकर्तुर्महाराजश्रीहर्षस्य"।

५. इ० ऐ०, २, (१८७३), पृष्ठ १२७–२८।

६. "सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः",—उदयसुन्दरीकथा, पृष्ठ २।

मातङ्गदिवाकर को वाग्देवी का वरदान प्राप्त था तथा फलस्वरूप वह हर्ष की सभा में बाण एवं मयूर के तुल्य सम्मानित हुआ था।[१]

कान्यकुब्ज के बौद्धिक वायुमण्डल की यह परम्परा हर्ष के उपरान्त भी विद्यमान थी। आठवीं शताब्दी में सम्राट यशोवर्मा की सभा में भवभूति एवं वाक्पति रहते थे।[२] भवभूति ने मालतीमाधव, उत्तररामचरित तथा महावीरचरित की रचना की। वाक्पति ने 'गौडवहो' की रचना की थी, जिसमें भवभूति की काव्यप्रतिभा की प्रशंसा उपलब्ध होती है।[३] यशोवर्मा स्वयं एक कवि थे। उन्होंने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की, जो कि अप्राप्य है। उनकी कृति के कुछ अंश उद्धरण के रूप में कतिपय अन्य ग्रन्थों में प्राप्य हैं। प्रतिहारों के काल में कान्यकुब्ज का सबसे प्रसिद्ध कवि राजशेखर था। वह प्रतिहार-नरेश महेन्द्रपाल तथा उसके उपरान्त उनके पुत्र महीपाल का संरक्षित कवि था। उसने इन नरेशों के आश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना की। महीपाल क्षेमीश्वर के भी आश्रयदाता थे, जिन्होंने 'चण्डकौशिक' की रचना की थी।[४] प्रतिहारों के उपरान्त गहड़वाड़ों ने भी कान्यकुब्ज में बौद्धिक वातावरण उत्पन्न कर रखा था। इस वंश के द्वितीय नरेश मण्डनपाल ने चिकित्साशास्त्र के ऊपर "मण्डनविनोदनिघण्टु" की रचना की थी।[५] इस वंश

तुलनार्थ :—(क) "श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय बाणीफलम्"—रामचरित, २२, १००।

(ख) "हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां।
श्रीहर्षेण समर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिबिसरैरुट्टङ्किता कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेपि यान्ति न मनाङमन्ये परिम्लानताम्।।"

—सुभाषितरत्नावली, १८०।

१. "अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः।।"—राजशेखर, सूक्तिमुक्तावली (कवि प्रशंसा) भगदत्तजल्हणकृत

२. " कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितौ ययौ यशःवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्।।"—बालरामायण, ३, १४४।

३. "भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु।।"—गौडवहो, ५, ७९९।

४. काव्यमीमांसा, प्रस्तावना, पृष्ठ १२-१३।

५. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, पृष्ठ ३०६।

के जयचन्द्र नामक नरेश के दरबार में बहुत से विद्वान् रहते थे।[1] इनमें श्रीहर्ष सबसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने लिखा है कि महाराज जयचन्द्र स्वयं उन्हें आसन तथा पान के दो बीड़े दिया करते थे।[2]

कान्यकुब्ज-नरेशों के प्रभाव से दूर स्वतन्त्र रूप से भी यहाँ विद्या का विकास हो रहा था। य्वान् च्वाङ्ग ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि इस नगर के नागरिक विद्या-व्यसनी थे।[3] राजशेखर ने लिखा है कि कान्यकुब्ज के सुशिक्षित निवासी शास्त्रों का आदर करते थे। यहाँ के कवि अपनी उत्कृष्ट रचनाओं को सुनाकर लोगों को अमृतपान कराते थे।[4] गौडवहो से ज्ञात होता है कि इस नगर में काव्य-गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। इन गोष्ठियों में से एक ने इस ग्रन्थ के रचयिता वाक्पति से कान्य-कुब्ज-नृपति यशोवर्मा के जीवनचरित का वर्णन करने के लिये अनुरोध किया था।[5] कान्यकुब्ज की महिलाएँ भी सुशिक्षित थीं। राजशेखर की पत्नी इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वह एक लेखिका थी। उसी के अनुरोध पर इसने कर्पूरमञ्जरी की रचना की थी।[6] विक्रमाङ्कदेवचरित के अनुसार कान्यकुब्ज में विद्वान् पण्डित रहते थे। इसके रचयिता बिल्हण का यहाँ के पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था।[7] इस नगर के भी विद्वान् बाहरी नगरों में शास्त्रार्थ के निमित्त जाया करते थे। श्री-कण्ठचरित से ज्ञात होता है कि गहड़वाड़-नरेश गोविन्दचन्द्र ने सुहल नामक एक विद्वान् को एक दूसरे नगर में होने वाली पण्डित-सभा में शास्त्रार्थ के हेतु भेजा था।[8]

---

१. "तस्यराज्ञो वहवो विद्वांसः",—प्रबन्धकोश, पृष्ठ ५४।

२. "ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्",—नैषधीयचरित, २ १५५।

३. वाटर्स, १, ३४१।

४. "यत्रार्थे न तथानुरञ्जयति कविग्रामीणगीर्गुम्फने।
शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च यथा भव्यासुनव्योक्तिषु।
पञ्चालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजनाः।
त्वद्दृष्टेरतिथीभवन्तु यमुनां त्रिस्त्रोतसं चान्तरा।।"
—बालरामायण, १०, ८६।

५. गौडवहो, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४।

६. कर्पूरमञ्जरी, १, १०।

७. विक्रमाङ्कदेवचरित, १९, ८०।

८. "अन्यः स सुहलस्तेन ततोऽवन्द्यतपण्डितः।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्यभूभुजः।।"—श्रीकण्ठचरित, २५, १०२।

राजतरङ्गिणी में कहा गया है कि कान्यकुब्ज के नागरिक ज्ञान में निपुण हुआ करते थे।[१] इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस नगर की सबसे बड़ी विशेषता इसका बौद्धिक विकास था।

कौशाम्बी––इस नगर का प्रथम उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में प्रोतिकौसुरुविन्दि को "कौशाम्बेय[२]" अर्थात् कौशाम्बी का निवासी कहा गया है। गोपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही यह नगर विद्या का केन्द्र था।[३] महाभारत तथा रामायण में इसकी उत्पत्ति की कथा वर्णित है। महाभारत के अनुसार उपरिचरवसु नामक कुरु राजवंश के शासक के कुशाम्ब नामक पुत्र ने इसकी नींव डाली थी।[४] रामायण में कौशाम्बी की स्थापना का श्रेय कुश के कुशाम्ब नामक पुत्र को दिया गया है।[५] अष्टाध्यायी के "तेन निर्वृत्तम्[६]" सूत्र के अनुसार स्थान का नाम उसे बसाने वाले व्यक्ति के नाम के आधार पर रखा जाय। काशिका में इसका एक उदाहरण दिया गया है––"कौशाम्बेन निर्वृत्ता" – "कौशाम्बी नगरी" अर्थात् कौशाम्बी के संस्थापक कुशाम्ब थे।[७] पौराणिक साक्ष्य के अनुसार जब गङ्गा की बाढ़ के द्वारा हस्तिनापुर बहा दिया गया, उस समय भरतवंशी नरेश निचक्षु जो कि अर्जुन के पौत्र परीक्षित के पाँचवें वंशज थे, कौशाम्बी चले आये।[८] निचक्षु की सत्तरहवीं पीढ़ी में उदयन उत्पन्न हुए, जो कि एक महान् सम्राट् थे।[९] इस प्रकार पुराणों के अनुसार कौशाम्बी-नरेश उदयन एक

---

१. "जित्वोर्वीं कन्यकुब्जाद्यां तत्रयं सत्यवेशयत्।
चातुर्वर्ण्यं निजे देशे धर्म्याश्चिव्यवहारिणः॥"

—राजतरङ्गिणी, १, ११७।

२. शतपथ ब्राह्मण, १२, २, २, १३।

३. गोपथ ब्राह्मण, १, ४, २४।

४. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३।

५. "कुशाम्बस्तु महातेजा कौशाम्बीमकरोत्पुरम्।"–रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३२, पंक्ति ११।

६. अष्टाध्यायी, ४, २, ६८। द्रष्टव्य––अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३९।

७. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ कौशाम्बी, प्रस्तावना, पृष्ठ १७।

८. वही, पृष्ठ ४।

९. वही, पृष्ठ ११।

भरतवंशी नरेश सिद्ध होता है। "स्वप्नवासवदत्तम्" में भी उदयन को भरतवंशी शासक कहा गया है।[1]

कौशाम्बी की विशेष प्रसिद्धि उदयन के काल से प्रारम्भ होती है। इस समय यहाँ पर वत्स-राज्य की राजधानी थी। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार जब गौतम बुद्ध ने कुशीनगर में मरने की इच्छा प्रगट की, उस समय उनके शिष्य आनन्द ने कहा था—"भगवन्, यह छोटा सा नगर आपके परिनिर्वाण के उपयुक्त नहीं है। **चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी** जैसे विशाल नगर हैं, जहाँ पर आपकी मृत्यु आपकी महानता के अनुकूल होगी।[2] इससे स्पष्ट होता है कि कौशाम्बी की गणना तत्कालीन ६ प्रसिद्ध नगरों में होती थी। यमुना के तट पर स्थित होने के कारण यहाँ पर वाणिज्य का महान् विकास हुआ। यही कारण है कि इसे लोग "वत्स-पत्तन" कहते थे।[3] रिज़ डेविड्स के शब्दों में कौशाम्बी गौतमकालीन उत्तरी भारत का सबसे प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था।[4] **मथुरा, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा तथा वाराणसी** आदि नगरों के साथ इसका घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उज्जयिनी से राजगृह जाने वाले व्यापारिक मार्ग पर यह नगर स्थित था।[5] विनय-महावग्ग से विदित होता है कि कौशाम्बी तथा श्रावस्ती सुप्रसिद्ध वाणिज्य-पथ के द्वारा सम्बद्ध थे।[6] प्रतिष्ठान से साकेत को जाने वाले व्यापारिक मार्ग पर **उज्जयिनी, माहिष्मती, विदिशा, कौशाम्बी, साकेत, कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर तथा वैशाली** आदि नगर स्थित थे। सुप्रसिद्ध मार्गों के साथ इस रूप में सम्बन्धित होने के कारण कौशाम्बी उत्तर-पूर्व भारत में आयात तथा निर्यात का महान् केन्द्र बन गया। पालि ग्रन्थों से सूचना मिलती है कि यह सभ्य नागरिकों का निवासस्थान था। इसमें घोषित, कुक्कुट तथा पावारिय के समान धनिक व्यक्ति रहते थे।

बौद्ध काल में कौशाम्बी की महत्ता धार्मिक क्षेत्र में भी विशेष थी। यहाँ पर

---

१. "भारतानां कुले जातो विनीतो ज्ञानवाञ्छुचिः।
तन्नार्हसि बलाद्धर्तुं राजधर्मस्य देशिकः॥"—अङ्क ६, १६।

२. महापरिनिब्बानसुत्त।

३. घोष, वही, प्रस्तावना, पृष्ठ १७।

४. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १०४।

५. मललसेकर, १, ६९२।

६. वही, १, ६९३।

गौतम बुद्ध ने अनेक व्याख्यान दिया था, जिसके कारण इस नगर में उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ गई थी। कौशाम्बी भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों का भी निवासस्थान था। ये लोग विहारों में रहते थे। बौद्ध ग्रन्थों में **कुक्कुटाराम, घोषिताराम, पावरिकाम्बवन तथा बद्रिकाराम** आदि **कौशाम्बी** के प्रसिद्ध विहारों का उल्लेख मिलता है। घोषिताराम के भग्नावशेष कौशाम्बी के आधुनिक उत्खनन में उपलब्ध हुए हैं, जिनसे भिक्षुसङ्घ के धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। सम्राट् उदयन भी गौतम बुद्ध के अनुयायी थे। तिब्बत तथा पालि ग्रन्थों में उदयन के बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने के सम्बन्ध में विभिन्न कथाएँ प्राप्त होती हैं। तिब्बत के ग्रन्थों के अनुसार एक बार गौतम बुद्ध वाराणसी से कौशाम्बी आये। उस समय उदयन एक आक्रमण के लिये तैयारी कर रहे थे। शान्ति के इस दूत को देखकर उदयन की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी। वह समझ गया कि अहिंसा का यह पुजारी उसे आक्रमण करने से रोकेगा। उसने शीघ्र ही गौतम को मारने के लिये बाण चला दिया पर उनके प्रभाव के कारण यह हिंसा-निरोध की शिक्षा देता हुआ वायु में दूर निकल गया। इस घटना के कारण उदयन गौतम बुद्ध के प्रति विनम्रता के कारण अवनत हो उठा तथा उनका मतावलम्बी बन गया।[१]

पालिसाहित्य के अनुसार बौद्ध सङ्घ के विशिष्ट सदस्य पिण्डोल भारद्वाज ने उन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था, न कि गौतम बुद्ध ने। इसके पूर्व वह बौद्ध धर्म के बहुत विरुद्ध था।[२] इस सम्बन्ध में पालि ग्रन्थों में कई कथाएँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, एक बार आचार्य पिण्डोल कौशाम्बी में अपना सदुपदेश दे रहे थे। उस समय उदयन प्रगाढ़ निद्रा में मग्न था। इस अवसर का लाभ उठाकर राजकुल की महिलाएँ आचार्य के व्याख्यान को सुनने के निमित्त निकल पड़ीं। जब उदयन को यह ज्ञात हुआ, उस समय वह आगबबूला हो उठा। उसने पिण्डोल को बुलाकर उसे कठिन दण्ड दिया।[३] एक दूसरी कथा दिव्यावदान में आती है। इसके अनुसार उसकी भार्या सामावती बौद्ध धर्म में प्रबल आस्था रखती थी। उदयन को यह बहुत बुरा लगा। उसने सामावती के शिविर को जलवा दिया। रानी अपनी परिचारिकाओं के सहित उस अग्निदाह में भस्मीभूत हो उठी।[४] इसी प्रकार एक बौद्ध भिक्षु से अप्रसन्न होने के कारण उसने उसे मरवा डालना चाहा। यह भिक्षु

---

१. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ कौशाम्बी, प्रस्तावना, पृष्ठ २१।

२. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ७।

३. जातक, ४, ३७५।

४. दिव्यावदान, पृष्ठ ५३३।

अपनी प्राणरक्षा के निमित्त राजपुरुषों की दृष्टि बचाता हुआ श्रावस्ती भाग आया।[1] यही उदयन, जो कि बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था, कालान्तर में गौतम का एक प्रिय अनुयायी सिद्ध हुआ।

उदयन की मृत्यु के उपरान्त से लेकर नन्दों के काल तक कौशाम्बी के इतिहास के विषय में अत्यल्प ज्ञात है। मज्झिम-निकाय के अनुसार उदयन के उत्तराधिकारी बोधि ने इस नगर में एक नवीन भव्य राजप्रासाद का निर्माण किया। वह इसे गौतम के चरण-रज से पवित्र कराना चाहता था। इस कार्य के निमित्त उसने उन्हें आमन्त्रित किया। अपने शिष्यों के सहित गौतम बुद्ध कौशाम्बी में पधारे तथा इस नवनिर्मित राजप्रासाद में उन्होंने भोजन किया। इस पर बोधि ने अपने आपको कृतकृत्य समझा। भोजनोपरान्त गौतम ने उसे अपना उपदेश दिया, जिसे उसने बहुत श्रद्धापूर्वक सुना।[2] ये उपदेश बोधि-कुमार-सुत्त में संग्रहीत हैं। पुराणों एवं पालि ग्रन्थों में बोधि के उत्तराधिकारियों के नाम उपलब्ध होते हैं पर उनके समकालीन नगर की समृद्धि के ऊपर उनसे कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता। नन्दों के काल में कौशाम्बी उनके साम्राज्य में सम्मिलित था।

मौर्यों के शासन-काल में यह नगर प्रसिद्ध राजनीतिक, धार्मिक तथा व्यापारिक केन्द्र था। इसकी महत्ता के कारण ही अशोक ने कौशाम्बी में स्तम्भों के ऊपर अपने लेखों को उत्कीर्ण किया था। मौर्य-काल में सम्भवतः वह एक प्रान्त का अधिष्ठान था। कौशाम्बी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने इस स्थान पर महामात्रों की नियुक्ति की थी। लगभग इसी काल में नगर के भिक्षु-सङ्घ में एक महान् भेद उत्पन्न हुआ, जिसको रोकने के लिये अशोक ने सक्रिय प्रयास किया। उसने एक आज्ञा निकाली, जिसके अनुसार सङ्घैक्य का भङ्गकर्ता भिक्षु मठ की सदस्यता से वञ्चित तथा निष्कासित ठहराया गया।[3] अशोक की दूसरी पत्नी (तीवर-माता) कारुवाकी ने पुण्यार्जन के निमित्त इस नगर में आम्रवाटिका, आराम एवं दानगृह का निर्माण कराया था।[4]

मौर्यों के अधःपतन के उपरान्त यह नगर मित्रनामधारी राजाओं का प्रादेशिक

---

१. वाटर्स, १, ३६६।

२. मज्झिम-निकाय, २, ९७।

३. "(दैवानं) (पि') ये आनपयति (।) कोसम्बियं महामात . . . समगे कटे। सन्धसि नो लहिये . . . संङ्घं भाखति भिखु वा भिखुनि वा सेपि चा ओदातानि दुसानि सनंधापयितु अनावाससि आवासयि ये।" सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ७३।

४. "अम्बा-वडिका वा आलभे व दानगहे", सरकार, वही, पृष्ठ ७२।

राजनीतिक केन्द्र बना।[१] बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) का सम्बन्ध इसी राजवंश से था। इसकी एक मुद्रा कौशाम्बी से उपलब्ध हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि वह यहाँ का एक स्थानीय शासक था।[२] इस नरेश का नाम पभोसा के गुहालेख में उत्कीर्ण मिलता है। इस लेख के अनुसार बृहस्पतिमित्र के मातुल अहिच्छत्र-शासक आसाढसेन ने अर्हतों के निवास के निमित्त एक गुफा का निर्माण कराया था।[३] इस बृहस्पतिमित्र का नाम मथुरा के संग्रहालय में वर्तमान मोरा के लेख में प्राप्त होता है।[४] लिपि के आधार पर इस लेख की तिथि द्वितीय शताब्दी ई० पू० निर्धारित होती है, अतएव बृहस्पतिमित्र का काल यही रहा होगा। महाभाष्य (जिसकी रचना द्वितीय शताब्दी ई० पू० में हुई थी) से ज्ञात होता है कि इस समय कौशाम्बी वाणिज्य का एक विशिष्ट केन्द्र रहा होगा। पाणिनि के सूत्र २, १, १८ पर महाभाष्य में एक वार्त्तिक उपलब्ध होता है—"निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः" अर्थात् जब किसी स्थान से प्रस्थान किया जाय, तो उसमें 'निः' उपसर्ग के साथ पञ्चमी विभक्ति लगाई जाय, उदाहरणार्थ (१) निष्कौशाम्बिः—जो कि कौशाम्बी से चल चुका हो, (२) निर्वाराणसिः—जो वाराणसी से प्रस्थान कर चुका हो। इन उदाहरणों की एक ऐतिहासिक महत्ता है। इसका स्पष्टीकरण पतञ्जलि की दो टीकाओं से होता है। (१) पहली टीका पाणिनि के सूत्र ३, ३, १३६ पर की गई है:—"यो यमध्वापरिमाणो गन्तव्यस्तस्य यद्वरम् साकेतादिति" अर्थात् साकेत से पाटलिपुत्र को जाने वाले मार्ग का जो भाग साकेत के समीप हो, उसके लिये काल सामान्य भविष्य होना चाहिये, उदाहरणार्थ भोक्ष्यामहे। (२) दूसरी टीका पाणिनि के सूत्र २, २, १८ पर मिलती है—"यो यमध्वा पाटलिपुत्राद्गन्तव्यस्तस्य यत्परम् साकेतादिति।" साकेत से पाटलिपुत्र को जाने वाले मार्ग का जो भाग पाटलिपुत्र के समीप हो, उसके लिये अनद्यतन भविष्य का प्रयोग किया जाय, उदाहरणार्थ—भोक्तास्महे। इन दोनों टीकाओं से स्पष्ट है कि साकेत और पाटलिपुत्र के बीच एक चालू मार्ग था। इसी मार्ग पर कौशाम्बी तथा वाराणसी स्थित थे। जब यात्री साकेत से चलकर कौशाम्बी से आगे निकल जाय (निष्कौशाम्बिः) तो ऐसी दशा में मोक्ष्यामहे का प्रयोग पतञ्जलि की दृष्टि में सम्मत है तथा जब

---

१. अल्टेकर, ज० न्यू० सो० इ०, पृष्ठ १३३।

२. वही, पृष्ठ १३४।

३. "बहसतिमित्रस मातुलेन...आसाढसेनेन लेनं कारितम्", सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ९८।

४. ज० रॉ० ए० सो०, १९१२, पृष्ठ १२०।

वाराणसी के आगे निकल जाय (निर्वाराणसिः), तो ऐसी दशा में भोक्तास्महे का प्रयोग ठीक है।[१] साकेत से पाटलिपुत्र को जाने वाले मार्ग के साथ कौशाम्बी का यह सम्बन्ध पतञ्जलि के काल में उसका व्यापार-केन्द्र होना प्रतिपादित करता है।

ईसा की आदिम शताब्दी में कौशाम्बी कुषाण-राज्य में सम्मिलित था। १९३४ ई० में यहाँ पर गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा उपलब्ध हुई। इस पर एक लेख मिलता है, जो कि कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था।[२] सारनाथ के उत्खनन में बोधिसत्व की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। इस पर कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष का एक लेख उपलब्ध होता है। इन दोनों लेखों से स्पष्ट होता है कि दक्षिणपूर्व की विजय-यात्रा के सम्बन्ध में कनिष्क ने अपने शासन-काल के दूसरे वर्ष में कौशाम्बी तथा तीसरे वर्ष में वाराणसी को जीता था।[३] कौशाम्बी के भग्नावशेष पर स्थित गढ़वा नामक ग्राम में एक पाषाणखण्ड पर कुषाण-नरेश कनिष्क का एक उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुआ है।[४] इससे सूचना मिलती है कि यह नगर कुषाण-साम्राज्य के अन्तर्गत था। कौशाम्बी से प्राप्त कनिष्क की एक मुद्रा से भी इसका समर्थन हो जाता है।[५]

कौशाम्बी के उत्खनन-क्रम से प्रतीत होता है कि कुषाणों के पश्चात् इस समृद्ध नगरी में नेव नामक शासक का आधिपत्य स्थापित हुआ और तदुपरान्त मघ वंश के भद्रमघ, वैश्रवण, भीमवर्मन, शिवमघ, शतमघ तथा विजयमघ आदि शासकों ने दीर्घ काल तक यहाँ राज्य किया। कुषाण-काल की भाँति मघ-काल भी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से कौशाम्बी के लिये उत्कृष्ट काल रहा। खुदाई से प्राप्त अवशेषों में इस काल के स्मारकों का बाहुल्य है।[६] तत्पश्चात् पुश्वश्री नामक राजा का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ, जिसके सिक्के कुछ अंशों में मघों की मुद्रा-परम्परा से प्रभावित प्रतीत होते हैं, यद्यपि इसके कुल एवं पितृत्व के विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से ज्ञात नहीं है।[७]

---

१. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी, प्रस्तावना, पृष्ठ १७–१८।

२. वही, पृष्ठ ६४।

३. वही, पृष्ठ ६४

४. निर्देशक, कौशाम्बी उत्खनन-शिविर, प्रयाग विश्वविद्यालय के सौजन्य से प्राप्त सूचना।

५. वही।

६. वही।

७. वही।

चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समुद्रगुप्त की विजयों के कारण यह नगर गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। यह इस समय का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने अपने ऐतिहासिक दिग्विजय को चिरस्मरणीय बनाने के लिये यहाँ पर वर्तमान अशोकस्तम्भ के ऊपर तद्विषयक एक नवीन लेख उत्कीर्ण कराया था। डॉक्टर जायसवाल का मत है कि समुद्रगुप्त के दोनों आर्यावर्त-युद्ध कौशाम्बी में हुए थे पर इससे सहमत होना दुष्कर है क्योंकि इसको निर्धारित करने के निमित्त कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। गुप्त-काल में फाहियान कौशाम्बी आया था। वह लिखता है कि सारनाथ से यह नगर १३ योजन (१०४ मील) दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित था। उसने घोषिताराम का उल्लेख किया है। यह उस समय अच्छी दशा में था। इसमें अधिकतर हीनयान धर्म के अनुयायी रहते थे।[१]

गुप्तों के अधःपतन के उपरान्त कौशाम्बी की समृद्धि क्रमशः क्षीण होने लगी। सातवीं शताब्दी का चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग यहाँ आया था। वह लिखता है कि नगर के अधिकांश विहार ध्वस्त हो चुके थे। यहाँ पर रहने वाले भिक्षुओं की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई थी। उसने इस नगर में लगभग ६० फीट ऊँचा एक बौद्ध मन्दिर देखा था। इसके भीतर गौतम बुद्ध की चन्दन की एक प्रतिमा विद्यमान थी। इसका निर्माण उदयन के अनुरोध पर किया गया था।[२] य्वान्-च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर घोषिताराम विहार भग्नावशेष को प्राप्त हो चुका था। उसके अनुसार यह नगर के बाहर दक्षिणपूर्व के कोने पर बना हुआ था।[३] कौशाम्बी के आधुनिक उत्खनन के द्वारा चीनी यात्री के इस साक्ष्य का समर्थन हो चुका है। घोषिताराम के दक्षिणपूर्व की ओर ईंटों का दो मञ्जिला एक भवन था। वसुबन्धु इसी में रहते थे। उन्होंने इसी भवन में 'वेइ-शिह-लुन' (विद्यामात्रसिद्धिशास्त्र) की रचना की थी। इस ग्रन्थ में उन्होंने हीनयान के सिद्धान्तों का खण्डन किया था।[४] घोषिताराम के पूर्व की दिशा में एक आम्रवाटिका थी, जहाँ पर एक प्राचीन गृह था। सुबन्धु के अग्रज असङ्ग इसी में रहते थे। उन्होंने यहाँ रह कर 'सियेन-यङ्ग-शेङ्ग-चिआओ-लुन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वे

---

१. लेग्गे, ट्रैवेल्स ऑफ़ फाहियान, पृष्ठ ७२।
२. वाटर्स, १, ३६८।
३. वही, १, ३६९।
४. वही, १, ३७०,

महायान सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी थे। चीनी यात्री ने नगर के भीतर कुछ अन्य बौद्ध मन्दिरों एवं स्तूपों के भी विद्यमान होने का उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में किया है।[1]

य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर कौशाम्बी हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित था। हर्ष के ग्रन्थों में इस नगर का नाम आता है, उदाहरणार्थ प्रियदर्शिका तथा रत्नावली। प्रियदर्शिका में उसकी विजयों का वर्णन मिलता है। रत्नावली में पुरवासियों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। कालान्तर के ग्रन्थ कथासरित्सागर में कौशाम्बी के पूर्व रूप का वर्णन मिलता है—(अस्ति वत्स इति ख्यातो देशः। कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी।)। वर्द्धनों के उपरान्त यह नगर चिरकाल तक कान्यकुब्ज-साम्राज्य में सम्मिलित था। कान्यकुब्जनृपति त्रिलोचनपाल के एक लेख में कौशाम्बी-मण्डल[2] का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में यह कान्यकुब्ज-साम्राज्य के अन्तर्गत एक शासन-क्षेत्र के रूप में विद्यमान था।

कौशाम्बी की पहचान कोसम नामक ग्राम से की जाती है, जो प्रयाग से ३० मील की दूरी पर स्थित है। इस पहचान के सम्बन्ध में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—(१) कोसम कौशाम्बी से निकला हुआ नाम विदित होता है। (२) फाहियान ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि कौशाम्बी सारनाथ से १३ योजन अर्थात् १०४ मील दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित था।[3] सारनाथ से कोसम की दूरी यही है। (३) कोसम के एक स्तम्भ-लेख में 'कौशाम्बी-पुरी' का उल्लेख मिलता है। इस लेख में इस नगर के सुवर्णकारों के मङ्गल के निमित्त प्रार्थना की गई है।[4] इससे ज्ञात होता है कि इस लेख के प्राप्तिस्थान कोसम का ही पूर्व नाम कौशाम्बी था। (४) कोसम के समीप स्थित पभोसा नामक ग्राम से प्राप्त एक बालूदार प्रस्तरखण्ड के ऊपर भ्रष्ट संस्कृत में एक लेख मिलता है—"कौशाम्बीनगरबाह्य-प्रभासा-चलोपरि"।[5] इससे ज्ञात होता है कि प्रभास (आधुनिक पभोसा) कौशाम्बी नगर के समीप था। पभोसा से कोसम की समीपस्थता कौशाम्बी के साथ उसकी एकता निर्धारित करती है। प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से की जाने वाली

१. वाटर्स, १, ३६६।
२. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ कौशाम्बी, ९९।
३. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ३३।
४. कनिङ्घम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ६५६।
५. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ कौशाम्बी, ९४।

खुदाइयों में घोषिताराम के अवशेषों की प्राप्ति के उपरान्त कोसम के साथ इस नगर की पहचान के विषय में कोई भी संशय नहीं रह जाता।

प्रयाग : प्राचीनता—हिन्दुओं के एक धार्मिक तीर्थ के रूप में प्रयाग की महत्ता अत्यन्त प्रारम्भिक काल से चली आ रही है। इसका प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह एक पवित्र तीर्थ था, जहाँ पर सित एवं असित नदियाँ (गङ्गा एवं जमुना) एक दूसरे से मिलती थीं। इसमें वर्णन मिलता है कि जो व्यक्ति दोनों नदियों के सङ्गम के जल में स्नान करते हैं, वे स्वर्गलोक में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं तथा आवागमन से उन्हें मुक्ति मिल जाती है (सितासिते सरिते यत्र सङ्गमे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥ ऋग्वेद, १०, ७५)।

प्रयाग का वर्णन अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है; उदाहरणार्थ महाभारत (वनपर्व, ८५, ६९-९७) तथा रामायण (२, ५४, ६)। महाभारत में इसे तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा गया है। इसके अनुसार सभी देवता मिलकर इसकी वन्दना करते हैं। वहाँ पर अत्यल्प दान करने पर भी महान् फल की प्राप्ति होती है। पवित्र सङ्गम के जल में स्नान करने पर व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त करता है तथा अपने पितरों का उद्धार करता है।[1] इस तीर्थ के दर्शन, श्रवण, नाम-स्मरण एवं यहाँ मिट्टी के ग्रहण करने पर व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। स्नान-माहात्म्य की विशेषता पर पुनः बल देते हुए महाभारत में कहा गया है कि प्रयाग के लोकविश्रुत सङ्गम पर अभिषेक-क्रिया के द्वारा व्यक्ति राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ के पुण्य फल को प्राप्त करता है।[2] पुराण-साहित्य में जिसमें देश की प्राचीनतम् परम्परायें भरी पड़ी हैं, प्रयाग का प्रचुर उल्लेख मिलता है। कूर्मपुराण

---

१. "ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यो प्रवदन्त्यधिकं विभो॥
एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता।
तत्र दत्तं स्वल्पमपि महद्भवति भारत॥"

—महाभारत, वनपर्व, ८५, ७९–८०।

२. "श्रवणात्तस्य तीर्थस्य नामसङ्कीर्तनादपि।
मृत्तिकालम्भनाद्वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
तत्राभिषेकं यः कुर्यात्सङ्गमे लोकविश्रुते।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः॥" —वही, वनपर्व, ८५, ८०—८१।

में इसे देवभूमि कहा गया है। इसके अनुसार इस तीर्थ की रक्षा ब्रह्मा तथा अन्य देवता साथ मिलकर करते हैं ('तत्र ब्रह्मादयो देवाः रक्षां कुर्वन्ति सङ्गतः' कूर्मपुराण, अध्याय ३६)। अग्निपुराण में कहा गया है कि तीन स्थानों पर गङ्गा नदी कठिनाई के साथ उपलब्ध होती हैं, (१) गङ्गा-द्वार, (२) प्रयाग तथा (३) गङ्गा-सागर।[1]

नाम की व्युत्पत्ति—प्रयाग नाम की उत्पत्ति 'यज' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'यज्ञ करना' होता है। महाभारत के अनुसार यहाँ पर ब्रह्मा ने यज्ञ किया था, अतएव इसका नाम प्रयाग पड़ा।[2] शब्दकल्पद्रुम में प्रयाग नाम की व्याख्या करते हुए यहाँ पर होने वाले यज्ञों की बहुलता का उल्लेख किया गया है (प्रकृष्टो यागो यत्र, पृष्ठ २८७)। पुराणों के अनुसार प्रयाग 'प्र' तथा 'याग' शब्दों के संयोग से बना हुआ है। 'प्र' शब्द का अर्थ उत्कृष्ट होता है। पुराणों में 'प्र' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण तीर्थों की समता में प्रयाग अधिक श्रेष्ठ है ('प्रभावात्सर्वतीर्थेभ्यः प्रभवत्यधिकं विभो', मत्स्यपुराण, ११०, ११)। इनमें 'याग' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यहाँ पर यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा महान् धार्मिक फलों की प्राप्ति होती है (प्रकृष्ठत्वात्प्रयागोऽसौ ; ब्रह्मपुराण, अध्याय १८)। प्रयाग को 'तीर्थराज' इसलिये कहा जाता था कि यह सभी तीर्थों में श्रेष्ठ था।[3]

तुलनार्ह :—

"पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम्।
गङ्गायमुनयोर्वीर सङ्गमं लोकविश्रुतम्॥"—वही, वनपर्व, ८५, १८।

१. "सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभम्।
गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे॥"—अग्निपुराण, अध्याय १११।

२. "यत्रायजत् भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम॥"—महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८५, १९।

नाम की व्युत्पत्ति के लिये द्रष्टव्य—मेरा अनुसन्धान-लेख, दी सिटी ऑफ़ प्रयाग इन लीजेण्ड ऐण्ड हिस्ट्री, दी जर्नल ऑफ़ दी इलाहाबाद हिस्टारिकल सोसायटी, पृष्ठ ७, जुलाई १९६२ अङ्क।

३. "प्राधान्याद्राजशब्दवान्"—ब्रह्मपुराण, अध्याय २८।

तुलनार्ह —

"तथा सर्वेषु लोकेषु प्रयागं पूजयेद् बुधः।
पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठिर॥"—मत्स्य पुराण, १०९, १५।

प्रयाग का विस्तार—प्रारम्भिक भारतीय साहित्य में प्रयाग की सीमाओं को प्रयाग-मण्डल कहा गया है। मत्स्यपुराण के अनुसार प्रयाग की परिधि पाँच योजन के लगभग थी।[1] लोगों का विश्वास था कि प्रयाग-मण्डल में प्रत्येक पद-दान से अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है (प्रविष्टमात्रे तु तद्भूमाश्वमेधः पदे पदे, मत्स्यपुराण, १, ४५)। कूर्मपुराण में भी प्रयाग-मण्डल की सीमा पाँच योजन बताई गई है (पञ्चयोजनविस्तीर्णः ब्रह्मणः परमेष्ठिनः, २, ३५)। मत्स्यपुराण में प्रयाग-मण्डल को प्रजापति का क्षेत्र कहा गया है (एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्, १०४, ५)। पुराणों में प्रयाग की सीमाओं का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ; मत्स्यपुराण के अनुसार प्रयाग-मण्डल प्रतिष्ठान से लेकर वासुकि-ह्रद तक होता हुआ कम्बलनाग, अश्वतरनाग तथा बहुमूलकनाग तक प्रसरित था।

पुराणों के अनुसार प्रतिष्ठान प्रयाग-मण्डल की पूर्वी सीमा का निर्माण करता था। यह गङ्गा नदी के पूर्वी तट पर स्थित था। इसके स्थान पर आधुनिक झूँसी बसा हुआ है। इसको समुद्र-कूप भी कहते थे। प्रयाग का यह एक महत्त्वपूर्ण उपतीर्थ था (पूर्वं पार्श्वे तु गङ्गायास्त्रिषु लोकेषु भारत। कूपं चैव तु सामुद्रं प्रतिष्ठानं च विश्रुतम्॥, मत्स्यपुराण, १०६, ३)। 'समुद्र-कूप' सागर अथवा सप्त सागर का प्रतिनिधि समझा जाता था। इस नाम के कूप अन्य धार्मिक नगरों में भी वर्तमान थे; उदाहरणार्थ मथुरा के एक प्राचीन कुएँ को लोग आज भी समुद्र-कूप (सात समुन्दरी कुआँ) कहते हैं। यह पुरातत्त्व-संग्रहालय के प्राङ्गण में स्थित है। स्थानीय लोग इसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते एवं पूजा करते हैं।[3] मत्स्यपुराण में विविध दानों के सम्बन्ध में सप्त-सागर-महादान का उल्लेख मिलता है। यह दान समुद्र-कूप के समीप दिया जाता था।[4] वासुकि-ह्रद उत्तरी सीमा का निर्माण करता था। पश्चिमी सीमा का प्रतिनिधित्व कम्बलनाग तथा अश्वतरनाग करते थे। ये दोनों यमुना-तट पर स्थित थे।[5] बहुमूलकनाग दक्षिणी सीमा का निर्माण करता था।[6] प्रमाणों के अभाव में कम्बल, अश्वतर तथा बहुमूलकनाग के स्थान की पहचान करना कठिन है।

---

१. "पञ्चयोजनविस्तीर्णः प्रयागस्य तु मण्डलम्।"—मत्स्यपुराण, १, ४, ५, ८।
२. "आप्रयागं प्रतिष्ठानाद्यत्पुरा वासुकेर्ह्रदात्।
कम्बलाश्वतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः॥—वही, १, ४५, १०।
३. अग्रवाल, मत्स्यपुराण : ए स्टडी, पृष्ठ १८२।
४. वही, पृष्ठ १८२।
५. "विपुले यमुनातटे",—वही, १०६, २७।
६. काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग ४, पृष्ठ ५९९।

यज्ञों का अनुष्ठान——नगर के धार्मिक जीवन में वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का प्राधान्य था। महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मा ने स्वयं यहाँ पर कई यज्ञों का अनुष्ठान किया था और इसी कारण यह प्रयाग के नाम से विख्यात हुआ।[1] इस ग्रन्थ में इसे 'यजन-भूमि' (यज्ञ-स्थली) कहा गया है।[2] अग्निपुराण के अनुसार प्रयाग में वेद एवं यज्ञ मूर्तिमान् हो उठे थे (तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तः प्रयागके, अध्याय १११)।

दान——इस नगर में दान का माहात्म्य विशेष रूप से माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि जो व्यक्ति प्रयाग में दान देता है, वह स्वर्ग प्राप्त करता है तथा अपने दूसरे जीवन में वह सम्राट् होता है (अत्र दानाद्दिवं यान्ति राजेन्द्रो जायतेऽत्र च, अग्निपुराण, अध्याय १११)। राजवर्ग के द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख य्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण तथा राजतरङ्गिणी की पंक्तियों में उपलब्ध होता है। प्रयाग के पञ्चवर्षीय दान-वितरणोत्सव का वर्णन करते हुए य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि राजाज्ञा का पालन कर श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ, निर्धन तथा अनाथ दानग्रहण के लिये प्रयाग में एकत्र हुए थे। वहाँ सङ्गम पर एक वर्गाकार हाता बनवाया गया, जो हजार फीट लम्बा तथा हजार फीट चौड़ा था। बीच बीच में झोपड़ियाँ बनी थीं, जिनके अन्दर सोना, चाँदी, इन्द्रनील तथा महानील जैसे सुन्दर मोती आदि बहुमूल्य कोष जमा थे। रेशमी तथा सूती वस्त्र, सोने और चाँदी के सिक्के भाण्डार-गृहों में सुरक्षित थे। हर्ष एक महीने तक इन वस्तुओं का दान करते रहे। जब कोष रिक्त हो गया, तभी उन्होंने दानवितरण की क्रिया समाप्त की।[3]

राजतरङ्गिणी के अनुसार जयापीड़ नामक काश्मीर के शासक ने प्रयाग में ब्राह्मणों को एक कम एक लाख घोड़े दान में दिये थे। उन्होंने भविष्य में प्रयाग आकर दान देने वाले राजाओं के लिये एक मुद्रा पर लेख भी उत्कीर्ण कराया। इस लेख के अनुसार प्रयाग में किसी राजा के सम्पूर्ण एक लाख अश्वों के दान करने पर जयापीड़ की मुद्रा स्थानान्तरित हो जाती। राजतरङ्गिणी से विदित होता है कि भविष्य के सभी दानी नरेश ऐसा करने में पूर्णतया असमर्थ सिद्ध हुए। इस ग्रन्थ से यह भी सूचना मिलती है कि दान के क्षेत्र में जयापीड़ की तुलना करने में असमर्थ सिद्ध होने के कारण सभी अभिमानी नरेश लज्जित होकर प्रयाग में उस मुद्रा से शोधित

---

१. महाभारत, वनपर्व, ८५, ८०।
२. वही, ८५, १९।
३. वाटर्स, १, ३६६।

जल को बड़े क्लेश के साथ पीते थे।[1] विक्रमाङ्कदेवचरित से ज्ञात होता है कि इसका रचयिता बिल्हण प्रयाग आया था। उसने अपने द्वारा अर्जित धन को यहाँ विभिन्न मतावलम्बियों को दान दिया था।[2] कूर्मपुराण में कहा गया है कि सङ्गम की पवित्र भूमि में भोजन अथवा द्रव्य के रूप में दिये गये हुए दान का महद् फल इस लोक एवं परलोक में प्राप्त होता है।[3]

वेणी—दोनों नदियों के सङ्गम को 'वेणी' कहा जाता था (तदेव वेणी विज्ञेया सर्वसौख्यप्रदायिनी, त्रिस्थलीसेतु, पृष्ठ ८)। गङ्गा, यमुना एवं सरस्वती का सङ्गम मानने के कारण इसको 'त्रिवेणी' भी कहा जाता था। (स एव तीर्थराजोऽयं त्रिवेण्याः यत्र सङ्गमः, त्रिस्थलीसेतु, पृष्ठ ८)। रघुवंश के तेरहवें सर्ग में सङ्गम का मनोरम विवरण इस प्रकार उपलब्ध होता है—'अयि अनवद्याङ्गि ! यमुना की तरङ्गों से भिन्न प्रवाह वाली गङ्गा की छटा को देखो। लगता है कि कहीं पर मोतियों की माला सुशोभित है जिसमें बीच बीच में प्रभालेप से युक्त इन्द्रनील भी पिरोये गये हैं; कहीं पर सित पङ्कजों की माला सुशोभित है जिसमें बीच बीच में इन्दीवर की छटा निखर रही है; कहीं पर मानस झील के प्रेमी खगों की पंक्ति

---

१. "सः विसृज्य भुवं स्वां स्वां भूपतीननुयात्रिकान्।
प्रयागमगमत्सैन्यैः परिमेयैर्निजैः समम्॥
तत्रावशिष्टाननुचित्य वाजिनः स मनोजवान्।
द्विजेभ्यो लक्षमेकोनं प्रददौ भूरिदक्षिणाम्॥
सम्पूर्णमन्यो लक्षं यः प्रदद्यादत्र वाजिनाम्।
तन्मुद्रयेयं मन्मुद्रा विनिवार्येत्युदीर्य च॥
श्रीजयापीड़देवस्येत्यक्षैररुपलक्षिताम् ।
दिग्देशगामिनो मुद्रां गाङ्गस्य पयसो ददौ॥
तन्मुद्राङ्कम् पयः पीत्वा गाङ्गमद्यापिनिर्मलम्।
चित्ते प्रवर्धते तापो भूपानामभिमानिनाम्॥"
—राजतरङ्गिणी, सर्ग ४, ३१४, १८।

२. "धर्मस्येव व्युपरतकलेर्यत्र गीर्वाणसिन्धुः।
स्रोतःकोशे विशति यमुनावेणिभंग्याः कृपाणः॥
तस्मिन्वारान्कान्ति न कृतिना तीर्थनाथे प्रयागे।
दत्ताविश्वाद्भुतगुणगर्णोजिता येन लक्ष्मीः॥"
—विक्रमाङ्कदेवचरितम्, सर्ग १८, श्लोक ९१।

३. कूर्मपुराण, अध्याय ३६।

सुशोभित है जो कि गहरे भूरे रङ्ग के पङ्खों वाले कलहंसों के संसर्ग के कारण द्विगुणित शोभा से युक्त हो उठती है; अन्य स्थल पर वह श्वेत चन्दन से चर्चित ऐसी भूमि की शोभा के तुल्य लगती है जिसके ऊपर काले चन्दन के लेप से सुशोभित पत्तियाँ फैला दी गई हैं; कहीं पर वह अपनी छाया से युक्त चन्द्रछटा जैसी लगती है; कहीं पर वह शरद् ऋतु ऐसे शुभ्र बादलों की पंक्ति के समान लगती है जिनके छिद्रों में नीला आकाश दृष्टिगोचर होता है और कतिपय स्थलों पर वह शिव के शरीर-तुल्य दिखाई देती है जो भस्माङ्गराग तथा कृष्ण उरग से सुशोभित है।"[1]

स्नान-माहात्म्य—सङ्गम के जल में स्नान करना विशेष फलदायक माना जाता था। रघुवंश में वर्णन मिलता है कि जो व्यक्ति दोनों नदियों के सङ्गम के जल में स्नान करते हैं, उन्हें परब्रह्म के वास्तविक ज्ञान के बिना ही मुक्ति मिल जाती है।[2] कूर्मपुराण के अनुसार सङ्गम में स्नान करने वाले को स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है तथा उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।[3] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि सित एवं असित नदियों का जल देवताओं को भी दुर्लभ है। उनके सङ्गम पर स्नान करने वाला व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त होता है।[4]

---

१. "क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयीयष्ठिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागरुदत्तपत्रा भुक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रंध्रेष्विवालक्ष्यनभप्रदेशाः॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥"
—रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ५५—५८।

२. "समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र जलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुस्त्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥"
—रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ५८।

३. "अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः।"
—कूर्मपुराण, अध्याय ३६।

४. "सिताऽसितेसरिच्छ्रेष्टे यत्रास्तांसुरदुर्लभे।
यत्राप्लुतो नरः पापः परब्रह्माधिगच्छति॥"
—विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अध्याय ८४।

प्रयाग-वास—जनमत में प्रतिष्ठित था कि प्रयाग में मरने पर आत्मा को मुक्ति मिलती है। इस विश्वास के कारण देश के प्रत्येक कोने से लोग मरने के निमित्त प्रयाग आते थे। पद्मपुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रयाग में अपना निवासस्थान बनाता है, वह सभी पापों से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जिस प्रकार राहु के शिकञ्जे से शशाङ्क।[1] कूर्मपुराण के अनुसार प्रयाग में रहने के कारण मनुष्य के पितरों को सद्गति प्राप्त होती है, उसके सभी पाप विनष्ट हो जाते हैं तथा वह भवसागर पार कर जाता है।[2] य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि बहुत प्रारम्भिक काल से ही सभी धर्मों के अनुयायी प्रयाग में रहते थे। इसमें कुछ बौद्ध मठ भी बने हुये थे जिनमें हीनयान मतावलम्बी रहते थे। वहाँ पर सैकड़ों देव-मन्दिर वर्तमान थे तथा निवासियों में अधिकांश बौद्धेतर धर्म के अनुयायी थे।[3]

आत्म-हत्या—प्रयाग में आत्महत्या अपवाद रूप में धर्मसङ्गत मानी जाती थी। लोकमत के अनुसार यह अभीष्ट का पूरक था।[4] आत्महत्या यहाँ पर तीन रूपों में की जाती थी—(१) वट-वृक्ष से कूद कर, (२) गङ्गा तथा यमुना के सङ्गम के जल में डूब कर तथा (३) कायाक्लेश एवं कृत्रिम साधनों के द्वारा। य्वान् च्वाङ्ग ने वट-वृक्ष से कूद कर प्राणत्याग का उल्लेख किया है। इसके नीचे हड्डियाँ

तुलनार्ह :—

"श्रुतिभिः परिपठ्यते सितासिते सरिद्वरे।
तत्रप्लुताङ्गा ह्यमृतं भवन्तीतिविनिश्चितम्॥"

—स्कन्दपुराण, ७, ५४।

१. "एवं दृष्ट्वा तु तत्तीर्थं प्रयागे परमंपदम्।
सुच्यते सर्वपापेभ्यो शशाङ्क इव राहुणा॥"

—पद्मपुराण, अध्याय ४४।

२. "पितृणां तारकं चैव सर्वपापप्रणाशनम्।
यैः प्रयागो कृतो वासः उत्तीर्णो भवसागरः॥
गङ्गायमुनमासाद्य त्यजेत्प्राणाः प्रयत्नतः।
ईप्सितांल्लभते कामान्वदन्ति मुनिपुङ्गवाः॥"

—कूर्मपुराण, अध्याय ३६।

३. वाटर्स, २, ३६८।

४. "गङ्गायमुनमासाद्य त्यजेत्प्राणान्प्रयत्नतः।
ईप्सितांल्लभते कामान्वदन्ति मुनिपुङ्गवाः॥"

—कूर्मपुराण, अध्याय ३६, पृष्ठ ३४६।

बिखरी रहती थीं।[1] पुराणों में वट-वृक्ष से कूद कर प्राणत्याग का वर्णन मिलता है।[2] पुराण-साहित्य में सङ्गम के जल में डूब कर भी मरने का उल्लेख उपलब्ध होता है। लोगों का विश्वास था कि इस क्रिया के द्वारा अनेक आध्यात्मिक फलों की प्राप्ति होती है।[3] कायाक्लेश के द्वारा प्राणत्याग का उल्लेख य्वान् च्वाङ्ग ने किया है। उसने लिखा है कि स्थानीय नागरिक सङ्गम की भूमि पर ऊँचे लट्ठे गाड़ते थे। उनकी चोटी पर चढ़ कर वे सूर्य को निरन्तर देखते रहते थे। सूर्यास्त के पश्चात् वे नीचे उतर आते थे तथा दूसरे दिन पुनः उसी क्रिया को प्रारम्भ करते थे। इस कठोर तपश्चर्या के द्वारा क्रमशः आत्मघात कर लेने में लोगों की असीम निष्ठा थी।[4] लौकिक कारणों से भी प्रयाग में आत्महत्या की जाती थी। महाभारत में कहा गया है कि जिन्हें जीवन में कोई सुख नहीं मिलता था तथा अपनी मृत्यु निश्चित जान पड़ती थी वे यहाँ आत्महत्या करते थे (अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा, अनुशासन पर्व, २५, ६३)। अल्बरूनी लिखता है कि प्रयाग में आत्महत्या अधिकतर ऐसे व्यक्ति करते थे जो कि अपने जीवन से ऊब चुके थे, जो असाध्य रोग से पीड़ित

---

१. वाटर्स, २, ३७०।

२. "वटमूलं समाश्रित्य यस्तु प्राणान्परित्यजेत्।
सर्वलोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति॥"
—कूर्म०, अध्याय ३६, पृष्ठ ३४६; पद्म०, अध्याय ४४, श्लोक ११।
"प्रयागवटशाखाग्रात पत्तनं च करोति यः।
महापापक्रियः स्वर्गे दिव्यान् भोगान्समश्नुते॥"
—ब्रह्मपुराण, अध्याय २८, ६।

३. "सितासिते सरिते यत्र सङ्गमे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥"
—ऋक् परिशिष्ट, ऋग्वेद, १०, ७५, ५।
"जलप्रवेशं यः कुर्यात्सङ्गमे लोकविश्रुते।
राहुग्रस्तो यथा सोमो विमुक्तः सर्वपातकैः॥"
—कूर्मपुराण, अध्याय ३६, पृष्ठ ३५६।
"सितासितेसरिच्छ्रेष्ठे यत्रास्ते सुरदुर्लभे।
यत्राप्लुतो नरः पापः परं ब्रह्माधिगच्छति॥"
—विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, अध्याय ८३, ४६।

४. वाटर्स, २, ३७१।

होते थे अथवा जो अधिक वृद्ध या पङ्गु हो जाते थे।[1] प्रयाग में कभी कभी राजवर्ग के लोग भी आत्महत्या करते थे। धङ्ग, गाङ्गेयदेव, रामपाल तथा चालुक्य-नरेश आहवमल्ल के भी उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने प्रयाग में अग्नि में जल कर आत्म-हत्या की थी। अफसढ़ के लेख के अनुसार कुमारगुप्त नामक उत्तरगुप्त नरेश ने प्रयाग में प्राणोत्सर्ग किया था।[2]

अन्य विश्वास—प्रयाग में लोग अपने सिर के बालों को मुड़ा देते थे। इस क्रिया को 'वपन' कहा जाता था ('प्रयागे वपनं कुर्यात्' त्रिस्थलीसेतु, पृष्ठ ८)। विधवाओं के लिये प्रयाग में अपने बालों को मुड़ा देना अनिवार्य समझा जाता था ('अपतीनां प्रयागे वपनं कार्यम्' त्रिस्थलीसेतु, पृष्ठ २२)। सधवा स्त्रियाँ अपनी चोटी (वेणी) को कभी कभी कटा कर सङ्गम के जल में फेंक देती थीं। ऐसा विश्वास था कि इस क्रिया के द्वारा उनके सारे पाप विनष्ट हो जाते हैं तथा जन्मान्तर में भी उनकी सधवावस्था बराबर बनी रहती है (वेण्यां वेणीप्रदानेन सर्वपापं प्रणश्यतु। जन्मान्तरेष्वपि सदा सौभाग्यं प्रवर्द्धताम्॥ त्रिस्थलीसेतु, पृष्ठ २२)।

प्रयाग में लोग श्राद्ध भी करते थे। अग्निपुराण के अनुसार इससे अनश्वर फल की प्राप्ति होती है।[3] पुराणों में प्रयाग में पञ्चाग्निसाधन का उल्लेख मिलता है। पद्मपुराण में कहा गया है कि गङ्गा एवं यमुना नदियों के बीच जो व्यक्ति पञ्चाग्नि-साधन करते हैं वे अपने पञ्चेन्द्रियों के साथ अहीनाङ्ग एवं विरोग सहस्रों वर्षों तक स्वर्गलोक में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं।[4]

---

१. साचो, १, १९९।

२. "शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो धने।
अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः॥"
—का० इं० इं०, ३, लेख-संख्या ४२।

इस विषय पर द्रष्टव्य—मेरा लेख, दी सिटी ऑफ़ प्रयाग इन लीजेण्ड ऐण्ड हिस्ट्री, दी जर्नल ऑफ़ दी इलाहाबाद हिस्टारिकल सोसायटी, जुलाई १९६२ अङ्क, पृष्ठ १०–११।

३. "प्रयागे सङ्गमे दानं श्राद्धं जप्यादिचाक्षयम्।"
—अग्निपुराण, अध्याय १११।

४. गङ्गायमुनयोर्मध्ये पञ्चाग्निं यस्तु साधयेत्।
अहीनाङ्गो विरोगश्च पञ्चेन्द्रियसमन्वितः॥
यावन्ति रोमकूपाणि तस्य गात्रस्य देहिनः।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥"
—पद्मपुराण, अध्याय ४४।

द्रष्टव्य—काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग ४।

प्रयाग के उपतीर्थ––महाभारत के वनपर्व में प्रयाग के चार उपतीर्थों के उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ, प्रतिष्ठान, कम्बल, अश्वतर तथा भोगवती (प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरावुभौ। तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः॥––अध्याय ८५, ७६)। इनमें प्रतिष्ठान, कम्बल एवं अश्वतर का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। महाभारत के अनुसार भोगवती वासुकि-ह्रद के उत्तर में स्थित था। इसमें यज्ञों का अनुष्ठान एवं वैदिक मन्त्रों का उच्चारण निरन्तर हुआ करता था (तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर, वनपर्व, ३५, ७७)। पुराणों में प्रयाग के अन्तर्गत कुछ उपतीर्थों के उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ, उर्वशीपुलिन, निरञ्जन, हंसप्रपत्तन तथा उर्वशीरमण। मत्स्यपुराण के अनुसार जो व्यक्ति उर्वशी-पुलिन में निवास करता है, उसे अपने पितरों के साथ स्वर्गलोक में चिरकाल तक निवास करने के निमित्त सुअवसर उपलब्ध होता है (षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्ष-शतानि च। सेव्यते पितृभिः सार्धं स्वर्गलोके नराधिप॥––मत्स्यपुराण, अध्याय १०६)। मत्स्यपुराण में निरञ्जन तीर्थ को देवताओं का निवासस्थान कहा गया है (तीर्थं निरञ्जनं नाम यत्र देवाः सवासवाः, अध्याय १०८)। मत्स्यपुराण के अनुसार हंस-प्रपत्तन गङ्गा के पूर्व तथा प्रतिष्ठान के उत्तर में स्थित था ('उत्तरेण-प्रतिष्ठानात् भागीरथ्यास्तु पूर्वतः। हंसप्रपत्तनं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्॥ अध्याय १०६, श्लोक ३२)। यह तीर्थ उस स्थान का द्योतक है जहाँ हिमालय से लौटने के अनन्तर हंस गङ्गा के तट पर रहने लगते हैं (मत्स्यपुराण––ए स्टडी, पृष्ठ १८२)। उर्वशीरमण वह स्थान था, जहाँ परम्परा के अनुसार पुरूरवा ने उर्वशी के साथ सम्भोग किया था। यह प्रतिष्ठान (झूँसी) के पूर्व में स्थित विशाल रेतीला मैदान ज्ञात होता है (उर्वशीरमणे पुण्ये विपुले हंसपाण्डुरे; द्रष्टव्य-मत्स्यपुराण-ए स्टडी, पृष्ठ १८३)। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रयाग विविध धार्मिक कृतियों से सम्बन्धित था तथा पवित्रता के लिये इसकी प्रसिद्धि विशेष रूप से थी।

अयोध्या––अयोध्या भारत का एक बहुत ही प्राचीन नगर था। कुछ लोग साकेत और अयोध्या को एक ही नगर मानते हैं। पर इस प्रकार मानना वास्तव में उनकी भूल है। पालिग्रन्थों में साकेत और अयोध्या दो विभिन्न नगरों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, अतएव किसी भी दशा में दोनों एक ही नगर के नाम नहीं हो सकते। रिज़ डेविड्स का कहना है कि दोनों लन्दन और वेस्टमिस्टर के समान समीपवर्ती नगर रहे होंगे।[1] भारतीय परम्परा के अनुसार अयोध्या में इक्ष्वाकुओं की राजधानी

---

१. रिज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३९।

थी। इस घटना के कारण ही कालान्तर के ग्रन्थों में भी अयोध्या को राजधानी कहा गया है; उदाहरणार्थ रघुवंश[1] तथा विक्रमाङ्कदेवचरित।[2] इसके प्राचीन रूप का वर्णन रामायण की पंक्तियों में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह सरयू के तट पर बसा हुआ था तथा कोसल का प्रमुख नगर था।[3] इस लोक-विश्रुत पुर को देखकर ऐसा आभास होता था, मानों मनु ने स्वयं अपने हाथों के द्वारा ही उसका निर्माण किया हो।[4] यह एक परिखा के द्वारा परिवेष्टित था, जिसके कारण शत्रु इसके भीतर प्रवेश नहीं पा सकते थे। इसके चतुर्दिक एक ऊँचा प्राकार था तथा सालवृक्षों की एक चहारदीवारी थी। प्राकार में रक्षा के निमित्त सैकड़ों शतघ्नियाँ लगी हुई थीं। इसके भीतर प्रधान सड़कें बड़ी सुन्दर, लम्बी तथा चौड़ी बनी हुई थीं। उन पर प्रति दिन जल का छिड़काव होता था तथा फूल बिखेरे जाते थे।[5] यह नगर बहुत सुन्दर ढङ्ग से बसाया गया था। इसके भीतर बने हुए भवन कई मञ्जिलों के थे तथा देखने में बहुत सुन्दर लगते थे। उनमें कपाट तथा तोरण बने हुए थे एवं उनके शिखरों पर मङ्गलध्वज लगाये गये थे। इस नगर में वेश्याएँ, नाटक के खेलने वाले कलाकार, इक्ष्वाकुओं के अधीन सामन्त, सूत, मागध तथा शिल्पी निवास करते थे। नाना देशों से यहाँ पर व्यापार के निमित्त वणिक आया करते थे।[6] इस नगर में ऐसे योद्धा रहते थे, जो शब्दवेधी बाण चला सकते थे जिनका लक्ष्य अचूक जाता था।[7] वनों में मस्त विचरण करने वाले सिंह, बाघ

---

१. "वहत्ययोध्यामनुराजधानीम्"--रघुवंश, सर्ग १३, ६१।

२. "सोऽताभतुर्व्यरचयदसौ राजधानीमयोध्याम्"।

—विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८, श्लोक ९४।

३. "कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥"

—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, ५।

४. "मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्"।

—वही, बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति १२।

५. "राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥"

—वही, बालकाण्ड, सर्ग ५, ८।

६. "नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्।"

—वही, बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति २८।

७. 'ये च वाणेन विध्यन्ति विविक्तमपरापरम्।
शब्दवेध्यं च विततं लघुहस्ता विशारदाः॥"—वही, बालकाण्ड, सर्ग ५, २०।

और शूकरों को तीखे शस्त्रों तथा बाहुबल से मारने वाले महारथी भी यहाँ निवास करते थे।[1] इस नगर में मङ्गलसूचक दुन्दुभी, मृदङ्ग, वीणा तथा पणव आदि बाजे सर्वदा बजा करते थे।[2] यह बस्ती बहुत ही सघन थी। कहीं से भी अवकाश नहीं था। इन नागरिकों के सहित महाराज दशरथ इस नगर में उसी प्रकार निवास करते थे, जिस प्रकार स्वर्गलोक में इन्द्र।[3]

रामायण में अयोध्या के नागरिकों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का एक आदर्श चित्रण मिलता है। इस नगर में निम्नतर जातियों के सदस्य उच्चतर जातियों के सदस्यों को बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। वहाँ के क्षत्रिय ब्राह्मणों के अनुयायी थे तथा वैश्य क्षत्रियों के अनुयायी थे। शूद्र अपने कर्म का पालन करते थे तथा तीनों वर्णों की सेवा करते थे।[4] वहाँ के ब्राह्मण जितेन्द्रिय, अपने कर्मों में संलग्न, दानी एवं स्वाध्यायी थे।[5] प्रायः सभी अयोध्यावासी राजभक्ति, सत्य तथा अतिथि-सेवा आदि गुणों में विश्वास रखते थे। वे धर्मशील, सुसंयत तथा महर्षियों के तुल्य पुण्यात्मा थे।[6] महातेजस्वी दशरथ इन नागरिकों के बीच उसी प्रकार सुशोभित थे, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा सुशोभित होता है।[7]

---

१. "सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने।
हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद्बाहुबलैरपि॥"—वही, बाल०, सर्ग ५, २१।

२. "दुंदुभीर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम्॥"—वही, बाल०, सर्ग ५, १८।

३. "तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा॥"—वही, बाल०, सर्ग ५, २२।

४. "क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन्वर्णानुपचारिणः॥"—वही, बाल०, सर्ग ५, १९।

५. "स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्चप्रतिग्रहे॥"—वही, बाल०, सर्ग ५, १३।

६. "सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥"—वही, बाल०, सर्ग ६, ९।

७. "तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान्।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः॥"
—वही, बाल०, सर्ग ६, २७।

पालिग्रन्थों में अयोध्या के लिए अयोज्झा तथा अयुज्झनगर नाम आते हैं। इनमें अयोध्या को कोसल का एक नगर बताया गया है। गौतम बुद्ध का इस नगर के साथ विशेष सम्बन्ध था। धर्मप्रचार के सम्बन्ध में वे इस पुर में कई बार आ चुके थे। गौतम बुद्ध ने यहाँ पर एक बार अपने मतावलम्बियों को मानव-जीवन की निस्सारता तथा क्षणभङ्गुरता पर एक सुन्दर व्याख्यान दिया था।[१] यहाँ (कोसल) के शासक गौतम बुद्ध के प्रशंसक थे। सम्भवतः गौतम के अयोध्या-सम्बन्ध की ओर लक्ष्य करते हुए मज्झिमनिकाय में उन्हें कोसलक अर्थात् कोसल का रहने वाला (भगवापि कोसलको) कहा गया है।[२] अयोध्या के नागरिक गौतम बुद्ध के बहुत बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने गौतम बुद्ध के निवास के लिये अयोध्या के समीप शान्तिमय वातावरण में एक सुन्दर विहार का निर्माण किया था।[३] एक जातक में अयोध्या के कालसेन नामक नरेश का उल्लेख हुआ है। इसके राज्यकाल में अन्धकवेण्हु के दस पुत्रों ने इस नगर के ऊपर आक्रमण किया था। उन्होंने इसके प्राकार को तोड़कर गिरा दिया तथा इसे बहुत अधिक क्षति पहुँचाई।[४]

नन्दों के काल में भी अयोध्या एक समृद्धशाली नगर रहा होगा। कथासरित्सागर के अनुसार यहाँ पर नन्दों की एक सेना रहती थी।[५] किसी भी मौर्यकालीन साक्ष्य में अयोध्या का उल्लेख नहीं मिलता। इस कारण इसके तत्कालीन इतिहास के विषय में कुछ पता नहीं चलता। यहाँ से कतिपय मौर्यकालीन मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काल में अयोध्या एक राजनीतिक केन्द्र अवश्य रहा होगा। ये मुद्राएँ बनावट में "पञ्च-आहत मुद्राओं" से साम्य रखती हैं। इनके ऊपर प्रतीक ठीक उसी प्रकार मिलते हैं, जिस प्रकार "पञ्च-आहत" मुद्राओं पर उपलब्ध होते हैं; उदाहरणार्थ स्वस्तिक, मत्स्य तथा अर्द्धचन्द्र इत्यादि।[६]

अयोध्या शुङ्गों के राज्य में भी सम्मिलित था। यहाँ से धनदेव का जो प्रस्तर-लेख प्राप्त हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुङ्ग ने दो अश्वमेध यज्ञों का

---

१. मललसेकर, १, १६५।

२. मज्झिमनिकाय, २, १२४।

३. मललसेकर, १, १६५।

४. जातक, ४, ८२।

५. कथासरित्सागर (टानी का अनुवाद, १, ३७)।

६. ज० ए० सो० ब०, १८८०, फलक १७। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ २४

अनुष्ठान किया था। इस अभिलेख में उसे कोसलाधिप कहा गया है।[1] इन यज्ञों का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में मिलता है। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध में अयोध्या में एक स्थानीय राजवंश राज्य कर रहा था। इस वंश के नरेशों की मुद्राएँ राजाओं के नाम के सहित इस नगर के भग्नावशेषों में प्राप्त हुई हैं। ये नाम इस प्रकार हैं:—धनदेव, विशाखदेव, मूलदेव, वायुदेव, नरदत्त तथा शिवदत्त। इन मुद्राओं की बनावट के ऊपर वाह्य प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके मुखभाग पर बैल, हाथी तथा राजलक्ष्मी के चित्रों का अङ्कन मिलता है। इनके पृष्ठभाग पर "पञ्च-आहत" मुद्राओं के समान कतिपय प्रतीक मिलते हैं।[2] इन मुद्राओं के धनदेव की एकता अयोध्या के प्रस्तर-लेख के धर्मराज धनदेव से की जा सकती है। इस लेख के अनुसार यह धनदेव मातृपक्ष से सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग की छठी पीढ़ी में आता था।[3] अयोध्या कुछ काल के लिए कुषाण-साम्राज्य में भी सम्मिलित था। कुषाणों के उपरान्त अयोध्या में पुनः एक स्थानीय वंश का उद्गम हुआ। इस वंश के राजाओं की मुद्राएँ उनके नामों के सहित अयोध्या से प्राप्त हुई हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—सत्यमित्र, आर्यमित्र, सङ्घमित्र, विजयमित्र, देवमित्र, अजवर्मा तथा कुमुदसेन। इनकी मुद्राओं में कुछ मौलिकताएँ उपलब्ध होती हैं। सम्भवतः कुमुदसेन के किसी उत्तराधिकारी से गुप्तों ने अयोध्या को छीना था।[4]

गुप्तों के काल में अयोध्या एक राजनीतिक एवं धार्मिक केन्द्र था। समुद्रगुप्त के गया के लेख से ज्ञात होता है कि अयोध्या में गुप्तों का एक महान् जयस्कंधावार पड़ा हुआ था।[5] पुरगुप्त की मुद्राओं पर 'श्रीविक्रम' की उपाधि अङ्कित मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने "विक्रमादित्य" की उपाधि धारण की थी। एलन महोदय ने पुरगुप्त विक्रमादित्य की एकता अयोध्या के विक्रमादित्य से की है, जिनके पुत्र बालादित्य ने वसुबन्धु के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म का संरक्षण किया

---

१. "कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य।"
—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ९६।

२. दी एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १७३।

३. "पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन. . .धर्मराज्ञा"।
सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ९६।

४. दी एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १७४।

५. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २६५।

था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की राजधानी मौखरियों के अभ्युदय-काल के पूर्व तक अयोध्या में प्रतिष्ठित थी।[१] चीनी यात्री फाहियान गुप्तों के काल में अयोध्या आया था। उसने लिखा है कि इस नगर के ब्राह्मणों और बौद्धमतावलम्बियों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेमपूर्ण था।[२]

चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग भी अयोध्या आया था। वह लिखता है कि इस नगर में असङ्ग तथा वसुबन्धु रहते थे। जिस मठ में रहकर वसुबन्धु ने अपने विविध ग्रन्थों की रचना की थी, वह अब भी विद्यमान था। यहाँ पर एक विशाल भवन भी था, जहाँ पर वसुबन्धु ने राजाओं तथा भिक्षुओं को बौद्ध धर्म के ऊपर व्याख्यान दिया था। अयोध्या में इस चीनी यात्री ने कुछ स्तूप भी देखा था। इनमें से एक अशोक के द्वारा बनवाया गया था, जो कि नदी के समीप ही था। इसके पास एक मठ भी था, जहाँ पर लगभग तीन महीने तक गौतम बुद्ध ने अपना व्याख्यान दिया था। इससे कुछ हट कर पश्चिम की दिशा में एक और स्तूप था, जिसमें गौतम बुद्ध की अस्थियाँ विद्यमान थीं। बगल में ही एक मठ भी था, जहाँ पर "शौत्रान्तिक-विभाषा-शास्त्र" की रचना हुई थी। नगर की दक्षिण-पश्चिम दिशा में एक मठ था, जहाँ पर असङ्ग शिक्षा दिया करते थे। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार असङ्ग ने योगाचारभूमिशास्त्र, सूत्रालङ्कार-टीका तथा मध्यान्तविभाग-टीका की रचना की थी। वह लिखता है कि वे महीशासक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कालान्तर में उन्होंने महायान धर्म में दीक्षा ली थी। असङ्ग की मृत्यु के पश्चात् वसुबन्धु ने महायान धर्म के समर्थन में कई ग्रन्थों की रचना की थी। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि ८३ वर्ष की अवस्था में वसुबन्धु की मृत्यु अयोध्या में हुई थी।[३]

कालान्तर के ग्रन्थों में अयोध्या का वर्णन एक धार्मिक केन्द्र के रूप में मिलने लगता है। धार्मिक क्षेत्र में इसकी महत्ता का कारण सरयू के तट पर इसकी स्थिति तथा इक्ष्वाकु राजाओं विशेषतः राम के जीवन के साथ इसका सम्बन्ध था। यही कारण है कि अयोध्या को इक्ष्वाकु-भूमि तथा रामपुरी भी कहते थे।[४] पुराणों में तो अयोध्या को सात मोक्षदायिका पुरियों में प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर महापुराण के अनुसार यहाँ पर यज्ञों का अनुष्ठान हुआ करता था।[५]

---

१. राय चौधरी, पो० हि० ऐ० इं०, पृष्ठ ५८७।
२. लेग्गे, ट्रैवेल्स ऑफ़ फाहियान, पृष्ठ ५४—५५।
३. वाटर्स, १, ३५४-५९।
४. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ २४। देखियेः—ला बी. सी., इंडोलॉजिकल स्टडीज पृष्ठ ७।
५. "ब्रह्मघोषमहाघोषा द्विजवन्दोपशोभिता।

नरसिंहपुराण तथा स्कन्दपुराण से ज्ञात होता है कि अयोध्या में सरयू के तट पर पवित्र घाट बने हुए थे, जहाँ पर स्नान के निमित्त लोग बहुसंख्या में एकत्र हुआ करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरित के अनुसार सरयू के पवित्र जल में स्नान करने के लिये बिल्हण अयोध्या आया हुआ था।[1]

साकेत—यह कोशल का एक प्रसिद्ध नगर था। साकेत तथा अयोध्या को प्रायः विद्वान एक ही नगर के दो नाम मानते हैं, पर रिज़ डेविड्स महोदय ने दोनों के ऐक्य पर सन्देह प्रगट किया है। उनका कहना है कि पालिग्रन्थों में साकेत तथा अयोध्या नाम दो विभिन्न नगरों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, अतएव किसी भी दशा में दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हो सकते। उन्होंने इन्हें लन्दन तथा वेस्टमिंस्टर के समान समीपवर्ती नगर माना है।[2] सुप्रसिद्ध वाणिज्य-केन्द्र होने के कारण समकालीन नगरों के साथ इसका घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था। धार्मिक क्षेत्र में भी इसकी ख्याति प्रतिपादित हो चुकी थी। धर्म-प्रचार के उद्देश्य से गौतम बुद्ध कई बार इस नगर में आये थे। इसकी सीमा पर अञ्जनवन तथा कालकाराम नामक विश्रामगृह बने हुए थे। साकेत में आगमन के अवसर पर इन भवनों में गौतम के विराम का उल्लेख पालिग्रन्थों में मिलता है। उनके प्रिय शिष्य आनन्द तथा अनिरुद्ध के भी विश्राम-स्थान बनने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हो चुका था। कहा जाता है कि इस नगर के धनिक सेठ कालक की पुत्रवधू चुलसुभद्द ने गौतम बुद्ध के प्रति असीम भक्ति तथा अटूट श्रद्धा के कारण इन्हें प्रीतिभोज के लिये आमन्त्रित किया था। गौतम बुद्ध ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया तथा अपने प्रिय शिष्यों एवं अनुयायियों के साथ सुभद्द के घर पधार कर उसे कृतार्थ करने की कृपा की थी। भोजनोपरान्त गौतम ने उपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर कालक तथा उसके समस्त परिवार ने उनके धर्म में दीक्षा ली। साकेत धनी सेठों के लिये विख्यात था। इस नगर के एक सेठ ने कठोर शिरोवेदना से पीड़ित अपनी भार्या के निदान पर प्रसन्न होकर जीवक नामक तत्कालीन सुप्रसिद्ध राजवैद्य को सोलह सौ कार्षापणों की थैली भेंट की थी।[3]

साज्यधूमोद्गमा येन वायुना नष्टकिल्विषा ।।
सुगन्धितधूमविदीर्य सुरभीकृतमारुता ।।"
—विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, अध्याय २४०, पंक्ति १०–१९।

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, १८, ९४।

२. रिज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३९।

३. मललसेकर, १, १०८६।

अध्याय ६

प्राच्य नगर

श्रावस्ती—यह कोसल का एक प्रधान नगर था (कोसलानं पुरी)।[1] प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिये **सावत्थी**[2], **चन्द्रपुरी**[3] तथा **चन्द्रिकापुरी**[4] नाम भी आते हैं। इसके नाम की व्युत्पत्ति के विषय में तीन वर्णन उपलब्ध होते हैं। (१) पहला वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इसके अनुसार यहाँ पर पहले सवत्थ नामक एक ऋषि रहते थे। उनके नाम के आधार पर इसका सावत्थी नाम उसी प्रकार पड़ा, जिस प्रकार काकन्द, माकन्द तथा कोसम्ब के नामों के आधार पर क्रमशः काकन्दी, माकन्दी तथा कोसम्बी नाम पड़े।[5] इस प्रकार नाम रखने के सम्बन्ध में कतिपय अन्य उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ बुद्धचरित में कपिल-वस्तु के नाम की व्युत्पत्ति का कारण महर्षि कपिल का इसके साथ सम्बन्ध बताया गया है (पुरं महर्षेः कपिलस्य वस्तुः)।[6] पाणिनि ने भी रहने वाले के नाम के आधार पर स्थान के नाम के पड़ने का उल्लेख किया है (तस्य निवासः)। (२) दूसरा वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है; उदाहरणार्थ महाभारत तथा हरिवंश। इनके अनुसार इस नगर के निर्माता श्रावस्तक नामक नरेश थे। इन्हीं के नाम पर इसका श्रावस्ती नाम पड़ा। श्रावस्तक पृथु की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था।[8]

---

१. सुत्त-निपात, पृष्ठ १९०।

२. पपञ्चसूदनी १, पृष्ठ ५९।

३. जैन हरिवंश पुराण, पृष्ठ ७१७।

४. वही, पृष्ठ ७१७।

५. "सावत्थीति सवत्थस्स इसिनो निवासत्थानभूता नगरी, यथा काकन्दी माकन्दीति"। पपञ्चसूदनी १, पृष्ठ ५९। द्रष्टव्य-ला बी० सी०, आ० स० रि०, संख्या ५०, पृष्ठ ६-७

६. बुद्धचरित, अध्याय १।

७. अष्टाध्यायी, ४, २, ६९।

८. "विश्वगश्वाः पृथोः पुत्रः पुत्रस्तस्मादार्दश्चजज्ञिवान्।
आर्द्रात्तु युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्य तु चात्मजः॥

पुराणों में इस नगर के संस्थापक का नाम श्रावस्तक के स्थान पर श्रावस्त मिलता है।[1] (३) तीसरा वर्णन पपञ्चसूदनी में मिलता है। इसमें कहा गया है कि मनुष्य के प्रति दिन के जीवन में काम में आने वाली सभी प्रकार की वस्तुएँ यहाँ पर बहुसंख्या में प्राप्त होती थीं। यही कारण है कि इसका नाम सावत्थी (श्रावस्ती) पड़ा (सब्बम् एत्थ अत्थीति सावत्थी—अर्थात् जहाँ पर सब कुछ उपलब्ध है)।[2] रामायण[3] तथा वायुपुराण[4] में श्रावस्ती को उत्तर कोसल की राजधानी बताया

तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता।
श्रावस्तस्य तु दायादो बृहदाश्वो महाबलः॥"
—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २०१, ३-४।

"विष्टराश्वः पृथोः पुत्रः तस्मात् आर्द्रस्त्वजायत।
आर्द्रस्य युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्य तु चात्मजः॥
यज्ञे श्रावस्तको राजा श्रावस्ती येन निर्म्मिता।
श्रावस्तस्य तु दायादो बृहदाश्वो महायशः॥"
—हरिवंश, अध्याय ११, २१-२२।

१. "श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्ततसुतोऽभवत्।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौडदेशे द्विजोत्तम॥"
—मत्स्यपुराण, अध्याय १२, श्लोक ३०।

२. पपञ्चसूदनी १, पृष्ठ ५९।

३. "कोसलेषु कुशम् वीरम् उत्तरेषु लवं तथा।
अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ॥
कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता॥
श्रावस्तीति पुरी रम्या श्रावीता च लवस्य च।
अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तदा॥"
—रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १, २०-२२।

४. "कुशस्य कोसलो राज्यं पुरी वापि कुशस्थली।
रम्या निर्मिता तेन विन्ध्यपर्वतसानुषु॥
उत्तराकोसले राज्ये लवस्य च महात्मनः।
श्रावस्ती लोकविख्याता कुशवंश निबोधत॥"
—वायुपुराण, अध्याय ८८, १९७-९८। ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, उपोद्घातपाद ३, अध्याय ६३, १९९-२००।

गया है। यहाँ पर लव राज्य करते थे। दक्षिण कोसल की राजधानी कुशावती थी। यहाँ पर कुश का राज्य था।

श्रावस्ती अचिरावती नदी के तट पर बसा हुआ था, जिसकी पहचान आधुनिक राप्ती से की जाती है। महावग्ग के अनुसार इस नगर के निवासी श्रमण अचिरावती में स्नान करने के निमित्त आते थे।[1] 'महापरिनिब्बानसुत्त' में कहा गया है कि इसकी गणना तत्कालीन ६ सुप्रसिद्ध नगरों में होती थी। इसमें धनिक ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य रहते थे, जिनकी बौद्ध धर्म में असीम निष्ठा थी।[2] ललितविस्तर में इसे कोसल का सबसे प्रधान नगर कहा गया है।[3] समन्तपासादिका के अनुसार यह ५७ हजार कुलों का निवास-स्थान तथा कोसल-नरेशों की आय का प्रमुख साधन था (आयमुखभूता)।[4] इस नगर की परिखा, प्राकार एवं नगरद्वार के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र आकस्मिक उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, धम्मपदटीका में इसके उत्तर-द्वार का उल्लेख हुआ है।[5] फाहियान[6] ने इसके दक्षिण-द्वार तथा य्वान् च्वाङ्[7] ने इसके पूर्व-द्वार का उल्लेख किया है।

मज्झिम-निकाय में कोसल-नरेश प्रसेनजित पुण्डरीक नामक एक हाथी की पीठ पर बैठ कर नगर के बाहर निकलते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[8] इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर उक्त नरेश को बड़े घोड़ों के द्वारा खींचे जाते हुए रथ में आरूढ़ होकर नगर-द्वार से बाहर निकलता हुआ दिखाया गया है।[9] इससे ज्ञात

"श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकऽस्ततसुतोऽभवत्।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौड़देशे द्विजोत्तम॥"
—मत्स्यपुराण, अध्याय १२, श्लोक ३०।

१. इध सावत्थियम जेतवने अनापिण्डिकस्य आरामे भिक्खुनियो अचिरावतिया नदिया वेसियापि सद्धिम् नग्गा एकतित्थे नहायन्ति।" महावग्ग, पृष्ठ २९३।

२. दीघनिकाय, २, २२६।

३. ललितविस्तर, अध्याय १।

४. समन्तपासादिका, पृष्ठ ६१४।

५. धम्मपदटीका, ३, पृष्ठ ३८०। ला बी. सी., आ. स. रि., संख्या ५., पृष्ठ १६।

६. बील, बुद्धिस्ट रेकर्ड, १।

७. वही, २, ४।

८. "राजा पसेनदि—कोसलो एकपुण्डरीकं नागं अधिरूहित्वा सावत्थिया निय्याति"—मज्झिम निकाय, १, ११२।

९. वही, १, १४९।

होता है कि ये द्वार काफी चौड़े रहे होंगे। नगर की सड़कें पर्याप्त चौड़ी थीं। इन पर बड़ी सवारियाँ भली भाँति आ जा सकती थीं। संयुक्त-निकाय से निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ के नागरिक हाथी (हत्थिखण्डम् आरोहेय्य), घोड़े (अस्स-पिट्ठिम् आरोहेय्य) तथा पालकी पर चढ़ कर (पलङ्कम् आरोहेय्य) राजमार्गों पर निकलते थे।[1] इस नगर में बाहर से प्रति दिन अनेक श्रमण, साधु एवं संन्यासी आया करते थे। प्रसेनजित ने इनके भोजन की सुविधा के निमित्त एक राजकीय कोष्ठागार बनवा रखा था। इसमें से उन्हें घी, तेल तथा खाद्यपदार्थ उनकी आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए दिया जाता था।[2] सोहगौरा का ताम्रलेख (जिसमें श्रावस्ती के महामात्रों को आज्ञा दी गई है—श्रावस्तीयानां महामात्राणाम् शासनम्) एक ऐसा अभिलेख साक्ष्य है जिससे ज्ञात होता है कि राजकीय कोष्ठागार बनाने की प्रथा भारत में उस समय अधिक व्यापक थी। इस लेख में वंशग्राम तथा मनद-सतिकड़ नामक ग्रामों का उल्लेख मिलता है, जिसमें राज्य की ओर से कोष्ठागार बने हुए थे।[3] पपञ्चसूदनी में श्रावस्ती के उत्कर्ष का निरूपण करते हुए कहा गया है कि कोसल का यह प्रधान नगर सर्वदा रमणीक, दर्शनीय, मनोरम एवं धनधान्य से सम्पन्न था। इसमें सभी प्रकार के उपकरण वर्तमान थे। इसके वैभव को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता था, मानों देवपुरी अलकनन्दा साक्षात् धरातल पर उतर आई हो।[4] संयुक्तनिकाय में प्रसेनजित के प्रासाद का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ से प्रधान नगर-द्वारों की ओर चौड़े राजमार्ग जाते थे।[5]

इस नगर में तीन प्रसिद्ध स्थान थे:—(१) जेतवन, (२) पूर्वाराम तथा (३) मल्लिकाराम। जेतवन एक उद्यान था, जो कि फाहियान तथा य्वान् च्वाङ्ग के यात्रा-विवरण के अनुसार नगर के दक्षिण-द्वार के समीप स्थित था। महावग्ग में कहा गया है कि जेतवन में रहने वाले भिक्षु अचिरावती नदी में स्नान करने के

---

१. संयुक्त निकाय, १, ९५।

२. इं० हि० क्वा०, १०, पृष्ठ ५६।

३. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिशंस, पृष्ठ ८५।

४. "सब्बदा सब्बूपकरणं सावत्थियं समोहितं तस्मा सब्बं उपादाय सावत्थीति पवुच्चति। कोसलानं पुरं रम्मं दस्सनीयं मनोरमं दसहि सद्देहि अविवित्तं अन्नपान-समायुतं। बुद्धि वेपुल्ले पत्तं इदं फीतं मनोरमं अलकनन्दा व देवानं सावत्थीपुरं उत्तमंति। पपञ्चसूदनी, पृष्ठ ६०–५९।

५. संयुक्त निकाय १, ९५।

लिए आते थे।[1] इससे कहा जा सकता है कि यह उद्यान इस नदी के तट के समीप कहीं विद्यमान रहा होगा। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इसका आरोपण, संवर्धन तथा परिपालन जेत नामक एक राजकुमार के द्वारा किया गया था।[2] जो स्थान राजगृह में वेणुवन तथा वैशाली में महावन का था, वही स्थान श्रावस्ती में जेतवन का था। इसके शान्तिमय वातावरण से प्रभावित होने के कारण नगर का अनाथपिण्डिक नामक व्यापारी इसे खरीदकर बौद्ध सङ्घ को दान करना चाहता था। इसे खरीदने के निमित्त जेत को उसे असंख्य मुद्राएँ देनी पड़ीं। उसने इस उपवन में एक विहार का भी निर्माण किया, जिसे अनाथपिण्डिक-आराम कहा जाता था (सावत्थियं जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे)।[3] यह गौतम बुद्ध का प्रिय निवास-स्थान था। श्रावस्ती आने पर बहुधा वे यहीं विश्राम करते थे। उनका प्रवचन भी यहाँ कई बार हुआ था। गौतम बुद्ध के काल में यह कोसल का सबसे प्रसिद्ध धार्मिक भवन था। यही कारण है कि लोग इसे कोसल-मन्दिर कहते थे (सावत्थियं कोसलमन्दिरे)।[4] जेतवन के भीतर इस व्यापारी ने कुछ अन्य निर्माण भी किया था; उदाहरणार्थ, परिवेण (विश्रामगृह), कोट्ठक (कुठार), उदपान (कूप), पोक्खरणी (तालाब), मण्डप (चबूतरा) तथा विहार (निवास-गृह)।

इन निवास-गृहों में गण्ध-कुटी, करेरि-कुटी, तथा कोसम्ब-कुटी उल्लेखनीय हैं। गन्ध-कुटी जेतवन के बीचोबीच बना हुआ था (सो मज्झे गन्धकुटीं कारेसि)।[5] करेरि-कुटी देखने में बहुत ही सुन्दर थी। इसके निर्माण में दृढ़ स्तम्भ लगाये गये थे। दर्शक को आभास होता था, मानो कोई देवगृह सामने विद्यमान हो (थम्भानं उपरिकारिताय देवविमानकधाय करेरिकुटिकाय विहरति)।[6] इसके द्वार के सामने एक करेरि वृक्ष था। यही कारण है कि इसका यह नाम पड़ा (करेरि-

---

१. "सावत्थियं जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियापि सद्धिम् नग्गा एकतित्थे नहायन्ति।" महावग्ग, पृष्ठ २९३।

२. "तंहि जेतेन राजकुमारेन रोपितं संवद्धितं परिपालितं, सो च तस्स सामी अहोसि, तस्मा जेतवने ति वुच्चति।" पपञ्चसूदनी, १, ६०।

३. सुत्त-निपात, पृष्ठ १९२।

४. वही, पृष्ठ १९२।

५. जातक, १, पृष्ठ ९२।

६. सुमङ्गलविलासिनी, २, पृष्ठ ४०७। ला बी० सी, आ० स० रि०, संख्या ५०, पृष्ठ २२-२३।

मण्डपो तस्सा कुटिकाय द्वारेथितो तस्मा करेरिकुटिका ति वुच्चति)।[१] कोसम्ब-कुटी के द्वार के सामने एक कोसम्ब-वृक्ष था। यही कारण है कि इसका नाम कोसम्बकुटी पड़ा (कोसम्बरुक्खस्स द्वारे थितत्ता कोसम्बकुटिका ति)।[२] ये तीनों गेह बहुत बड़े थे। यही कारण है कि सुमङ्गलविलासिनी में इन्हें "महागेह" कहा गया है (जेतवने..... करेरिकुटि...... कोसम्बकुटि.....गन्धकुटि... महागेहानि)।[३] इन तीनों भवनों के निर्माण में शत सहस्र मुद्राओं का व्यय हुआ था (एक सत-सहस्स-निप्फन्नम्)।[४] बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा के कारण जेतवन में प्रसेनजित ने भी एक घर बनवाया था, जिसको बौद्ध ग्रन्थों में सलड़घर कहा गया है (तेसु सलड़घरम् राजा पसेनदिना कारितम्)।[५] अनाथपिण्डिक ने अपने द्वारा बनवाये हुए सभी भवनों को बौद्ध सङ्घ को समर्पित कर दिया। समर्पण की यह क्रिया बड़े समारोह के साथ स पादित हुई थी। इसमें उसे अठारह करोड़ मुद्राओं का व्यय करना पड़ा। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि इस घटना का अङ्कन भरहुत की कला में भी हुआ है।[७]

पूर्वाराम का निर्माण नगर के धनिक सेठ मिगार (मृगधर) की पुत्रवधू विशाखा ने कराया था। मिगार पहले आजीविकों का भक्त था पर कालान्तर में विशाखा के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म में उसकी भी आस्था उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि बौद्ध ग्र थों में उसे मिगारमाता कह सम्मानित किया गया है। इसीलिये पूर्वाराम को "मिगार-मातु-प्रासाद" भी कहा जाता था। यह नगर के पूर्वी द्वार के पास स्थित था।[८] सम्भवतः इसीलिये इसका पूर्वाराम नाम पड़ा। इसके निर्माण तथा समर्पण में लगभग २७ करोड़ मुद्राओं का व्यय हुआ था। यह लकड़ी (रुक्ख) तथा पत्थर (पासाण) के द्वारा बनाया गया था। इसमें दो मञ्जिल थे। ऊपरी

---

१. सुमङ्गलविलासिनी २, पृष्ठ ४०७।
२. वही, २, पृष्ठ ४०७।
३. वही, २, पृष्ठ ४०७।
४. वही, २, पृष्ठ ४०७।
५. वही, २, पृष्ठ ४०७।
६. जातक, १, पृष्ठ ९२।
७. बरुआ, भरहुत, २, ३१।
८. धम्मपदटीका, १, ३८४। द्रष्टव्य-ला बी० सी०, आ० स० रि०, संख्या ५०, पृष्ठ २५

मञ्जिल में ५०० कमरे बने हुए थे।[1] मल्लिकाराम का निर्माण मल्लिका नामक एक साम्राज्ञी ने किया था। यह एक विशाल भवन था, जिसमें कई कमरे थे (बहुसालाकता)।[2] नगर में आने वाले ब्राह्मण, परिव्राजक, बौद्ध भिक्षु, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के अनुयायी तथा अन्य साधु एवं संन्यासी इस वन में विश्राम के निमित्त आश्रय पाते थे (ब्राह्मण निगन्थाचेलकपरिब्बाजकादयो च)।[3]

इस नगर में जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मों का विशेष प्रचार था। जैन इसे अपने तृतीय तीर्थङ्कर सम्भवनाथ तथा आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभानाथ का जन्मस्थान मानते थे।[4] इस धर्म के प्रवर्तक महावीर अपने सिद्धान्तों के प्रचार के निमित्त यहाँ कई बार आ चुके थे। नागरिकों ने उनका हार्दिक सम्मान किया था। अनेक उनके अनुयायी बन गये। नगर के भीतर वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान हुआ करता था। जिस समय प्रसेनजित राज्य कर रहे थे, उस समय श्रावस्ती में वेदविहित नियमों के अनुसार पशुओं का बलिदान चढ़ाया जाता था।[5] इसके उपकण्ठ पर स्थित मल्लिकाराम में सैकड़ो ब्राह्मण साधु, जो कि धार्मिक विषयों पर वादविवाद में निपुण थे, आकर विश्राम करते थे।[6] बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती का धार्मिक वायुमण्डल बौद्ध धर्म से अधिक प्रभावित था। इस नगर में गौतम बुद्ध के अनेक व्याख्यान हुए थे, जिनसे प्रभावान्वित होने के कारण प्रायः समस्त वर्गों के अनेक व्यक्तियों ने उनके धर्म को अपना लिया। नगर-श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक उनका परम भक्त था। उसके घर में ५०० भिक्षुओं के निमित्त प्रति दिन भोजन तैयार कराया जाता था।[7] गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा के कारण श्रावस्ती-नरेशों ने दान-गृह बनवा रखा था, जहाँ पर भिक्षुओं को भोजन मिलता था।[8]

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार नगर के अन्य सम्मानित नागरिक तथागत के बहुत बड़े प्रशंसक थे। यहाँ पर बौद्ध धर्म के प्रचार की ओर सङ्केत करते हुए मिलिन्दपन्हो में अतिशयोक्ति के साथ कहा गया है कि इसमें भिक्षुओं की संख्या ५ करोड़

---

१. वही, पृष्ठ ४१४।
२. सुमङ्गलविलासिनी, २, पृष्ठ ३६५।
३. वही, पृष्ठ ३६५।
४. जैन हरिवंश पुराण, पृष्ठ ७१७।
५. संयुक्त निकाय, १, पृष्ठ ७६।
६. वही, १, पृष्ठ ७८।
७. जातक, ४, ९१।
८. संयुक्त निकाय, १, पृष्ठ ७७।

थी। इसके अतिरिक्त नगर के लगभग ३ लाख ५७ हजार गृहस्थ उनके मतावलम्बी थे।[१] गौतम बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् भी श्रावस्ती बौद्ध धर्म का एक विशिष्ट केन्द्र माना जाता था। उनके आनन्द जैसे प्रिय शिष्यों ने श्रावस्ती के नागरिकों को अपने सदुपदेशों से प्रभावित कर बौद्ध धर्म में उनकी आस्था को जागृत किया।[२] दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती में चार स्तूप थे, जिनका निर्माण सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप तथा आनन्द के सम्मान में किया गया था। अशोक धार्मिक यात्रा करता हुआ श्रावस्ती आया था। उसने जेतवन में वर्तमान इन चारों स्तूपों की वन्दना की थी।[३]

श्रावस्ती का अधःपतन कोसल-साम्राज्य के अधःपतन के साथ प्रारम्भ होता है। पाँचवीं शताब्दी तक इसकी शोभा अत्यधिक विलीन हो चुकी थी। इस समय का चीनी यात्री फाहियान अपने यात्रा-विवरण में लिखता है कि यहाँ के नागरिकों की संख्या पहले की समता में अत्यल्प थी। सब मिलाकर केवल दो सौ परिवार ही रह गये थे। पूर्वाराम, जेतवन-विहार तथा नगर के अनेक विशाल सौध भग्नावशेष को प्राप्त हो चुके थे।[४] सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग ने तो इसे पूर्ण रूप से विनष्ट एवं उजड़े हुए नगर के रूप में चित्रित किया है। उसके अनुसार नगर की दीवालों के भग्नावशेष की परिधि लगभग ३ मील थी।[५] इस नगर की पहचान राप्ती नदी के तट पर स्थित आधुनिक सहेट-महेट से की जाती है।

वाराणसी—प्राचीन काल में काशी एवं वाराणसी पृथक् नाम माने जाते थे। काशी राष्ट्र का नाम था। इसकी राजधानी का नाम वाराणसी था।[६] जातकों में वाराणसी के लगभग आधे दर्जन नाम मिलते हैं; उदाहरणार्थ सुरुन्धन,[७] सुदस्सन,[८]

---

१. "नगरे महाराज पञ्चकोटिमत्ता अरियसावका भगवतो उपासक-उपासिकायो सत्तपण्णाससहस्सानि तीणि सतसहस्सानि अनागामि फले पतिट्ठिता ने सब्बेऽपि गिही न पब्बजिता।" मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३४९।

२. दीघ निकाय, १, २०४।

३. दिव्यावदान, पृष्ठ ३९४-९६।

४. लेग्गे, फाहियान।

५. वाटर्स, २, ३७७।

६. "कासीरट्ठे बारानसियम्", जातक, संख्या ४।

७. वही, संख्या ४५८।

८. वही, संख्या ५२५।

ब्रह्मवर्द्धन,[१] **पुष्पवती,**[२] **रम्मनगर**[३] **(रम्यनगर)** तथा **मोलिनी।**[४] इन नामों में अधिकांश इसकी समृद्धि की ओर सङ्केत करते हैं। जातक ग्रन्थों में इसके लिये कासिनगर (जा०, ५, ५४) तथा कासिपुर (जा०, ६, १६५) नाम भी आते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है कि वणिक वाराणसी के लिये जित्वरी नाम का प्रयोग करते थे ('वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति' महाभाष्य, २, ३१३)। जित्वरी से तात्पर्य यह हो सकता है कि इस नगर में पहुँचने पर जय की प्राप्ति होती थी। व्यापारियों को यहाँ पूर्ण लाभ हुआ करता था (मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ५)। डाक्टर अल्टेकर का मत है कि ये वाराणसी के अन्य नाम नहीं हो सकते। ये इसके नागरिकों के द्वारा उपाधि के रूप में प्रयुक्त किये जाते होंगे।[५] पर इस निष्कर्ष को निकालने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। उपर्युक्त साक्ष्यों में इनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप में नाम के ही अर्थ में किया गया है। कई प्रसिद्ध भारतीय नगरों के अनेक नाम थे। ऐसी दशा में वाराणसी का बह्वाख्य होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। इसका वाराणसी नाम पड़ने का कारण वरना तथा अस्सी नदियों के बीच इसकी स्थिति थी (वरणायास्तथा च आस्या मध्ये वाराणसी पुरी)।[६] इसके समर्थन में कनिङ्घम महोदय ने आइने अकबरी से एक उद्धरण देते हुए कहा है—"वाराणसी (जिसको लोग बनारस कहते हैं) एक विशाल नगर है, जो कि वरना तथा अस्सी नदियों के बीच स्थित है।[७]" मललसेकर का भी कहना है कि 'वाराणसी नाम पड़ने का कारण वरना तथा अस्सी नदियों के बीच इसकी स्थिति है।"[८]

बौद्ध ग्रन्थों में वाराणसी का उल्लेख काशी जनपद की राजधानी के रूप में अनेक स्थलों पर हुआ है। काशी के शासक बहुत शक्तिशाली थे। भद्दशाल जातक में कहा गया है कि वे अपने आप को राजाओं का राजा (सब्बराजनम अग्गराजा)

---

१. जातक संख्या ५३२।
२. वही, संख्या ५४२।
३. वही, संख्या ४६०।
४. वही, संख्या ४४१।
५. अल्टेकर, हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, पृष्ठ १३।
६. द्रष्टव्य—राय चौधरी, पो० हि० एं० इं०, पृष्ठ ७४।
७. ऐंशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ५०१।
८. मललसेकर, २, २७७।

मानते थे।[1] धोनसाख जातक में उन्हें सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप का शासक (सकलजम्बु-दीप) कहते हुए उनकी महानता की ओर सङ्केत किया गया है।[2] महावग्ग में काशिराज ब्रह्मदत्त (वाराणसियम् ब्रह्मदत्तो नाम कासिराजा) को विपुल धन का स्वामी (महद्धनो), भोग-विलास की सामग्री से परिपूर्ण (महाभोगो), शक्तिसम्पन्न (महब्बलो), बहुत बड़ी सेना का अधीश्वर (महावाहनो), दिग्विजयी (महाविजितो) तथा कोष एवं कोष्ठागार से परिपूर्ण (परिपुण्णकोस-कोष्ठागारो) कहा गया है।[3] काशी का समीपवर्ती जनपद कोसल था। दोनों जनपदों के नरेशों में परम्परागत शत्रुता थी। काशी के नरेशों ने प्रारम्भ में कोसल के राजाओं को कई बार नीचा दिखाया था। गुट्टिल जातक में इनकी राजधानी वाराणसी को भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर बताया गया है।[4] भोजाजानीय जातक के अनुसार सभी समीपवर्ती नरेशों के लिये यह प्रलोभन का विषय था।[5] इसीलिये इस पर एक बार सात नरेशों ने घेरा डाला था।[6] डॉक्टर राय चौधरी का कहना है कि प्राचीन बैबीलन तथा रोम की भाँति यह नगर पड़ोसी राष्ट्रों के बीच सर्वदा झगड़े का कारण सिद्ध हुआ।[7]

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग यह कोसल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इसकी गणना भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नगरों में होती थी। आनन्द ने इसकी ख्याति के कारण ही इसे गौतम के परिनिर्वाण के योग्य बताया था। इसके चतुर्दिक एक परिखा थी।[8] इसके अतिरिक्त यह एक उच्च प्राकार के द्वारा परिवेष्टित था, जिसमें चार दरवाजे लगे हुए थे। यदि यात्री रात्रि के समय देरी से पहुँचते थे, तो उन्हें दरवाजों के सामने सबेरे तक नगर के भीतर प्रवेश पाने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।[9] नगर के विभिन्न भागों में पृथक् जातियों एवं व्यवसायों के लोग रहते थे। बहेलियों तथा अन्य निम्न व्यवसाय वालों को नगर

---

१. जातक, संख्या ४६५।
२. वही, संख्या ३५३।
३. महावग्ग, १०, २, ३।
४. जातक, संख्या २४३।
५. वही, संख्या २३।
६. वही, संख्या १८१।
७. पो० हि० ऐं० इं०, ९८।
८. जातक, संख्या १६४।
९. वही, संख्या १५५।

के बाहर रहना पड़ता था।[१] हस्तिपाल जातक में इस नगर को बारह योजन लम्बा कहा गया है।[२] इसमें अवश्यमेव अतिशयोक्ति है पर इतना तो स्पष्ट है कि यह नगर अधिक विस्तृत रहा होगा।

छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर नन्दों के अभ्युदय-काल तक इस नगर के राजनीतिक इतिहास में कई परिवर्तन हुए। कोसल-नरेश महाकोशल ने (जो कि छठी शताब्दी ई० पू० के शासक थे) अपनी पुत्री का विवाह मगध-नरेश बिम्बिसार के साथ किया था। इस विवाह में उन्होंने वाराणसी के शतसहस्र मुद्राओं वाली आय को, जो कि करों के रूप में आती थी, मगध-नरेश को दहेज के रूप में दे दिया। महाकोशल के पुत्र प्रसेनजित ने अपने शासनकाल में मगध-नरेश को इस आय का प्रदान रोक दिया था। इस पर उसका समकालीन मगध-शासक अजातशत्रु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। इस कारण को लेकर दोनों में शत्रुता की नींव पड़ी, जो कि कई वर्षों तक चलती रही। इसमें अन्ततोगत्वा मगध विजयी हुआ। वाराणसी मगध-साम्राज्य में मिला लिया गया। कुछ वर्षों के उपरान्त मगध-नरेश ने सम्पूर्ण काशी का राज्य जीत लिया। इस प्रकार वाराणसी मगध-साम्राज्य का अङ्ग बन गया।

चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध में मगध पर नन्दों का आधिपत्य स्थापित हुआ। इनके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पञ्जाब तक फैली हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि वाराणसी इन्हीं के साम्राज्य के अन्तर्गत था। मौर्यों के काल में यह नगर एक विशिष्ट केन्द्र था। इस नगर के उपकण्ठ पर स्थित सारनाथ में अशोक ने एक स्तूप का निर्माण किया। सम्भवतः यह ठीक उसी स्थान पर बनाया गया, जहाँ गौतम बुद्ध ने अपना प्रथम व्याख्यान दिया था।[३] अशोक ने सारनाथ में एक स्तम्भ का भी निर्माण कराया था। इसमें उसकी एक आज्ञा उत्कीर्ण मिलती है, जिसके अनुसार बौद्ध सङ्घ की एकता में भेद उत्पन्न करने वाला भिक्षु इसकी सदस्यता से वञ्चित घोषित किया जाता था। मौर्यों के उपरान्त यह नगर क्रमशः शुङ्गों एवं कण्वों के राज्य में सम्मिलित था।[४] प्रथम शताब्दी ईसवी के अन्तिम भाग में इस

---

१. जातक, संख्या १५५।

२. "पाकारपरिक्खेपोद्वादसयोजनिको होति"।—जातक, १, १२५।

३. अल्टेकर, हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, पृष्ठ १७।

४. "ये केन पि सङ्घे भेतवे। ए चुं खो भिखू वा भिखुनि वा सङ्घं भाखति से ओदातानि दुसानि संनधापयिया आनावाससि।"—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ७५।

नगर पर कुषाणों का आधिपत्य स्थापित हुआ। सारनाथ में बौद्ध प्रतिमा के ऊपर कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष का एक लेख उपलब्ध होता है। इसके अनुसार महाक्षत्रप खरपल्लन तथा क्षत्रप वनस्पर इस नरेश के प्रतिनिधि के रूप में वाराणसी में शासन करते थे।[1] इस नगर के ऊपर कुषाणों का आधिपत्य सम्भवत: दूसरी शताब्दी के अन्त तक विद्यमान था।[2] कालान्तर में यह उन भारशिव राजाओं का अधिकार-क्षेत्र बना, जिन्होंने कुषाणों के राज्य को उखाड़ा था। वाराणसी में उनके द्वारा दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान इसका परिचायक है कि यह नगर उनके राज्य के अन्तर्गत् था।[3] चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक वाराणसी गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित था। तदुपरान्त यहाँ पर मौखरियों की राज्य-सत्ता स्थापित हुई। तत्पश्चात् सातवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में इस नगर के ऊपर वर्द्धनों ने शासन किया। हर्षवर्द्धन के काल में चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग यहाँ आया था। वह लिखता है कि यह नगर साढ़े तीन मील लम्बा तथा १ मील चौड़ा था। इसके विभिन्न भाग एक दूसरे के समीप थे तथा इसकी जनसंख्या अत्यधिक थी। इसके नागरिक परम ऐश्वर्यवान् थे।[4]

राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त इस नगर की प्रसिद्धि व्यापारिक, बौद्धिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में भी थी। प्रारम्भ से ही यह शिल्प एवं व्यवसाय का एक प्रतिष्ठित केन्द्र माना जाता था। वाराणसी कपड़े के लिये प्रसिद्ध था। मज्झिम निकाय (२, ३, ७) में बनारसी कपड़े के लिये 'वाराणसेय्यक' शब्द का उल्लेख मिलता है। बौद्ध साहित्य में बनारसी वस्त्रों के लिये 'काशिक' वस्त्र, 'काशीकुत्तम' (जा०, ६, ४७) तथा 'कासीय' (जा० ६, ५००) शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहाँ सूती, रेशमी तथा ऊनी तीनों प्रकार के कपड़े बनाये जाते थे। तुण्डिल जातक (जा०, ३, २८६) से ज्ञात होता है कि वाराणसी के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में कपास की अच्छी खेती होती थी। यहाँ की स्त्रियाँ महीन सूत कातने में दक्ष थीं (सुखुमसुत्तानि कन्तित्वा) (जा०, ६, ३३६)। महापरिनिब्बाण सुत्त (३, २९) में बनारस के नीले, पीले, लाल तथा सफेद रङ्ग के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। पतञ्जलि ने काशी के रेशमी वस्त्रों की प्रचुर प्रशंसा की है। वे लिखते हैं कि प्राय: ऐसा देखा गया है कि नाप में बराबर होने पर भी काशी के वस्त्रों का मूल्य

---

१. "महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहाक्षत्रपेन वनस्परेण।"—वही, पृष्ठ १३३।
२. हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, पृष्ठ १८।
३. वही, पृष्ठ १८।
४. वाटर्स, २, ४७।

मथुरा के वस्त्रों के मूल्य से पृथक् हुआ करता है (एवं हि दृश्यते इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्यौऽर्घोभवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य; २, ४१३---कीलहार्न)। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि बनारसी वस्त्र बनावट की दृष्टि से अन्य केन्द्रों के वस्त्रों से कहीं अच्छे थे और इस कारण उनका मूल्य अधिक हुआ करता था। (मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ६१)। बौद्ध साहित्य में बनारसी कम्बलों का भी उल्लेख मिलता है। महावग्ग (८, २) के अनुसार काशी के एक नरेश ने जीवक को काशी का कम्बल उपहार के स्वरूप में दिया था। वाराणसी में सम्भवतया कसीदे का भी कार्य होता था। एक जातक (६, १४४) में 'कासिक-सूचीवत्थ' का उल्लेख मिलता है। इससे तात्पर्य काशी में किये गये हुए कसीदे के काम से हो सकता है (मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ४७)।

जातकों से विदित होता है कि वाराणसी के बहुमूल्य, रंगीन, सुगन्धित, सुवासित, अनुलेपयुक्त, पतले एवं चिकने कपड़े विक्रय के लिये सुदूर भागों में भेजे जाते थे। ये वस्त्र युवकवर्ग तथा राजकुल में अत्यधिक प्रचलित थे। कामविलाप जातक में एक राजा की प्रवासित पत्नी वाराणसी का महीन वस्त्र पहने हुए दिखायी गई है।[1] यहाँ के अनेक प्रकार के रेशमी वस्त्रों का देश के विभिन्न भागों एवं वर्गों में व्यापक प्रचार था। इनकी लोकप्रियता की सूचना हमें जातकों से मिलती है। एक जातक में वैराग्य लेने की कामना करने वाले पति के मन को आकर्षित करने के लिए उसकी पत्नी चन्दन से सुवासित बनारसी रेशमी साड़ी पहनने की प्रतिज्ञा करती है।[2] तत्कालीन पुरोहित तथा अधिकारी भी बनारसी वस्त्रों के अत्यन्त प्रेमी थे। मिथिला के राजा जनक के दरबारी ब्राह्मण जातकों में काशी के वस्त्रों को पहने हुए उल्लिखित किये गये हैं।[3] इसी प्रकार देश के अन्य भागों में भी काशी के वस्त्रों का काफी प्रचार था। यही कारण है कि बनारसी कपड़े संख्यातीत गाड़ियों में लादकर विक्रय के लिये सुदूर देशों में भेजे जाते थे।[4]

वाराणसी काष्ठ-व्यवसाय का भी केन्द्र था। इस नगर के उपकण्ठ पर बसे हुए एक ग्राम में पाँच सौ बढ़ई रहते थे। वे घने जङ्गलों में घुस कर गृह-निर्माण में उपयोगी सिद्ध होने वाली लकड़ियों को काट लाते थे (गेहसम्भारदारुणि कोट्टेत्वा)। वे सब प्रकार की लकड़ियों पर काटछाट के कार्य में निपुण थे (सब्ब-दारुसु सज्जं

---

१. जातक, संख्या २९७।
२. वही, संख्या ४५७।
३. वही, संख्या ५४६।
४. वही, १, ४०४।

कत्वा)। वे एक मञ्जिल, दो मञ्जिल तथा कई मञ्जिलों वाले घरों के बनाने के कार्य में दक्ष थे (एकभूमिद्विभूमिकादि भेदे गेहे सज्जेत्वा) (जातक, ४, १५९; द्रष्टव्य–मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ४८)।

वाराणसी में गजदन्तव्यवसाय का भी विस्तृत प्रचार था।[1] एक जातक (२, १३९) में वाराणसी की ऐसी गली का उल्लेख मिलता है जहाँ हाथीदाँत से बनी चीजों की बाजार लगती थी (दन्तकारवीथि)। इसमें हाथीदाँत की चूड़ियाँ विक्रय के लिये सजी हुई थीं। वाराणसी के व्यापारी विक्रय की अनेक वस्तुओं में हाथीदाँत के बने हुए सामान भी देश के अनेक भागों में पहुँचाते थे। निर्यात के समान आयात का भी यह नगर प्रख्यात केन्द्र था। तण्डुनालि जातक में एक सहस्र मील की लम्बी यात्रा करने के पश्चात् वाराणसी में पहुँचने वाले एक अश्व-विक्रेता का उल्लेख मिलता है।[2] इस नगर के व्यापारियों के द्वारा अतुल धनराशि सञ्चित की गई थी। इसका स्पष्ट ज्ञान जातकों से होता है। विड़ार-जातक में वाराणसी के एक सेठ को अस्सी करोड़ धन का स्वामी बताया गया है।[3]

आर्थिक क्षेत्र में इस नगर की प्रारम्भिक प्रतिष्ठा कालान्तर में भी विद्यमान थी। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार वाराणसी की बाज़ारों में विक्रय के निमित्त विविध भाण्ड सुसज्जित थे।[4] महायान धर्म के अभ्युदय के उपरान्त यह नगर मथुरा के समान ही गौतम तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों के निर्माण का प्रतिष्ठित केन्द्र बन गया। सारनाथ से प्राप्त बौद्ध प्रतिमाएँ वाराणसी-केन्द्र की मूर्तिकला का परिचय देती हैं। गुप्त-नरेशों के शासन-काल में वाराणसी की तक्षण-कला में ब्राह्मण-प्रतिमाओं को भी स्थान दिया गया। इन प्रतिमाओं के मिलने का सबसे सबल कारण यह है कि ब्राह्मण धर्म उस समय राजकीय धर्म था। वैदिक विधान में परम आस्था रखने वाले परमभागवत गुप्त नरेशों के शासनकाल में तक्षणकला के केन्द्र वाराणसी में ब्राह्मण-मूर्तियों का निर्माण अत्यन्त स्वाभाविक ही था।

बौद्धिक क्षेत्र में वाराणसी की प्रसिद्धि सर्वप्रथम तृतीय शताब्दी से प्रारम्भ हुई।[5] इस समय इसके उपकण्ठ पर स्थित सारनाथ के विहारों में बौद्ध साहित्य का पठनपाठन एवं अनुशीलन होता था। सातवीं शताब्दी का चीनी यात्री य्वान्-

---

१. जातक, १, ३२०।
२. वही, संख्या ५।
३. वही, संख्या १२८।
४. वाटर्स, २, ४६।
५. हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, पृष्ठ २३।

च्वाङ्ग यहाँ के नागरिकों के विद्याप्रेम को देखकर आश्चर्यचकित हो उठा था।[१] इस समय सारनाथ में लगभग पन्द्रह सौ भिक्षु यहाँ के विहारों में विद्योपार्जन कर रहे थे।[२] वाराणसी में सङ्गठित शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थीं। यहाँ से प्राप्त गहड़वाड़ दानपत्रों में कहीं भी किसी विद्यालय का उल्लेख नहीं मिलता।[३] यहाँ के विद्वान् पण्डित अपने घरों में ही विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे। यह परम्परा मध्यकालीन भारत तक चलती रही। बर्नियर ने इसका उल्लेख किया है।[४] विद्या के केन्द्र होने के कारण प्रसिद्ध दार्शनिक अपने सिद्धान्तों के प्रत्यभिज्ञान एवं विज्ञापन के लिये वाराणसी आते थे। इस निमित्त शङ्कराचार्य को भी यहाँ आना पड़ा था।

धर्म के साथ वाराणसी का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह अनार्य धर्म का केन्द्र था। अथर्ववेद में एक इन्द्रजालिक अपने रोगी की व्याधि को काशी जाने का निर्देश करता है।[५] इससे काशी के प्रति आर्यों की घृणा का भाव व्यक्त होता है। यह घृणा इस बात का परिचय देती है कि इसका सम्बन्ध अनार्य धर्म के साथ था। इस नगर के प्रधान देवता शिव प्रारम्भ में अनार्यों के देवता माने जाते थे। वायुपुराण में मेना एवं दक्ष के मुख से महादेव की जो निन्दा की गई है, उससे उनका अनार्य देवता होना प्रतिपादित होता है। मेना अपनी पुत्री सती से कहती है कि तुम्हारे भर्ता महादेव तो आचाररहित हैं। उनके विश्वास तथा उनकी रीतिप्रथाएँ सब प्रकार से घृणित हैं।[६] यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त तैयारी करने वाले महादेव के श्वसुर दक्ष भी घृणा के भाव में कहते हैं—महादेव होते ही क्या हैं कि मैं उन्हें अपने यज्ञ में आमन्त्रित करूँ। इनके वंश, गोत्र, देश, वृत्ति एवं आचार आदि के विषय में कुछ भी पता नहीं चल पाता। ये बैल पर चढ़ते हैं, इनके गले में विष है तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था के ये सर्वथा परे हैं। यदि ये ब्राह्मण होते तो इन्हें वेद एवं अन्य शास्त्रों का ज्ञान

---

१. वाटर्स, २, ४७।

२. वही, २, ४७।

३. हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, पृष्ठ २४।

४. बर्नियर, ट्रैवेल्स इन मोगल एम्पायर, पृष्ठ ३४१।

५. "गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्यः काशीभ्यो मगधेभ्यः। प्रैष्यञ्जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि।"—अथर्ववेद, ५, २२, १४।

६. "मम पार्श्वे त्वनाचारस्तव भर्ता महेश्वरः। दरिद्रः सर्व एवेह अक्लिष्टं लभतेऽनघे॥"—वायुपुराण, अध्याय १२, ३२।

होता। ये क्षत्रिय भी नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये लक्ष्यहीन विनाश करते हैं। यदि ये वैश्य होते, तो इस प्रकार दरिद्र नहीं होते। ये शूद्र भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये साँप का यज्ञोपवीत पहनते हैं। इनका स्मरण करना पापतुल्य है।[१] सती महादेव से पिता के द्वारा आयोजित यज्ञ को देखने की इच्छा प्रगट करती है। पति के पुर (वाराणसी) में यज्ञों को कभी न देख पाने के कारण उसकी यह स्पृहा द्विगुणित हो उठती है।[२] यज्ञों का अभाव इस बात की सूचना देता है कि वाराणसी में आर्य-धर्म का प्रारम्भ में कोई भी प्रभाव नहीं था।

कालान्तर में शिव को भी आर्य देवता माना गया तथा फलस्वरूप यह नगर आर्यों के लिये भी धार्मिक केन्द्र बन गया। पुराणों में वाराणसी को शिवपुरी कहा गया है[३] तथा इसकी गणना भारत की सात मोक्षदायिका पुरियों में की गई है।[४] लोगों का विश्वास था कि शिव के भक्तों को वाराणसी में रहने के कारण लौकिक एवं पारलौकिक आनन्द मिलते हैं।[५] यहाँ पर अनेक शैव रहते थे। य्वान् च्वाङ्ग ने लिखा है कि इनमें से कुछ लोग शिर को मुण्डित कराते थे तथा कुछ लम्बे केशों को समेट कर जटाजूट बनाते थे। कुछ लोग नङ्गे रहते थे तथा कुछ शरीर पर भस्म

---

१. "किं वंश्यस्त्वेष किंगोत्रः किंदेशीयः किमात्मकः।
किंवृत्तिः किंसमाचारो विषादी वृषवाहनः॥२८॥
न ब्राह्मणो भवत्येष यतो वेदं न वेत्त्यसौ।
शस्त्रास्त्रधारणात्प्रायः क्षत्रियः स्यान्न सोप्यथ॥२९॥
क्षतात्सन्तारणात्क्षत्रं तत्क्वास्मिन्प्रलयप्रिये।
वैश्योऽपि न भवेदेष सदा निर्धनचेष्टनः॥३२॥
शूद्रोऽपि न भवेत्प्रायो नागयज्ञोपवीतवान्।
एवं वर्णाश्रमातीतः कोऽसौ सम्यङ्ङ न कीर्त्यते॥"३३॥
—वायु पुराण, अध्याय ८८।

२. "क्रतुं द्रष्टुं पितुर्यामि नैक्षि यज्ञो मया क्वचित्॥"
—वही, अध्याय ८८, ३९।

३. "यत्र नारायणो देवो महादेवो दिवीश्वरः।"
—वही, अध्याय ३३, पंक्ति १००।

४. "अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिकाः॥"

५. "मद्भक्तास्तत्र गच्छन्ति मामेव प्रविशन्ति च॥"
—पद्मपुराण, अध्याय ३३, पंक्ति १०२।

लगाते थे। वे पूजा, व्रत तथा नियम में संलग्न रहते थे। निर्वाण प्राप्त करना उनका प्रधान उद्देश्य था।[1]

अन्य धर्मों के अनुयायी भी इसे भुक्ति एवं मुक्ति का दायक मानते थे।[2] लोगों का तो यहाँ तक विश्वास था कि पापी से पापी व्यक्ति को भी वाराणसी में रहने के कारण परम आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति होती है। पद्मपुराण,[3] कूर्मपुराण[4] तथा लिङ्गपुराण[5] में स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख किया गया है। जनमत में यह भी प्रतिष्ठित था कि वाराणसी में गङ्गा पश्चिमवाहिनी हो जाती हैं।[6] यही कारण है कि यहाँ पर गङ्गा-स्नान के महात्म्य ने लोगों के हृदय में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया था।[7]

लोग समझते थे कि यहाँ पर दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि देश के विभिन्न भागों से प्रायः प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति यहाँ पर दान देने के लिये आते थे। राजतरङ्गिणी से विदित होता है कि काश्मीर के हर्ष नामक शासक ने पुण्यार्थ वाराणसी को अनेक मठों से विभूषित किया था।[8] गहड़वाड़

---

१. वाटर्स, २, ४७।

२. "भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं" —अग्निपुराण, अध्याय ३३, ३८।

३. "यदि पापी यदि शठो यदि वाधार्मिको नरः।
वाराणसीं समासाद्य पुनाति सकलं भुवम्।।"
—पद्मपुराण, अध्याय ३३, ३८।

४. "स्त्रियः म्लेच्छाश्च ये चान्ये सङ्कीर्णा पापयोनयः।
कालेन निधनं प्राप्ताः अविमुक्ते वरानने।।"
—कूर्मपुराण, अध्याय ३१, पृष्ठ ३२१।

५. "कृत्वा पापसहस्राणि पिशाचत्वं वरं नृणाम्।
जैगीषव्यः परां सिद्धिं गतो यत्र महातपाः।।"
—लिङ्गपुराण, अध्याय ९२, ५३।

६. "वाराणस्यां विशेषेण गङ्गाविपथगामिनी"। पद्मपुराण, अध्याय ३३, पंक्ति ६९।

७. "स्नानात्संसेवनाद्वापि न मोक्षः प्राप्यते यतः।
इह सम्प्राप्यते येन तत् एतद्विशिष्यते।।"
—लिङ्गपुराण, अध्याय ९२, ४७।

८. "पूर्वा दिग्भूषिता तेन मठैः सुकृतकर्मठैः।।"
—राजतरङ्गिणी, सर्ग ७, पंक्ति २०२०।

राजाओं ने भी यहाँ ब्राह्मणों तथा तत्कालीन मन्दिरों को अनेक दान दिये थे।[१] दान के अतिरिक्त इस नगर में जप, तप, अध्ययन तथा अध्यापन भी धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।[२] यहाँ पर वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान भी होता था। काशी के एक अभिलेख से विदित होता है कि भारशिव नरेशों ने दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान इस नगर में किया था।[३] डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि इन यज्ञों का अनुष्ठान बनारस के आधुनिक दशाश्वमेध घाट पर हुआ था तथा इस घाट के नाम की व्युत्पत्ति का यही कारण है।

इस नगर के धार्मिक जीवन में एक और भी विशेषता थी। वह यह कि संन्यास लेने वाले व्यक्ति प्रायः वाराणसी में ही कालयापन के लिये आते थे। राजतरङ्गिणी से विदित होता है कि हर्ष नामक काश्मीर के एक शासक ने यहाँ पर संन्यास लिया था।[४] इस ग्रन्थ में मातृगुप्त नामक दूसरे काश्मीर-नरेश के काषायधारण तथा वाराणसीवास का उल्लेख मिलता है।[५] कल्हण ने एक अन्य शासक के सर्व-संन्यास तथा वाराणसीगमन का वर्णन किया है।[६] राजतरङ्गिणी में एक दूसरे स्थल पर कलश नामक सम्राट् को काशीवास की इच्छा प्रगट करते हुए चित्रित किया गया है।[७]

---

१. अल्टेकर, हिस्ट्री ऑफ़ बनारस, पृष्ठ २८।

२. "दप्तं जप्तं हुतं चेष्टं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
ध्यानमध्ययनं ज्ञानं सर्वंतत्राक्षयं भवेत्॥"

—पद्मपुराण, अध्याय २२, १६।

३. "दशाश्वमेधावभृथस्नातकानां भागीरथ्याममलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां भारशिवानाम्।"—ए० इं० ८, २६९,।

४. राजतरङ्गिणी, सर्ग ८, १३।

५. पुण्यां वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसंग्रहः।
सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोऽभवद्यतिः॥"

—वही, सर्ग, ३, ३२०।

६. "पुण्यां वाराणसीं गत्वा तस्माच्छमसुखोन्मुखः।
इच्छामि सर्वसन्यासं कर्तुं द्विजजनोचितम्॥"

—वही, सर्ग ३, २९७।

७. "पुरं प्रतिष्ठां निष्पाद्य क्षिप्त्वा राजधुरं त्वयि।
वाराणस्यां गच्छामि नन्दिक्षेत्रेऽथवा पुनः॥"

—वही, सर्ग ७, ६४६।

बौद्ध ग्रन्थों में वाराणसी के कुछ त्यौहारों के भी उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ हस्तिमङ्गल, छत्रमङ्गल तथा सुराक्षण। लगता है कि हस्तिमङ्गल का आयोजन गज-पूजा के हेतु किया जाता था। गजपूजा एक प्राचीन भारतीय परम्परा थी। इसमें शुभ्र दन्त वाले हाथियों की पूजा की जाती थी, जिन्हें अच्छी तरह सजा दिया जाता था। इस समय राजप्रासाद तथा नागरिकों के घर खूब सजे होते थे। ब्राह्मण हस्तिसूत्र का पाठ करते थे (मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ४६)। छत्रमङ्गल राजकीय त्यौहार लगता है। इस अवसर पर सम्राट् अपने सुसज्जित राजप्रासाद में सिंहासन पर बैठता था जिसके ऊपर श्वेत छत्र टँगा रहता था। उसके मन्त्री, पुरोहित तथा कर्मचारी अच्छे वस्त्रों से सुशोभित हुआ करते थे (नानाविधवेसविलास-समुज्जले)। नागरिक अपने हाथों में भेंट की सामग्री लिये पंक्ति में खड़े थे (नानाविधपण्णकार-हत्थे)। इस समय नर्तकियाँ अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। लगता है कि यह उत्सव सम्राट् के जन्मदिवस-समारोह से सम्बन्धित था। डॉ० मोतीचन्द का अनुमान है कि यह त्यौहार राजा के सिंहासनारोहण अथवा विजयदशमी के अवसर पर मनाया जाता होगा (काशी का इतिहास, पृष्ठ ४६)। सुराक्षण मदिरोत्सव था। एक जातक (४, ७३) में वर्णन मिलता है कि एक बार ऐसे अवसर पर लोगों ने मात्रातीत मदिरा चढ़ा ली। नशा होने पर उनमें इतनी हाथापाई हुई कि कइयों के सिर लहू-लुहान हो गये (द्रष्टव्य--मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ४६)।

कपिलवस्तु--कपिलवस्तु बौद्ध काल का एक समृद्धिशाली नगर था। यहाँ पर शाक्य-नृपति शुद्धोधन की राजधानी थी। जिस स्थान पर यह नगर विद्यमान था, वहाँ पर महर्षि कपिल की तपोभूमि थी (पुरं महर्षेः कपिलस्य वस्तुः)।[1] इसका कपिलवस्तु नाम पड़ने का यही कारण था। पाणिनि के अनुसार रहने वाले के नाम के आधार पर उसके निवासस्थान का नाम पड़ना चाहिये ('तस्य निवासः'-४, २, ६९)। इससे स्पष्ट है कि इस नगर का नाम कपिल के नाम के आधार पर पड़ा। इसके कतिपय अन्य नाम भी थे, उदाहरणार्थ--**कपिलपुर**,[2] **कपिलाह्वयपुर**,[3] **तथा कपिलवस्तु**।[4] यह नगर हिमालय पर्वत के समीप स्थित था। यही कारण है कि इसकी नैसर्गिक छटा अन्वेक्षणीय थी। पालिग्रन्थों के अनुसार यह नगर

---

१. बुद्धचरित, अध्याय १, २।

२. सौन्दरनन्द, सर्ग १।

३. "कपिलाह्वये शोभति जन्मभूमिः।" --ललितविस्तर, अध्याय ३।

४. दिव्यावदान, पृष्ठ ९०। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ १।

सात प्राकारों के द्वारा परिवेष्टित था (सप्तहि पाकारेहि)।[1] इसकी ऊँचाई अठारह हाथ थी (अट्ठावसहट्ठुब्बेधम् पाकारम्)।[2] इस नगर के भीतर एक सन्थागार था, जो शाक्यों का परिषद्-भवन था। इस सभागृह में शाक्य-गणराज्य के सम्मानित सदस्य एकत्र होकर नगर-शासन से सम्बन्धित सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण विषयों एवं जटिल समस्याओं के ऊपर विमर्श किया करते थे। कालान्तर में शाक्यों ने एक नवीन सन्थागार का निर्माण किया। उन्होंने इसका उद्घाटन गौतम बुद्ध के द्वारा कराया था। इस अवसर पर गौतम बुद्ध ने अपने समस्त शिष्यों के सहित इस सन्थागार में पदार्पण किया था। उनके सम्मान में सम्पूर्ण नगर के भीतर खूब सजावट की गई तथा इसके चतुर्दिक एक योजन तक दीपों के द्वारा प्रकाश किया गया। जब तक वे सन्थागार में थे, तब तक उनकी सुविधा के निमित्त शाक्यों ने नगर के भीतर शान्ति की पूर्ण व्यवस्था की थी।[3]

गौतम बुद्ध इस नगर में कई बार आये थे। इनके विश्राम के लिये शाक्यों ने नगर के समीप ही निग्रोधाराम नामक विहार का निर्माण कराया था। यहाँ पर वे पहली बार बीस हजार शिष्यों के सहित पधारे थे। पहले दिन आते ही उन्होंने वेस्सन्तर जातक की शिक्षा दी। दूसरे दिन उन्होंने नगर के विभिन्न भागों में भ्रमण किया तथा बहुतों को अपना शिष्य बनाया। राजप्रासाद के बहुत से सदस्यों (उदाहरणार्थ नन्द तथा राहुल) ने उनसे बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी। महल के भीतर उन्होंने अपनी पत्नी को चन्दकिन्नर जातक की शिक्षा दी थी। कपिलवस्तु में उनके इस बार के आगमन के अवसर पर लगभग ८० हजार शाक्य बौद्ध सङ्घ के सदस्य बन गये। इस बढ़ती हुई संख्या को देखकर शुद्धोधन ने यह राजनियम बना दिया कि बिना माता और पिता की अनुमति से राज्य का कोई भी व्यक्ति बौद्ध धर्म में दीक्षा न ले।[4]

जब कोलियों तथा शाक्यों के बीच रोहिणी नदी के जल के प्रश्न को लेकर एक महान् विवाद खड़ा हुआ तथा इसके फलस्वरूप दोनों के बीच भीषण रक्तपात की आशङ्का उपस्थित हुई, उस समय इसे रोकने के लिये गौतम बुद्ध इस नगर में आये हुए थे। उन्होंने इन दोनों को (जो कि उनके बन्धु-बांधव लगते थे) उनके झगड़े की निरर्थकता तथा इसके सम्भावित दुष्परिणाम को समझाया। इसी अवसर पर

---

१. महावस्तु २, ७५।

२. जातक, १, ६३। ला बी. सी., इंडोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ ४।

३. मललसेकर, १, ५१८।

४. वही, १, ५१६-१७।

उन्होंने फन्दन, दद्दम, लाटुकिक, रुक्खधम्म, वट्टक तथा अत्तदण्ड सूत्रों पर व्याख्यान दिया था।[1] जब कोसल के शासक विडुडभ ने कपिलवस्तु के ऊपर शाक्यों से अपने अपमान का बदला लेने के निमित्त आक्रमण किया था, उस समय भी गौतम बुद्ध उसे समझाने के लिये इस नगर में आये थे। इसके उपरान्त भी गौतम के इस नगर में कई बार आने का उल्लेख पालिग्रन्थों में मिलता है। अपने आगमन के इन अवसरों पर उन्होंने कालखेमक एवं घटाय को शिष्य बनाया तथा कई अमूल्य उपदेश भी दिये थे, जिनके विषय में उल्लेख बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं। उनके उपदेशों से प्रभावित होने के कारण महाप्रजापति गोतमी, तिस्सा एवं भित्ता नामक कपिलवस्तु की शाक्य-महिलाओं ने सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया था।[2]

गौतम बुद्ध के काल में इस नगर की व्यापारिक महत्ता भी बहुत अधिक थी। महावस्तु के अनुसार यहाँ के नागरिक वाणिज्य के अत्यन्त प्रेमी थे।[3] पूर्व की दिशा में यहाँ से एक सीधा रास्ता वैशाली से होता हुआ राजगृह निकल जाता था तथा इसी प्रकार एक दूसरा रास्ता पश्चिम में श्रावस्ती की ओर जाता था।[4] पालि-साहित्य में इस नगर के निवासियों को 'कपिलवत्थवा' कहा गया है।[5] इसमें उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का एक सुन्दर प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि बौद्धकालीन प्रधान नगरों के विषय में आनन्द ने जो तालिका दी है, उसमें कपिलवस्तु का नाम नहीं मिलता पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह इस काल का गौण नगर रहा होगा। पालिग्रन्थ, जिनके द्वारा बौद्धकालीन इतिहास के ऊपर प्रकाश पड़ता है, इसे एक समृद्धिशाली नगर के रूप में चित्रित करते हैं। गौतमबुद्ध की मृत्यु के उपरान्त कपिलवस्तु के शाक्यों ने उनके शरीर के अवशेष का एक भाग माँगा था और वे इसकी प्राप्ति में सफलीभूत भी हुए थे। उन्होंने अस्थि के प्राप्त भाग के ऊपर एक स्तूप का भी निर्माण किया था। वे इस स्तूप को आदर की दृष्टि से देखते थे तथा इसकी पूजा किया करते थे।[6]

---

१. मललसेकर, १, ५१७।
२. वही, १, ५१८।
३. महावस्तु, १, १।
४. मललसेकर, १, ५१९।
५. वही, १, ५१९।
६. वही, १, ५१९।

कपिलवस्तु के पास ही लुम्बिनी ग्राम स्थित था, जहाँ पर गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। इस घटना के कारण लुम्बिनी की गणना शीघ्र ही बौद्ध धर्म के चार प्रधान तीर्थों में होने लगी। लुम्बिनी की एकता नेपाल की तराई में स्थित रुमिन-देई नामक स्थान से की जाती है। यहाँ पर अशोक का एक लेख प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार अपने शासन-काल के बीसवें वर्ष में वह लुम्बिनी आया हुआ था (वीसति-वसाभिसितेन अतन आगाच)।[१] इस अभिलेख में इसे गौतम की जन्म-भूमि बताया गया है (बुधे जाते सक्यमुनी ति)।[२] अशोक ने लुम्बिनी के चतुर्दिक एक पत्थर की दीवाल बनवाई (सिला-विगड़-भीचा कालापित)[३] तथा यहाँ जिस स्थान पर गौतम का जन्म हुआ था वहाँ उसने एक शिलास्तम्भ स्थापित किया (सिला-थभे च उसणपिते)।[४] इस स्तम्भ पर उसने एक राजकीय घोषणा उत्कीर्ण की, जिसके अनुसार लुम्बिनी के निवासियों को भूमि की उपज का केवल आठवाँ भाग कर के रूप में देना पड़ता था (अठ-भगिये-च)।[५] अशोक की आज्ञा के फल-स्वरूप यात्रियों को लुम्बिनी में कर देने से मुक्ति मिल गई।[६] कपिलवस्तु से सम्बन्धित अशोक का एक दूसरा लेख निगालीसागर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि अपने शासनकाल के चौदहवें वर्ष में वह कपिलवस्तु आया था। उसने शाक्यों के द्वारा निर्मित गौतम बुद्ध के स्तूप को आकार में द्विगुणित कराया था (देवानंपियेन पियदसिनलाजिन चोदस-वसाभिसितेन बुधस कोनाकमनस थुबे दुतियं वदिते)।[७]

कपिलवस्तु के विषय में ललितविस्तर, सौन्दरनन्द काव्य तथा बुद्धचरित के द्वारा परिचय प्राप्त होता है। सौन्दरनन्द काव्य में इसे गौतम की जन्मभूमि कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार इस नगर के निवासियों को अनुचित कर नहीं देने पड़ते थे। यही कारण है कि यहाँ नागरिकों की संख्या बहुत अधिक थी। ललित-विस्तर में कहा गया है कि इसमें सुन्दर उद्यान, आराम तथा विहार बने हुए थे

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ७०।

२. वही, पृष्ठ ७०।

३. वही, पृष्ठ ७०।

४. वही, पृष्ठ ७०।

५. वही, पृष्ठ ७०।

६. "लुमिनि-गामे उबलिके कटे", वही,—पृष्ठ ७०।

७. वही, पृष्ठ ७१।

(उद्यान-आराम-विहारमण्डिता)।[१] यह धनधान्य से सम्पन्न था तथा इसमें शुद्धाशय एवं धर्मयुक्त व्यक्ति रहा करते थे।[२] नगर के भीतर सुन्दर शालाएँ तथा बाजारें सुशोभित थीं। इसके चतुर्दिक कई उच्च प्राकार सुशोभित थे तथा एक परिखा भी थी। यहाँ पर लोगों को युद्ध-शिक्षा दी जाती थी। (इष्वस्त्रशिक्षासु च पार-गामिनो)।[३] सदाशय तथा कुलीन नरेश शुद्धोधन के राजत्वकाल में इस नगर की शोभा का बहुत बड़ा विकास हुआ था।[४] बुद्धचरित में इस नगर को 'पुराधिराज' अर्थात् श्रेष्ठ पुर कहा गया है।[५] इस ग्रन्थ के अनुसार इसकी उपमा में तत्कालीन कोई भी नगर नहीं आ सकता था। इसकी समृद्धि को देखकर ऐसा आभास होता था कि यहाँ पर मानों लक्ष्मी विलास कर रही हों (कृतस्मितेवातिरराज लक्ष्मीः)।[६] दरिद्रता का इस नगर में कहीं भी स्थान नहीं था।[७] नागरिक शालाओं के सौन्दर्य को देखकर ऐसा आभास होता था, मानो सरोवर में कमलों की पंक्तियाँ सुशोभित हों।[८]

शाक्य-गणराज्य के अधःपतन के कारण इस नगर की राजनीतिक महत्ता समाप्त हो गई। इसकी ख्याति अब केवल एक धार्मिक केन्द्र के रूप में ही अवशिष्ट थी। पाँचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान यहाँ आया था। उसके अनुसार इसकी जनसंख्या इस समय बहुत घट गई थी।[९] सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग ने इस नगर को 'किल-पि-लो-फ-स्से-ति' कहा है। वह लिखता है कि गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त कपिलवस्तु में कई स्तूपों तथा विहारों का

---

१. ललितविस्तर, अध्याय ३।

२. "अन्येऽपि सत्वाः कपिलाह्वयेपुरे सर्वे सशुद्धाशयधर्मयुक्ताः।"
—वही, अध्याय ३।

३. वही, अध्याय ३।

४. "शुद्धोधनो राजकुले कुलीनो नरेन्द्रवंशः सविशुद्धगात्रः।
ऋद्धश्च स्फीतश्च निराकुलश्च सगौरवं सज्जनधार्मिकञ्च ॥"
—वही, अध्याय ३।

५. बुद्धचरित, अध्याय १।

६. वही, अध्याय १।

७. "रत्नप्रभोद्भासिनि यत्र लेभे तमो न दारिद्र्यमिवावकाशम्।"—वही, अध्याय १।

८. वही, अध्याय १।

९. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ६४।

निर्माण किया गया था। उसने इस नगर का वर्णन एक विजन तथा त्यक्त स्थान के रूप में किया है। इसके भग्नावशेषों के बीच जङ्गली जानवर रहते थे, जिनके कारण यात्रियों को प्राणभय बना रहता था। यत्रतत्र कतिपय जीर्ण मठ एवं विहार दृष्टिगोचर होते थे, जिनमें रहने वाले श्रमणों की संख्या अत्यल्प थी।[१]

कुशीनगर—महत्ता के क्षेत्र में मल्लों की राजधानी तथा गौतम बुद्ध की निर्वाणभूमि कुशीनगर की गणना कपिलवस्तु एवं पावा के साथ की जा सकती है। साँची, भरहुत तथा अमरावती की कला में इस नगर की दीवाल, परिखा तथा प्रधान नगर-द्वार का अङ्कन मिलता है। राजनीतिक केन्द्र होने के अतिरिक्त यह धार्मिक तथा व्यापारिक केन्द्र भी था। गौतम बुद्ध को यह नगर बहुत ही प्रिय था। बौद्ध ग्रथों के अनुसार इस कारण ही अनेक सुप्रसिद्ध नगरों के वर्तमान रहने पर भी परिनिर्वाण के लिये उन्होंने इसी नगर को चुना था। नगर की दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित शालवन में उनका प्राणान्त हुआ, जिसके पश्चात् उनके प्रशंसक तथा अनुयायी मल्लों ने उनके दाहसंस्कार का सम्पादन बड़े ही आडम्बर तथा प्रदर्शन के साथ किया था। उनकी मृत्यु के अनन्तर कुशीनगर बौद्धों का तीर्थ-स्थान बन गया। व्यापारिक क्षेत्र में भी इसकी महत्ता पूर्णतः प्रतिपादित हो चुकी थी। पालिग्रन्थों से स्पष्ट है कि यह भारतवर्ष का एक प्रख्यात क्रयविक्रय-केन्द्र था।[२]

फाहियान के आगमन के समय यह नगर उजड़ चुका था। वह लिखता है कि शालवन (जहाँ गौतम बुद्ध की मृत्यु हुई) हिरण्यवती नदी के तट पर स्थित था।[३] य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार यह नगर (कु-शिह्-न-क-लो अर्थात् कुशीनगर) रामग्राम से एक सौ पचास मील की दूरी पर पूर्व में स्थित था।[४] वह लिखता है कि इन दोनों नगरों को मिलाने वाला रास्ता काफी खतरनाक था। रामग्राम से कुशी-नगर पहुँचने में कुछ दूर एक घने जङ्गल के बीच होकर तङ्ग रास्ते से जाना पड़ता था। इस पर जङ्गली जानवरों के हमले का भय बराबर बना रहता था। इस चीनी यात्री के आगमन के समय नगर-प्राकार गिर चुका था।[५] इसके भीतर आबादी

---

१. वाटर्स, २, ४।

२. मललसेकर, १, ६५३।

३. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ७१।

४. वाटर्स, २, २७।

५. वही, १, २५।

बहुत थोड़ी रह गई थी। घरों के खण्डहर तथा उनकी ईंट की नींवें साफ दृष्टिगोचर होती थीं। उसके अनुसार नगर की परिधि दो मील के लगभग थी।[१]

वह लिखता है कि इसके उत्तर-पूर्व कोने पर अशोकनिर्मित एक स्तूप था। इस स्थान पर चन्द का मकान था, जहाँ गौतम बुद्ध ने भोजन किया जो कि उनके प्राणान्त का कारण सिद्ध हुआ था।[२] य्वान् च्वाङ्ग का यह कथन असमीचीन प्रतीत होता है। महा-परिनिब्बान-सुत्त एवं फाहियान के अनुसार चन्द पावा का नागरिक था। य्वान्-च्वाङ्ग के अनुसार शालवन नगर के उत्तर-पश्चिम लगभग एक मील की दूरी पर अजितवती नदी के पश्चिमी तट के समीप स्थित था। लगता है कि उसके आगमन के समय हिरण्यवती नदी को अजितवती (जो कभी जीती नहीं जा सकती थी) कहते थे। शाल वृक्षों में चार बड़े आकार वाले थे। इनकी खाल सफेद तथा पत्तियाँ चमकीली थीं। इन्हीं के द्वारा घिरे हुए क्षेत्र के बीच गौतम बुद्ध की मृत्यु हुई थी। वहाँ पर ईटों से निर्मित एक बड़ा चैत्य था, जिसमें एक मूर्ति रखी थी। इसमें वे परिनिर्वाण को प्राप्त तथा उत्तर की ओर सिर किये हुए लेटी अवस्था में दिखाये गये थे। इस चैत्य के समीप अशोकनिर्मित एक स्तूप था, जिसकी ऊँचाई दो सौ फीट के लगभग थी। इसके सामने एक पत्थर की लाट थी जिस पर उनके परिनिर्वाण के समय का वर्णन उत्कीर्ण किया गया था।[३]

इसके सन्निकट एक और स्तूप था, जहाँ सुभद्र की मृत्यु हुई थी। यह पहले ब्राह्मण मतावलम्बी था। एक सौ बीस वर्ष की अवस्था में उसने गौतम बुद्ध से बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी।[४] इसके बगल में एक अन्य स्तूप था। इस स्थान पर बुद्ध का शव सुवर्णनिर्मित सन्दूक में सात दिनों तक रखा गया था। इस काल में देवताओं ने इस रूप में पड़े उनके मृतक शरीर की वन्दना की थी।[५] तत्पश्चात् एक दूसरा स्तूप विद्यमान था। स्थानीय परम्परा के अनुसार अपने पुत्र की मृत्यु का संवाद सुनकर देवी महामाया स्वर्ग से उस स्थान पर उतरीं थीं।[६]

नगर के उत्तर हिरण्यवती नदी के दूसरे तट पर गौतम बुद्ध का अन्त्येष्टि-संस्कार किया गया था। वहाँ पर भी एक स्तूप बना हुआ था। इस स्थान की

---

१. वाटर्स, २, २६।
२. वही, २, २६।
३. वही, २, २८।
४. वही, २, ३०।
५. वही, २, ३७।
६. वही, २, ३९।

मिट्टी पवित्र मानी जाती थी।[1] जिस स्थान पर बुद्ध की अस्थियों का बटवारा भारत-वर्ष के आठ नरेशों के बीच हुआ था, वहाँ अशोक के द्वारा निर्मित एक स्तूप था। इसके पास एक पत्थर की लाट थी जिस पर एक लेख उत्कीर्ण किया गया था।[2] य्वान् च्वाङ्ग ने बौद्ध धर्म के उच्छेदन के निमित्त कुशीनगर में शशाङ्क की कृतियों का उल्लेख किया है।[3]

पावा—कुशीनगर की समकक्षता में इसके समीपस्थ नगर पावा का नाम लिया जा सकता है। राजनीतिक, धार्मिक तथा व्यापारिक केन्द्र होने के कारण पालिग्रन्थों ने अपने समय के प्रसिद्ध नगरों की तालिका में इसे भी स्थान दिया है। इनमें पावा को बौद्धों, जैनों एवं निर्ग्रन्थों का निवासस्थान बताया गया है। धर्म-प्रचार के लिये गौतम बुद्ध कई बार पावा आ चुके थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में भी यहाँ पदार्पण किया था। उस समय वे चन्द नामक एक नागरिक के घर में रुके हुए थे। चन्द के घर गौतम ने जो भोजन किया, वह उनके प्राणान्त का कारण सिद्ध हुआ। अनेक व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने के कारण वाणिज्य के क्षेत्र में इसकी महत्ता प्रतिपादित हो चुकी थी। पावा से एक सड़क कुशीनगर को भी जाती थी। उन दोनों के बीच की दूरी केवल तीन गव्यूति थी। रुग्णावस्था में पावा से कुशीनगर को लौटते समय इतनी ही दूरी में क्षीणता तथा अत्यधिक ह्रास के कारण गौतम बुद्ध को अनेक स्थलों पर विश्राम के लिये बाध्य होना पड़ा था। पावा के मल्लों में गौतम बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा, असीम भक्ति तथा प्रगाढ़ आत्मीयता की भावना सन्निहित थी। यही कारण है कि उनकी मृत्यु के पश्चात् मल्लों ने उनके देहावशेष का एक भाग माँगा था। द्रोण नामक ब्राह्मण की मध्यस्थता के कारण वे बड़ी कठिनाई के साथ इसे प्राप्त करने में सफलीभूत हुए थे।[4] इस नगर की समृद्धि बौद्ध काल के उपरान्त क्षीण होने लगी। फाहियान के आगमन के समय तक यह काफी नष्ट हो चुका था।

वैशाली—यह भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। इसका एक दूसरा नाम विशाला भी था।[5] रामायण के अनुसार अलम्बुषा नामक एक अप्सरा थी, जिसके गर्भ से इक्ष्वाकु नामक एक परम धार्मिक एवं पराक्रमी नरेश को विशाल नामक

---

१. वाटर्स, २, ३९।
२. वही, २, ४२।
३. वही, २, ४३।
४. मललसेकर, २, १९४।
५. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४७।

पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी ने विशाला (वैशाली) की नींव डाली थी।[१] विष्णुपुराण[२] तथा वायुपुराण[३] में भी विशाल को ही इस नगर का जन्मदाता स्वीकार किया गया है। रामायण में विशाल के उत्तराधिकारियों का नामोल्लेख भी मिलता है। विशाल के पुत्र हेमचन्द्र थे, जो कि बहुत बलवान् थे। हेमचन्द्र के अनन्तर सुचन्द्र नामक प्रसिद्ध सम्राट् हुआ। सुचन्द्र के पुत्र धूम्राश्व थे तथा धूम्राश्व से सृञ्जय उत्पन्न हुए। सृञ्जय के पुत्र सहदेव बड़े ही पराक्रमी थे। सहदेव से कुशाश्व उत्पन्न हुए, जो परम धार्मिक थे। कुशाश्व के पुत्र सोमदत्त महातेजस्वी तथा प्रतापी थे। सोमदत्त के पुत्र प्रसिद्ध काकुत्स्थ हुए। जिस समय विश्वामित्र के साथ राम मिथिला जा रहे थे, उस समय नगर में काकुत्स्थ के पुत्र सुमति राज्य कर रहे थे। ये शत्रुओं के द्वारा अजेय एवं महातेजस्वी थे।[४] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि पुराणों में

---

१. "इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इतिविश्रुतः॥
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता॥"
—वही, बालकाण्ड, सर्ग ४७, पंक्ति २२–२४।

२. "ततश्चालम्बुषा नाम वराप्सरास्तृणविन्दुं भेजे।
तस्यामप्यस्य विशालो जज्ञे यः पुरीं विशालां निर्ममे॥"
—विष्णु पुराण, ४, १, ४९।

३. "विशालस्य समुत्पन्ना विशाला नयर्निमिता।"
—वायुपुराण, ८६, १७।

४. "विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः॥
सुचन्द्रतनयो राम धूमाश्च इति विश्रुतः।
धूम्राश्चतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत॥
सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान्सहदेवः प्रतापवान्।
कुशाश्व सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः॥
कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः॥
तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत्परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः॥"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४७, १३–१७।

भी विशाल के उत्तराधिकारियों के ठीक ये ही नाम मिलते हैं।[१] मिथिला जाते समय राम ने गङ्गा के उत्तरी तट पर खड़े होकर दूर से वैशाली को देखा था।[२] रामायण के अनुसार यह नगर स्वर्ग के समान दिव्य तथा अत्यन्त रमणीय था।[३] इस ग्रन्थ में कहा गया है कि इक्ष्वाकु के प्रसाद से वैशाली के सभी नरेश महात्मा, दीर्घायु, वीर्यवान् एवं धार्मिक थे।[४]

वैशाली के शासकों के लिये "वैशालिकाः नृपाः"[५] तथा "वैशालिकाः भूभृतः"[६] शब्द प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त मिलते हैं। इस नगर का क्रमबद्ध इतिहास गौतम बुद्ध के काल से उपलब्ध होता है। इसके सम्बन्ध में रिज़ डेविड्स महोदय लिखते हैं कि गणराज्यों के समस्त क्षेत्र में वैशाली ही ऐसा नगर था, जिसकी छठीं शताब्दी ईसा पूर्व के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के विकास में बहुत बड़ी देन थी। अवश्यमेव भारत का यह इस समय एक वैभवपूर्ण नगर रहा होगा।[७] आनन्द के प्रसिद्ध नगरों की तालिका में वैशाली का नाम नहीं मिलता परन्तु इससे उसकी महत्ता में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि यह नामावली अपूर्ण है। गौतम बुद्ध के काल में और भी ऐसे नगर थे, जो आनन्द के द्वारा गिनाये हुए नगरों की समकक्षता में भली भाँति आ सकते थे। वैशाली में लिच्छवियों की राजधानी थी। इसकी जनसंख्या विशाल थी तथा इसमें अगणित प्रासाद, केलिवन तथा कामतड़ाग बने हुए थे।[८] इसके चतुर्दिक एक दूसरे से एक गव्यूति की दूरी पर तीन दीवालें थीं। इन दीवालों में द्वार (गोपुर) बने हुए थे, जिनके ऊपर बुर्ज़ का निर्माण किया गया

---

१. विष्णुपुराण, ४, १, ४९।

२. "उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम्॥"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४, ५, ९।

३. "विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा।"—वही, बालकाण्ड, सर्ग ४५, ११।

४. "दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः।"—वही, बालकाण्ड, सर्ग ४५, १८।

५. विष्णु पुराण, १, ५९।

६. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४५।

७. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ४१।

८. मललसेकर, २, ९४१।

था।[१] ललितविस्तर में वैशाली को महानगर कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर परम रमणीय, बहुत से मनुष्यों से परिपूर्ण तथा पुष्पवाटिकाओं एवं सरोवरों से युक्त था। इसमें हर्म्य, कूटागार तथा प्रासादों का निर्माण किया गया था, जिनमें गवाक्ष बने हुए थे।[२] इस नगर के बाहर एक प्राकृतिक वन था। इसकी सुविशालता के कारण इसे महावन की संज्ञा प्रदान की गयी थी। इनमें एक बहुत बड़ा विहार बना हुआ था, जो कि आकार में कूटागार के तुल्य था। इसीलिये इसे 'कूटागार-शाला' भी कहा जाता था।[३]

यह नगर जैन एवं बौद्ध धर्मों के साथ विशेष रूप से सम्बन्धित था। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर का जन्म इसी नगर में हुआ था। यही कारण है कि इसे जैन सूत्र में महावीर-जननी (विशाला महावीरजननी) तथा महावीर को "वैशालिक"[४] अर्थात् वैशाली का रहने वाला बताया गया है। इनके जीवन के प्रारम्भिक ३० वर्ष यहीं बीते थे। महावीर ने यहाँ पर कई बार उपदेश दिया था, जिससे प्रभावित होने के कारण बहुत से लिच्छवि जैन धर्म के अनुयायी बन गये थे। गौतम बुद्ध को भी यह नगर बहुत प्रिय था। उनके यहाँ रुकने के दो प्रिय स्थान थे—(१) आम्रवाटिका जो कि नगर के उपकण्ठ पर एक शान्तिमय वातावरण में विद्यमान थी तथा (२) कूटागार-शाला जो कि महावन में बनी हुई थी। कूटागार-शाला में गौतम बुद्ध के कई प्रवचन हुए थे। यहाँ पर उनके उपदेशों से प्रभावित होने के कारण भद्दिय (जो कि एक लिच्छवि था) उनका शिष्य बन गया था।[५] लिच्छवि-वंश के कतिपय अन्य विशिष्ट व्यक्तियों ने भी उनसे बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी, उदाहरणार्थ —सीह (जो कि एक लिच्छवि-नायक था) तथा नन्द (जो कि एक लिच्छवि-मन्त्री था)। पुरवासियों में अनेक उनके परम भक्त थे। बहुत सी लिच्छवि-महिलाएँ भी गौतम बुद्ध के उपदेशों से अत्यन्त प्रभावित थीं।

---

१. "वेसालीनगरम् गावुतगावुतन्तरे तिहि पाकारेहि परिक्खितम्, तिस स्थानेषु गोपुरट्टालोकयुत्तम्।"—जातक, १, ५०४।

२. "इयं वैशाली महानगरी ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा च रमणीया चाकीर्णबहुजनमनुष्या च विर्दाद्दिनिर्यूहतो रणगवाक्षहर्म्यकूटागारप्रासादतलसमलङ्कृता च पुष्पवाटिका वनराजिसङ्कुसुमिता च अमरभवन-पुरप्राकाश्या",—ललितविस्तर, अध्याय ३।

३. सुमङ्गलविलासिनी, १, पृष्ठ ३०९।

४. याकोबी, जैन सूत्र १ (प्रस्तावना ११)।

५. अङ्गुत्तर निकाय, २, १९०। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ १०६-१०७।

उदाहरणार्थ, वाशिष्ठी ने भिक्षुणी का जीवन स्वीकार किया था। नगर-वेश्या आम्रपाली ने भी, जिसे वैशाली के सामाजिक जीवन में सम्मानित स्थान प्राप्त था, गौतम के सदुपदेशों से लाभ उठाया था। अन्य मतावलम्बियों के साथ यहाँ पर उन्होंने धार्मिक विवाद भी किया था। जिस समय निर्ग्रन्थ सच्चक ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी, उस समय वैशाली के पाँच सौ लिच्छवि उनके विवाद को सुनने के निमित्त एकत्र हुए थे।[१] उन्होंने इस नगर में एक बार पुराण कस्सप के भी मत का खण्डन किया था।[२] वैशाली के नागरिक अन्य धर्मों के भी अनुयायी थे। यहाँ पर लिच्छवियों के कई मन्दिर बने हुए थे, जहाँ पर प्रतिदिन प्रतिमाओं को पूजा चढ़ाई जाती थी तथा धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता था। वैशाली से अन्तिम बार प्रस्थान करते समय गौतम बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि जब तक लिच्छवि इस नगर में वर्तमान अपने धार्मिक भवनों को आदर की दृष्टि से देखते रहेंगे, तब तक उनका सर्वदा उत्थान होता रहेगा।[३] इस नगर में रहने वाले श्रमण बहुत ही गम्भीर तथा संयम का पालन करने वाले थे। वे नङ्गे पाँव, सिर मुड़ाकर, साधारण वस्त्र पहने एवं हाथ में भिक्षा-पात्र लिये हुए भिक्षाटन के उद्देश्य से राजमार्गों पर घूमते रहते थे। इनका जीवन शान्तिमय था। ये अपना अधिकांश समय अध्ययन एवं ध्यान में बिताया करते थे।[४]

गौतम बुद्ध के काल में उत्तर-पूर्व भारत की महान् शक्तियों में वैशाली के लिच्छवियों की गणना होती थी। इनके काल में जितने महत्त्वपूर्ण शासन एवं विजय-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न हुए, उनका केन्द्रविन्दु यही नगर था। यहाँ पर एक विशाल सार्वजनिक भवन (सन्थागार) था, जिसमें लिच्छवियों की सभा होती थी। इसमें वे बहुमत के द्वारा विवादग्रस्त विषयों एवं राजनीति-विषयक जटिल समस्याओं का निर्णय करते थे। सभा के सभी सदस्यों का अधिकार तथा प्रभाव बराबर होता था। अवस्था की दृष्टि से इनमें कोई भी भेदभाव नहीं माना जाता था। इसको स्पष्ट करते हुए ललितविस्तर में कहा गया है कि ये सदस्य ज्येष्ठ, मध्य, वृद्ध तथा उच्च के प्रति कोई भी आदर नहीं दिखाते थे। प्रत्येक अपने आपको राजा अर्थात् समान अधिकार से युक्त एवं स्वतन्त्र मानता था।[५] सभा का कोई

---

१. मज्झिम निकाय, १, २२७।   २. वही, ३, ६८।

३. महापरिनिब्बानसुत्त, से० बु० ई०, ११, पृष्ठ ४।

४. वाटर्स, २, ७९।

५. "नोच्च-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति न च कस्यचिच्छिष्यित्वमुपगच्छति",—ललितविस्तर, अध्याय २।

भी सदस्य किसी दूसरे सदस्य के दबाव में नहीं था। परिणामस्वरूप इनमें विवाद बहुत अधिक हुआ करता था तथा काफी बहस के उपरान्त ये किसी निर्णय पर पहुँच पाते थे। सन्थागार में एक स्थाननिर्देशक भी होता था (आसन-पञ्जापक), जो सदस्यों को अपने अपने जगहों पर बिठाता था।[1] इस गणराज्य का समस्त शासन वैशाली के लिच्छवियों के नाम पर हुआ करता था (वैशालिकानां लिच्छविनां वचनेन)।[2] लिच्छवियों की एक कार्यकारिणी भी थी, जिसमें नव सदस्य थे। इनको जैन-कल्पसूत्र में "नवगणरायाणो" कहा गया है (नव मल्लई नव लेच्छई कासी कोसलस्य अट्ठारस विगणरायाणो)। महावीर की मृत्यु-तिथि को मनाने के लिये जब वैशाली में रात्रि के अवसर पर दीपकों के द्वारा प्रकाश किया गया, उस समय नव सदस्यों ने इस उत्सव में भाग लिया था। इन सदस्यों में चार के नाम जातकों में उपलब्ध होते हैं:—(१) राजा (प्रधान), (२) उप-राजा (उप-प्रधान), (३) सेनापति तथा (४) भाण्डागारिक।[3] इन सबका निवासस्थान वैशाली का नगर था। यहाँ पर लिच्छवियों का एक तालाब था, जिसमें गण-राज्य के प्रधान को कार्यभार ग्रहण करने के पूर्व स्नान करना पड़ता था।[4] इसका कारण यह है कि वे इसके जल को बहुत पवित्र मानते थे। इस नगर में लिच्छवियों का अष्टकुलक नामक एक न्यायालय भी था। इसमें छोटे न्यायालयों के निर्णय में परिवर्तन के लिये अपील की जाती थी। मगध-नरेश अजातशत्रु ने आपसी भेद के द्वारा लिच्छवियों को परास्त कर वैशाली को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। इसके उपरान्त इसकी प्रधानता का स्थान अचिराधिष्ठित नगर पाटलिपुत्र ने ले लिया।

बौद्ध ग्रन्थों के द्वारा वैशाली के सामाजिक जीवन के विषय में भी परिचय प्राप्त होता है। इसके नागरिक अनेक उत्सव मनाते थे, जिनमें "सब्बरतिवार" अथवा "सब्बरत्तिचार" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस उत्सव में लोग रात भर जागते रहते थे। नगर के विभिन्न भागों में खूब गाना बजाना होता था।[5]

---

१. विनय पिटक (से० बु० ई०, भाग २०, पृष्ठ ४०८)।

२. महावस्तु, १, २५४।

३. "राजानो होंति तत्तका, ये व उपराजानो तत्तका,
सेनापतिनो तत्तका, तत्तका भण्डागारिका।"—जातक, १, ५०४।

४. "वैसालिनगरे गण-राजकुलानां अभिषेक-पोक्खरणिम्।"
—जातक, ४, १४८।

५. संयुक्त निकाय, १, २०१। ला बी०सी०, इण्डोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ १२६।

इस नगर के प्रायः सभी उत्सवों में समस्त नागरिक भाग लेते थे तथा नृत्य एवं वाद्य का आयोजन किया जाता था।[१] लिच्छवि बहुत ही सुन्दर एवं स्वच्छन्द प्रकृति के थे। इनका जीवन बहुत ही आनन्दमय था। गौतम बुद्ध इनकी तुलना इन्द्रपुरी के देवताओं से किया करते थे। वे सुन्दर वस्त्रों के प्रेमी, बाण चलाने में अत्यन्त प्रवीण तथा शिष्टाचार के उपासक थे।[२] यहाँ के नागरिकों का व्यवहार एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। आपत्तिकाल में लोग एक दूसरे की सहायता करते थे। यदि किसी लिच्छवि के घर कोई उत्सव अथवा समारोह होता था, तो उसमें सभी लिच्छवि सम्मिलित होते थे। जब कोई सम्मानित व्यक्ति इस नगर को देखने की अभिलाषा से यहाँ आता था, तो वे सभी एक साथ नगर-द्वार पर उसका स्वागत कर अपनी उदारता तथा अतिथि-सत्कार का सुन्दर परिचय प्रदान करते थे।[३] संयुक्त निकाय के अनुसार लिच्छवि बहुत ही उद्योगी, पुरुषार्थी तथा सामरिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। कभी कभी वे विभिन्न अलङ्कारों तथा अच्छे वस्त्रों से सुसज्जित होकर हाथी, घोड़े, पालकी एवं अन्य वाहनों के द्वारा नगर के बाहर मनोविनोद के निमित्त निकलते थे। महावस्तु में कहा गया है कि एक बार वे ८४,००० वाहनों पर आरूढ़ होकर नगर के बाहर निकले थे।[४] अङ्गुत्र निकाय के अनुसार लिच्छवि-नवयुवक अशिष्ट तथा उद्दण्ड थे। वे राजमार्ग पर चलती हुई सभ्य कुल की ललनाओं पर धूल फेंक देते थे। पुरसुन्दरियाँ उनके दुर्व्यवहार से ऊब उठती थीं। पर इस प्रकार के नवयुवकों की संख्या बहुत कम थी। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि यहाँ के अधिकांश नागरिक सुसंस्कृत थे तथा एक दूसरे के प्रति उनका व्यवहार बहुत ठीक था।[५]

लिच्छवि विद्या के भी प्रेमी थे। वे विद्योपार्जन के निमित्त कठिन यात्रा करते हुए सुदूर भागों में निकल जाया करते थे। उदाहरणार्थ, महालि अध्ययन के लिये तक्षशिला गया था। नगर के भीतर भी शिक्षा-संस्थाएँ विद्यमान थीं। यहाँ के लोग कला में भी व्यसन रखते थे। विशेष रूप से वास्तुकला का इस नगर में पर्याप्त विकास हुआ।[६] यहाँ के कलाकार मन्दिर, राजभवन, मठ तथा विहार के निर्माण

---

१. संयुक्त निकाय १, २०२।

२. वाटर्स, २, ७९।

३. सुमङ्गलविलासिनी, पृष्ठ १०३।

४. महावस्तु, १, २५९। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ १२३।

५. वाटर्स, २, ७९।

६. ललितविस्तर, अध्याय ३।

में परम दक्ष थे।[१] वैशाली के लिच्छवियों के आचार-सम्बन्धी नियम बहुत कड़े थे। वे आचरण की पवित्रता को बहुत अधिक महत्ता प्रदान करते थे। व्यभिचार के लिए कभी कभी प्राणदण्ड दिया जाता था।[२] इस अपराध में पकड़ी हुई जो स्त्रियाँ भिक्षुणी हो जाती थीं, केवल उन्हीं को इस दण्ड से मुक्ति दी जाती थी।[३]

हर्यङ्कवंशी नरेशों के अधःपतन के उपरान्त वैशाली नन्दों, मौर्यों तथा शुङ्गों के राज्य में सम्मिलित था। इस कारण लिच्छवि चिरकाल तक दबे रह गये पर कालान्तर में पुनः इनका अभ्युदय हुआ। तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में हम इन्हें बहुत शक्तिशाली पाते हैं। इस समय लिच्छवि-कन्या कुमारदेवी का विवाह चन्द्रगुप्त प्रथम से हुआ। इस नरेश की एक मुद्रा मिली है, जिसके मुखभाग पर कुमारदेवी का नाम एवं चित्र तथा पृष्ठ भाग पर "लिच्छवि-दौहित्र" लेख उत्कीर्ण हैं। इससे ज्ञात होता है कि लिच्छवि बहुत प्रभावशाली थे। उपर्युक्त वैवाहिक सम्बन्ध के कारण लिच्छवि-राज्य चन्द्रगुप्त प्रथम को प्राप्त हो गया था। यही कारण है कि उसकी शक्ति अकस्मात् बहुत अधिक बढ़ गई तथा उसने "महाराजाधिराज" की उपाधि धारण की। गुप्तों के काल में वैशाली में तीरभुक्ति अर्थात् बिहार प्रान्त की राजधानी विद्यमान थी। यहाँ पर गुप्तवंशीय राजकुमार राज्यपाल के रूप में शासन करता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम के काल में इस नगर में राजकुमार गोविन्दगुप्त राज्यपाल थे। वैशाली (बसाढ़) से प्राप्त एक मुद्रा में गोविन्दगुप्त का नाम मिलता है (महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी)। वैशाली से प्राप्त अन्य मुद्राओं पर उपरिक (राज्यपाल), युवराजपदीय-कुमारामात्याधिकरण (युवराज के मन्त्री का कार्यालय), बलाधिकरण (युद्ध-कार्यालय), तीरभुक्त्युपरिकाधिकरण (तीरभुक्ति के राज्यपाल का कार्यालय) तथा वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण (वैशाली की सरकार का कार्यालय) आदि शब्द उत्कीर्ण मिलते हैं।[४] इससे कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि तीरभुक्ति का राज्यपाल इसी नगर में रहता था तथा उससे सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण कार्यालय इसी नगर में विद्यमान थे। बसाढ़ से प्राप्त अन्य मुद्राओं से ज्ञात होता है कि

---

१. से० बु० ई०, २०, १८९।
२. विनय पिटक, ३, २२५।
३. वही, २, २२५।
४. राय चौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, ४७३।

यहाँ पर निगम नामक व्यापारिक समितियाँ थीं, जिन्हें नगर-शासन में अधिकार प्राप्त था।[१]

चीनी यात्री फाहियान गुप्तों के काल में वैशाली आया था। वह लिखता है कि इस नगर के उत्तर में एक बहुत बड़ा वन था, जिसमें दो मञ्जिलों वाला एक विहार वर्तमान था। इस विहार में गौतम बुद्ध रहते थे।[२] स्पष्ट है कि यहाँ पर फाहियान का तात्पर्य महावन नामक अरण्य तथा इसमें स्थित कूटागार-शाला से है, जो कि गौतम के चरण-रज से कई बार पवित्र हो चुका था। नगर के भीतर एक विहार था, जिसे आम्रपाली नामक सुप्रसिद्ध वेश्या ने गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा के कारण उनके रहने के लिये बनवाया था। फाहियान ने वैशाली में तथा उसके आसपास तीन स्तूप देखे थे। इनमें से एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ था, जहाँ पर गौतम ने अन्तिम बार पर्यटन किया था। दूसरा इस नगर से कुछ दूर उत्तर-पश्चिम में बना हुआ था। तीसरा उस स्थान पर था, जहाँ गौतम ने सङ्घ के सुसञ्चालन के लिए अनुशासन-सम्बन्धी नियमों का निर्माण किया था।[३]

सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग भी वैशाली आया था। उसके यात्राविवरण में इस नगर के लिये (फे-शी-ली) नाम आता है। उसने लिखा है कि वैशाली-देश की परिधि लगभग एक हजार मील थी। यह एक बहुत उपजाऊ क्षेत्र था। विशेष रूप से यहाँ पर आम, केले तथा अन्य विभिन्न प्रकार के फल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते थे। इस क्षेत्र के निवासी सच्चे, ईमानदार, अच्छे कामों में व्यसन रखने वाले, शिक्षा के प्रेमी तथा धार्मिक प्रवृत्ति के हुआ करते थे। वह लिखता है कि इस समय यह नगर काफी उजड़ चुका था। स्थान-स्थान पर खण्डहर दिखाई देते थे। इसमें रहने वाले नागरिकों की संख्या अब बहुत थोड़ी थी। इसके अनुसार वैशाली की परिधि लगभग १४ मील थी। नगर के भीतरी भाग को इसने "पैलेस-सिटी" (प्रासाद-नगर) कहा है। इसकी परिधि लगभग एक मील थी। चीनी यात्री का "पैलेस-सिटी" से तात्पर्य नगर के उस भाग से है, जहाँ एकमात्र लिच्छवि शासक रहा करते थे। उसने नगर के भीतर वर्तमान कई स्तूपों एवं विहारों का उल्लेख किया है। ये स्तूप प्रायः उन स्थानों पर बने हुए थे, जो गौतम के जीवन के साथ सम्बन्धित थे। उसने वैशाली के एक ऐसे स्तूप का भी उल्लेख किया है, जिसमें आनन्द की अस्थियाँ गाड़ी गई थीं। यहाँ पर सारिपुत्र

---

१. मजुमदार, कारपोरेट लाइफ, ४५।

२. लेग्गे, फाहियान, ७२।

३. वही, फाहियान, ७५।

के भी संस्मरण में एक स्तूप बना हुआ था। य्वान् च्वाङ्ग के यात्रा-विवरण में इस नगर के एक सरोवर का भी वर्णन मिलता है। परम्परा के अनुसार इस सरोवर का निर्माण बन्दरों ने गौतम बुद्ध के लिये किया था। इस सरोवर के समीप लगभग ५० फीट ऊँचा एक स्तम्भ था। इसके शीर्ष पर सिंह की एक मूर्ति थी। इसका निर्माण सम्भवतः अशोक के काल में किया गया था। सरोवर के पास ही पश्चिम में एक स्तूप था। जनश्रुति के अनुसार यहाँ पर पहले एक वृक्ष था। इसकी चोटी पर चढ़ कर बन्दरों ने गौतम के भिक्षापात्र में मधुदान दिया था। इस सरोवर के दक्षिण तट पर भी एक स्तूप था। इसके उत्तर-पूर्व में बन्दर की एक प्रतिमा थी। चीनी यात्री ने इस नगर में प्रसिद्ध बौद्ध-आचार्य विमलकीर्ति का भी घर देखा था, जो कि भग्नावशेष को प्राप्त हो चुका था। कहा जाता है कि उन्होंने "विमल-कीर्ति-निर्देश" नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। य्वान् च्वाङ्ग ने वैशाली की द्वितीय बौद्ध सङ्गीति का भी उल्लेख किया है। इसमें सात सौ भिक्षु उपस्थित थे। चीनी यात्री के अनुसार गौतम के परिनिर्वाण के लगभग ११० वर्षों के उपरान्त यह सङ्गीति हुई थी। वैशाली के भिक्षुओं ने विनय के नियमों के पालन में कुछ त्रुटि दिखाई, जिसके परिणामस्वरूप इसका आयोजन किया गया था। इसमें पाँच अर्हतों ने प्रमुख भाग लिया:—(१) कोसल के यसोदा, (२) मथुरा के सम्भोग, (३) कन्नौज के रेवत, (४) वैशाली के शल तथा (५) पाटलिपुत्र के पुत्रसुमेरु। इस सङ्गीति में वैशाली के वे भिक्षु, जिन्होंने विनय के नियमों के विरुद्ध कार्य करना प्रारम्भ किया था, बुलाये गये। सभा में उपस्थित सभी भिक्षुओं ने उन्हें धिक्कारा तथा ऐसा करने से रोका। विनय-सम्बन्धी नियमों की स्पष्ट व्याख्या की गई तथा उनके विरुद्ध आचरण की गणना एक बहुत बड़े धार्मिक दोष के रूप में होने लगी।[1]

होये महोदय ने वैशाली की एकता छपरा में स्थित चेरन्द नामक स्थान से की है।[2] पर यह मत बिल्कुल निराधार है। कनिङ्घम महोदय का मत है कि यह नगर बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में आधुनिक बसाढ़ नामक स्थान पर विद्यमान था। कई ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा इस मत का समर्थन हो जाता है। डाक्टर ब्लाख ने बसाढ़ में एक टीले पर खुदाई की थी, जिसे स्थानीय जनता 'राजा विशाल का गढ़' कहती है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इस विशाल का सम्बन्ध तन्नामधारी उस नरेश के साथ है, जो कि साहित्यिक

१. वाटर्स, २, ६३–७९।

२. ज० ए० सो० बं०, १९००, ७८।

साधनों के अनुसार इस पुर का संस्थापक था। बसाढ़ के उत्खनन में कुछ मिट्टी की मुहरें उपलब्ध हुई हैं, जिनमें से एक के ऊपर "वैशाल्याम्-अरप्रकृति-कुटुम्बिनाम्" (अर्थात् वैशाली के गृहस्थ) शब्द उत्कीर्ण मिलते हैं। यहाँ से प्राप्त एक दूसरी मृत्तिका-निर्मित मुद्रा पर वैशाली नगर का नाम अङ्कित मिलता है (वैसालिये अनुसम्मान कटकारे)।[१] इससे स्पष्ट है कि वैशाली की पहचान आधुनिक बसाढ़ से करना पूर्णतया तर्कसङ्गत है।

पाटलिपुत्र—पाटलिपुत्र भारतवर्ष का एक प्रधान नगर था। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिये कतिपय अन्य नाम भी आते हैं, उदाहरणार्थ—**कुसुमपुर,**[२] **पुष्पपुर,**[३] **पुष्पवती,**[४] **पुष्पाह्वयपुर,**[५] **श्रीनगर,**[६] **पुष्पपुरी,**[७] **पाटलिपुत्त,**[८] **पाडलिपुत्त,**[९] **पोलिबोथ्,**[१०] **पालिमबोथ्,**[११] तथा **प-लियेन-फु**।[१२] ह्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण में पाटलिपुत्र नाम की व्युत्पत्ति के विषय में एक आख्यानात्मक विवरण उपलब्ध होता है। यह विवरण उसे भारतीय परम्परा के द्वारा प्राप्त हुआ होगा। इस विवरण के अनुसार कुछ नवयुवक छात्र वहाँ पाटलिवृक्ष के नीचे अपने एक मित्र का मिथ्या विवाह करने के निमित्त एकत्र हुए। इस वृक्ष का स्त्री नाम होने के कारण इसे उसकी काल्पनिक भार्या बनाया गया। विवाह समाप्त होने के उपरान्त इस मित्र को छोड़कर अन्य सभी छात्र अपने अपने घर चले गये। वह पाटलि वृक्ष के नीचे रुक गया। संध्या हो जाने पर इस वृक्ष का देवता अवतरित हुआ। उसने इसे एक परम सुन्दरी कन्या भार्या के रूप में प्रदान किया। कालान्तर में इससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके लिये पाटलि वृक्ष ने एक सुन्दर भवन का निर्माण किया। यही भवन आगे

---

१. आ० स० रि०, १९०३-४, ११०। ला बी० सी०, इंडलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ १०७-१०८।

२. वाटर्स, २, ८७। ३. युगपुराण, पृष्ठ ३३।

४. महावस्तु, ३, २३१।

५. "पुष्पाह्वये क्रीडिता"।—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २५६।

६. ए० इं०, १७, ३१०।

७. "पुष्पपुरी नाम नगरी",—दशकुमारचरित, पृष्ठ १।

८. दीघनिकाय, २, १६, १, २६।

९. आवश्यकचूर्णि, २, १७९।

१०. मेक्रिण्डिल एँशण्ट इण्डिया (मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन), पृष्ठ ६५।

११. वही, एँशेण्ट इण्डिया (टालेमी), पृष्ठ १६९।

१२. बील, रेकर्ड्स ऑफ़ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, १, ४।

चलकर एक नगर का केन्द्रबिन्दु बन गया। पाटलि वृक्ष के पुत्र के घर के चतुर्दिक इस नगर के बसने के कारण इसका नाम पाटलिपुत्र पड़ गया। य्वान् च्वाङ्ग ने लिखा है कि इस नगर के राजाप्रासाद के प्राङ्गण में बहुत से पुष्प खिले हुए थे। इसी कारण यह नगर कुसुमपुर नाम से भी विख्यात हुआ।[१]

पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध तक यह नगर भारतवर्ष के विविध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों के साथ अविच्छिन्न रूप में सम्बन्धित था। बौद्ध साधनों (दीघनिकाय के महापरिनिब्बान-सुत्त) के अनुसार लिच्छवियों के विनाश की तैयारी में अजातशत्रु ने सुनीध एवं वस्सकार नामक मन्त्रियों की सहायता से गङ्गा तथा सोन के सङ्गम पर इस नगर का निर्माण एक दुर्ग के रूप में किया था।[२] कालान्तर में अजातशत्रु के पुत्र उदायी ने अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र में स्थानान्तरित की तथा उद्यान, सरोवर एवं भवन आदि विभिन्न प्रकार के निर्माणों के द्वारा इसे नगर का पूर्ण रूप प्रदान किया। यही कारण है कि युगपुराण में इस नगर की स्थापना का पूर्ण श्रेय उदायी को ही प्रदान किया गया है।[३] जैन परिशिष्टपर्वन[४] तथा वायु पुराण[५] में भी उदायी को इस नगर का वास्तविक जन्मदाता माना गया है। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार

---

१. वाटर्स, २, ८७। द्रष्टव्य—पाटलिपुत्र इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लेखक का अनुसन्धान-लेख, यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलाहाबाद स्टडीज, १९५७, पृष्ठ १९।

२. "सुनीध-वस्सकारा मगधमहामत्ता पाटलिगामे नगरं मापेन्ति वज्जीनम पटिवाहाय"—दीघनिकाय, १, १६, १, २६।

३. "उदायी नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैः।
गङ्गातीरे स राजर्षिः दक्षिणे स महानदे॥
स्थापयेन्नगरं रम्यं पुण्यारामजनाकुलम्॥"
—युगपुराण, पृष्ठ ३१, पंक्ति ८१-८३।

४. परिशिष्टपर्वन (जैकोबी), पृष्ठ ४२।

५. "उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्॥
गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति॥"
—वायुपुराण, अध्याय ९९, श्लोक ३१३। यह श्लोक ब्रह्माण्डपुराण में भी मिलता है—ब्रह्माण्ड-पुराण, मध्य भाग, उपोद्घातपाद, ३, अध्याय ७४, श्लोक १३३।

राजगृह आग लग जाने के कारण ध्वस्त हो गया था जिसके परिणामस्वरूप मगध-साम्राज्य की राजधानी यहाँ से स्थानान्तरित कर पाटलिपुत्र में लायी गयी थी।[1] पर अधिक सम्भव यह है कि राजधानी का यह परिवर्तन पाटलिपुत्र की भौगोलिक सुस्थिति के कारण किया गया होगा। दीघनिकाय में कहा गया है कि इस नगर में पहुँचने के लिये गौतम बुद्ध को गङ्गा नदी पार करना पड़ा था।[2] फाहियान के यात्राविवरण[3] तथा विविधतीर्थकल्प के अनुसार यह नगर गङ्गा के तट पर स्थित था। महाभाष्य[4] तथा मुद्राराक्षस[5] में पाटलिपुत्र को सोन के तट पर वर्तमान माना गया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में सोन नदी पाटलिपुत्र के अत्यन्त समीप गङ्गा में मिलती थी।

स्थापना के काल से ही इस नगर का सर्वांगीण विकास बड़ी शीघ्रता के साथ प्रारम्भ हुआ। गौतम बुद्ध के काल में ही यह भारत का महानगर माना जाता था।[6] उन्होंने इस नगर के अभ्युदय को दृष्टि में रखते हुए अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि यह नगर निकट भविष्य में भारत का सबसे बड़ा नगर होगा।[7] तत्कालीन अनेक व्यापारिक मार्ग इस नगर से होकर जाते थे। यही कारण है कि यह वाणिज्य का एक महान् केन्द्र था। यहाँ पर देश के सुदूर भागों से मुहरबन्द माल की गाँठें निरन्तर आती थीं। प्रामाणिकता के लिये इन मुहरों को थोकविक्रेताओं के सामने तोड़ दिया जाता था। इसके उपरान्त थोकविक्रेता माल को फुटकरियों के हाथ बेच देते थे। मुहरों के इस प्रकार बराबर तोड़ी जाने के कारण पाटलिपुत्र पुट-भेदन कहलाने लगा।[8] यहाँ के नागरिक गौतम बुद्ध के बहुत बड़े भक्त थे। उनके शिष्यों ने उनके निवास के लिये नगर के भीतर एक (आवस्थागार) बनवाया था। इसका उद्घाटन भी गौतम बुद्ध ने ही किया था।[9] इसी समय वाराणसी के एक पूँजीपति ने घोटमुखी नामक एक मठ का निर्माण पाटलिपुत्र में कराया

---

१. वाटर्स, २, १६१-६३। २. दीघनिकाय, २, पृष्ठ ८९।

३. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ७७।

४. "अनुशोणम् पाटलिपुत्रम्"—महाभाष्य, २, १, २, पृष्ठ ५१३। तुलनार्ह—"अनुगङ्गम् हास्तिनपुरम्," "अनुगङ्गम् वाराणसी," महाभाष्य, २,१,२।

५. "शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्ति शतशः"—मुद्राराक्षस, ४, १६

६. दिव्यावदान, पृष्ठ ५४४।

७. "इदं अग्गनगरं भविस्सति"—दीघनिकाय, २, १६, १, २६।

८. "पाटलिपुत्तं पुटभेदनम्"—वही, २, १६, १, २६।

९. विनयपिटक, १, २२६।

था। इन भवनों में गौतम बुद्ध ने अनेक सारगर्भित व्याख्यान दिये, जिनसे प्रभावान्वित होने के कारण अधिकांश व्यक्तियों ने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी। उनकी मृत्यु के पश्चात उनकी मेखला (करधन) तथा उनका जलपात्र यहीं गाड़ा गया था।[१] उनके प्रति श्रद्धा के कारण इस नगर का एक द्वार गौतम द्वार कहलाने लगा। कहा जाता है कि अन्तिम बार वे इसी द्वार से नगर के बाहर निकले थे।[२] पाटलिपुत्र के जिस घाट से उन्होंने अन्तिम बार गङ्गा नदी को पार किया था, वह भी इन्हीं के नाम पर गौतम-तित्थ (गौतम तीर्थ) कहलाने लगा।[३]

मौर्यों के काल में यह नगर अपने अभ्युदय की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। इसके विषय में परिचय यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ की पंक्तियों द्वारा उपलब्ध होता है। वह लिखता है कि पाटलिपुत्र भारतवर्ष का सबसे प्रधान नगर है। उसने गङ्गा तथा सोन के सङ्गम पर इसके सन्निवेश को स्वीकार किया है तथा इसे साढ़े नव मील लम्बा तथा पौने दो मील चौड़ा बताया है। उसके अनुसार इस नगर के चतुर्दिक ६०० फीट चौड़ी एवं ४५ फीट गहरी खाईं तथा एक ऊँची दीवाल थी, जिसमें ६४ द्वार एवं ५७० बुर्ज़ बने हुए थे। इस दीवाल में स्थान स्थान पर छिद्र बने हुए थे, जिनके द्वारा सैनिक नगर के भीतर से ही बाहर की शत्रु-सेना पर बाण चलाते थे। पुर के बीच में राजप्रासाद की स्थिति का निर्देश करते हुए यवन-यात्री ने लिखा है कि यह भवन सूसा तथा एकबतना में बने हुए पारसीक सम्राटों के राजप्रासाद से भी अत्यधिक सुन्दर था। इस प्राङ्गण के चतुर्दिक एक उद्यान था, जिसमें सुन्दर मछलियों से युक्त रमणीय सरोवर बने हुए थे। इसके स्वर्णजटित खम्भों का दृश्य नितान्त अनुपम था। महल के भीतर सुन्दर पर्यङ्क तथा बहुमूल्य धातुओं के द्वारा जड़े हुए बर्तन प्रयोग में लाये जाते थे। यहाँ के नागरिक बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषणों का प्रयोग करते थे।[४] मेगस्थनीज़ के अनुसार इस नगर के शासन के लिये एक सभा भी थी। इसे सार्वजनिक कार्य करना पड़ता था। अधिकांश विद्वानों ने कौटिल्य की एकता चाणक्य से निर्धारित की है, जो भारतीय परम्परा के अनुसार पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहता था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि नगरशासन तथा दुर्गसन्निवेश के विषय में अर्थशास्त्र में जो परिचय दिया गया है, वह पाटलिपुत्र में प्राप्त कौटिल्य के अनुभवों

---

१. "पाटलिपुत्र-नगरे करकम् कायबन्धनम्"—बुद्धवंश, अध्याय २८। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ १३७।

२. विनयपिटक, १, २२६। ३. दीघनिकाय, २, ८६।

४. मेक्रिण्डिल, ऐंशेण्ट इण्डिया (मेगस्थनीज़), २५, पृष्ठ ६८।

पर आश्रित है। उन्होंने नागरक, गोप, स्थानिक, द्यूताध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष तथा सुराध्यक्ष आदि नगर-पदाधिकारियों का जो उल्लेख किया है, वह उन अधिकारियों का द्योतक है जिनकी नियुक्ति मौर्यों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र के शासन के निमित्त की थी। परिखा, प्राकार, राजमार्ग, भवन तथा राजप्रासाद आदि के विषय में कौटिल्य का व्यावहारिक ज्ञान इसी नगर पर आधारित ज्ञात होता है।

विनय-टीका के अनुसार पाटलिपुत्र में चार प्रधान द्वार थे। इन द्वारों के द्वारा अशोक के राजकोष में प्रतिदिन ४० लाख कार्षापण आया करते थे। यह आय उस शुल्क के द्वारा होती थी, जिसे बाहर से आने वाले व्यापारी नगर-द्वार पर चुङ्गी के रूप में देते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार नगर के प्रधान द्वारों के समीप शुल्क-गृह बने होते थे, जहाँ बाहरी माल पर चुङ्गी वसूल की जाती थी। इस नरेश ने प्रजा के लाभ के लिये पाटलिपुत्र में महामात्रों की नियुक्ति की थी। ये महामात्र दो प्रकार के थे—(१) नगलक तथा (२) नगल-वियोहालक। इन दोनों की तुलना अर्थशास्त्र के नागरक एवं पौर-व्यावहारिक से क्रमशः की जा सकती है। ये दोनों महामात्र नगर का न्यायशासन करते थे। ईर्ष्या, क्रोध, नैष्ठुर्य, क्षिप्रता, अनभ्यास, आलस्य तथा क्लान्ति आदि दुर्गुणों का परित्याग इन महामात्रों का वाञ्छनीय गुण माना जाता था।[1] पाटलिपुत्र की अशोककालीन प्रमुख घटनाओं में तृतीय बौद्ध सङ्गीति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें देश के विभिन्न भागों से बहुत से भिक्षु आये थे। इस सङ्गीति में दो महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये गये—(१) त्रिपिटकों का संशोधन तथा (२) कथावत्थु की रचना। इस समय मोगलीपुत्त तिस्स तथा उपगुप्त नामक दो आचार्य इस नगर में रहते थे। मोगलीपुत्त तिस्स तृतीय बौद्ध सङ्गीति के अध्यक्ष चुने गये थे। उपगुप्त अशोक के आध्यात्मिक आचार्य थे। इस नरेश के राज्यकाल में सभी महत्त्वपूर्ण योजनाएँ इसी नगर में बनाई गई थीं। अशोक के प्रायः सभी लेख (जो कि स्तम्भ तथा शिलालेख आदि पर उत्कीर्ण मिलते हैं) पहले यहीं तैयार किये गये थे तथा यहीं से ही सदाचार की शिक्षा देने के लिये बाहरी देशों को धर्मप्रचारक भेजे गये थे।

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा के कारण इस नगर में कुछ निर्माण भी कराया था, जिनका उल्लेख य्वान् च्वाङ्ग ने किया है। अपने आचार्य उपगुप्त की आज्ञा से उसने यहाँ पर सर्वप्रथम एक स्तूप बनवाया, जिसमें गौतम बुद्ध की अस्थियाँ

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ४५।

गाड़ी गई थीं।[1] दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्माण अशोकाराम विहार का संस्थापन था। अशोक के छोटे भाई तिस्स ने इसी विहार में दीक्षा ली थी तथा वे यहीं रहा करते थे। कतिपय साधनों के अनुसार तृतीय बौद्ध सङ्गीति इसी विहार में हुई थी। इस विहार में बहुत से भिक्षु रहा करते थे, जिन्हें अशोक प्रति दिन भोजन दिया करता था।

मौर्यों के अधःपतन के उपरान्त शुङ्गों ने पाटलिपुत्र में अपनी राजधानी स्थापित की थी। पुण्यमित्र शुङ्ग के समकालीन लेखक पतञ्जलि ने इस नगर के प्राकारों एवं प्रासादों का उल्लेख किया है।[2] शुङ्ग-काल में तक्षशिला, मथुरा तथा साकेत आदि नगरों की भाँति पाटलिपुत्र पर भी यवनों ने आक्रमण किया। युगपुराण के वर्णन से विदित होता है कि इन आक्रमणकारियों ने यहाँ के नागरिकों को बहुत अधिक पीड़ित किया, जिसके फलस्वरूप वे रक्षा के लिये व्याकुल हो उठे।[3] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि यह उपद्रव शीघ्र ही शान्त हो गया। इसका कारण यह था कि गृहयुद्ध के फलस्वरूप इन आक्रमणकारियों को नगर का घेरा छोड़ कर स्वदेश लौट जाना पड़ा।[4]

शुङ्गों के अधःपतन के उपरान्त इस नगर को कुछ काल तक राजधानी बनने का गौरव नहीं प्राप्त हुआ। इस समय शकों की विभिन्न शाखाओं ने मथुरा एवं उज्जयिनी तथा कुषाणों ने पुरुषपुर में अपनी राजधानी स्थापित की। इस राजनीतिक परिवर्तन के कारण पाटलिपुत्र की महानता पर कुठाराघात हुआ, पर प्रतिभाशाली गुप्तनरेशों के चिरस्मरणीय शासन-काल में इसके उत्कर्ष का पुनरुज्जीवन हुआ। इसका परिचय फाहियान के यात्राविवरण के द्वारा प्राप्त होता है। वह लिखता है कि यह मध्य देश का सबसे बड़ा नगर था। इसमें धनसम्पन्न नागरिक रहते थे, जो कि बहुत ही उदार एवं धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उसने विशेष

---

१. वाटर्स, २, ९१।

२. "पाटलिपुत्रकाः प्रासादाः। पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः।"
—महाभाष्य, भाग २, पृष्ठ ३२१ (कीलहार्न)।

३. "ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हि ते।
आकुलाः विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥"
—युगपुराण, पृष्ठ ३३।

४. "तेषामन्योन्यसम्भावद् भविष्यन्ति न संशयः।
आत्म-चक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम्॥"
—युगपुराण, पृष्ठ ५५।

रूप से वैश्यों की प्रशंसा की है। उसके अनुसार वैश्यों ने नगर के विभिन्न भागों में दानालयों की स्थापना की थी। इनमें दरिद्र, लूले, असहाय, निस्सन्तान, अपङ्ग, रोगी एवं विधवाओं को निःशुल्क भोजन, वस्त्र तथा प्रत्येक प्रकार की सहायता प्रदान की जाती थी। इसके नागरिक उत्सवों के बहुत बड़े प्रेमी थे।[1]

फाहियान ने एक ऐसे उत्सव का उल्लेख किया है, जिसमें प्रतिमाओं का जलूस निकाला जाता था। नगरवासी इस उत्सव को प्रति वर्ष बैसाख की अष्टमी को मनाते थे। जलूस में सबसे पहले चार पहिये का एक रथ निकलता था, जिसकी ऊँचाई लगभग बीस हाथ होती थी। इसे एक रङ्गीन रेशमी वस्त्र के द्वारा ढक दिया जाता था। इसके भीतर सोने, चाँदी तथा बहुमूल्य धातुओं की बनी हुई सुन्दर मूर्तियाँ रखी जाती थीं। रथ के ऊपर रेशम की ध्वजा, चाँदनी तथा कलँगियाँ भी लगी रहती थीं। इस प्रधान रथ के पीछे आकार एवं सजावट में एक दूसरे से विभिन्न बीस और रथ निकलते थे, जो कि अत्यधिक सुन्दर तथा भड़कीले हुआ करते थे। नियत तिथि पर आस पास के साधु, सन्यासी एवं गृहस्थ सभी एकत्र होते थे। इनके साथ नर्तकों एवं गाने बजाने वालों की एक मण्डली भी होती थी। यह जलूस नगर के विभिन्न भागों में भ्रमण करता था। इस उत्सव को मनाने में बीस रात्रियाँ बीत जाती थीं। पूरी रात नगर में दीपक जलते रहते थे। इस समय वाद्य एवं सङ्गीत के द्वारा आनन्द मनाया जाता था तथा देवताओं को पूजा की सामग्रियाँ चढ़ाई जाती थीं। फाहियान लिखता है कि मध्य देश के अन्य नगरों में भी यह प्रथा विद्यमान थी।[2]

पाटलिपुत्र में मौर्यों का राजप्रासाद अब भी वर्तमान था। दर्शक को ऐसा आभास होता था कि मानों इसका निर्माण देवों ने किया था। इसकी दीवालों एवं द्वारों में पत्थर चुनकर लगाये गये थे। इसमें जो सुन्दर नक्काशी तथा पच्चीकारी की गई थी, वह विश्व के किसी भी मानव से सम्भव नहीं थी। अशोक के द्वारा बनवाया हुआ स्तूप इस समय भी विद्यमान था। इसके बगल में एक विशाल मठ था, जिसमें महायान धर्म के अनुयायी रहते थे। यहाँ पर एक हीनयान मठ भी था। दोनो मठों में सब मिलाकर सात सौ भिक्षु निवास करते थे। वे अध्ययन में निरन्तर संलग्न रहते थे तथा संयम, नियम एवं अनुशासन का पालन पूर्ण रूप से करते थे। इन मठों में देश के विभिन्न भागों से बहुत से विद्यार्थी सन्मार्ग की खोज में आते थे। चीनी यात्री लिखता है कि इनमें से एक मठ में मञ्जुश्री नामक ब्राह्मण आचार्य

---

१. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ५९।

२. वही, पृष्ठ ६०।

रहता था। वह एक बहुत बड़ा विद्वान् तथा शुद्धाचार वाला व्यक्ति था। सभी गुणवान श्रमण उसे बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। फाहियान ने राधास्वामी नामक एक दूसरे विद्वान् का भी उल्लेख किया है। वह महायान धर्म का अनुयायी था। उसके महान् विवेक, स्पष्ट ज्ञान तथा आचरण की पवित्रता के कारण प्रायः सभी लोग उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि सम्राट् भी उसका सम्मान करता था। मुद्राराक्षस के द्वारा भी पाटलिपुत्र के विषय में आंशिक परिचय प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में इस नगर के प्राकार तथा नगर-द्वारों का उल्लेख हुआ है। जिस समय शत्रु-सेना नगर पर आक्रमण करती थी, उस समय इसकी रक्षा के लिये धनुषधारी योद्धा प्राकार के चतुर्दिक खड़े हो जाते थे। नगर-द्वार के सामने भयङ्कर हाथियों का झुण्ड खड़ा किया जाता था, जो भीतर प्रवेश चाहने वाली शत्रु-सेना को रौंद डालता था। इस ग्रन्थ में राक्षस पाटलिपुत्र की रक्षा के निमित्त इस प्रकार की व्यवस्था के लिये अपने सहयोगियों को आज्ञा देता है।[२] इसके लेखक विशाखदत्त ने इस नगर के राजभवन के सुसज्जित द्वार का भी उल्लेख किया है।[३]

गुप्त नरेशों ने पाटलिपुत्र में बौद्धिक वायुमण्डल उत्पन्न कर रखा था। समुद्र-गुप्त स्वयं एक बहुत बड़ा विद्वान् तथा विद्या का संरक्षक था। बुद्धिजीवियों की मण्डली में उसे कविराज की उपाधि मिली थी।[४] उसने बहुत से विद्वानों की नियुक्ति उच्च पदों पर की थी। उदाहरणार्थ, हरिषेण उनका महासन्धिविग्रहिक, दण्ड-नायक तथा कुमारामात्य था। दुर्भाग्यवश उसकी कोई भी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। उसके काव्य का सुन्दर परिचय देने वाली चिरस्मरणीय पंक्तियाँ अब केवल प्रयाग की प्रशस्ति में ही अवशिष्ट रह गई हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी काव्य के बहुत बड़े प्रेमी थे। कथासरित्सागर में इन्हें पाटलिपुत्र का सम्राट् बताया गया है।[५] कनाड़ी लेखों में विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त) को 'पाटलिपुत्र-पुरवर-अधीश्वर" कहा गया है।[६] इससे स्पष्ट है कि इनकी राजधानी इसी नगर में विद्यमान थी

---

१. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ५९।

२. "प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां।
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्॥"—मुद्राराक्षस, अङ्क २, १।

३. "संस्कृतं राजभवनद्वारमिति", वही, अङ्क २।

४. "विद्वज्जनोपजीव्यानेक-काव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठित-कविराज-शब्दस्य"—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २५९।

५. "विक्रमादित्य इत्यासीद् राजा पाटलिपुत्रके"—कथासरित्सागर, ६, ४, ३।

६. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ५५६।

तथा यह भारत का एक श्रेष्ठ पुर था। इनका सेनापति वीरसेन एक विद्वान् कवि था। उदयगिरि के एक गुहालेख में इसे व्याकरण, न्याय एवं लोकनीति का मर्मज्ञ तथा पाटलिपुत्र का निवासी कवि कहा गया है।[1] वामन के 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' के अनुसार चन्द्रगुप्त का चन्द्रप्रकाश नामक पुत्र विद्वानों का आश्रयदाता था :—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥"

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अभिलेखों में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम की 'गुप्तकुलामलचन्द्र' तथा 'गुप्तकुलव्योमशशी' आदि उपाधियाँ अङ्कित मिलती हैं। उनकी ये उपाधियाँ 'चन्द्रप्रकाश' नाम से पर्याप्त साम्य रखती हैं। ऐसी दशा में वामन के चन्द्रप्रकाश की एकता पाटलिपुत्र-नरेश कुमारगुप्त प्रथम के साथ निर्धारित करना अधिक समीचीन होगा। इसके द्वारा विद्वानों का संरक्षण कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी, क्योंकि यह तो वास्तव में उसके कुल में परम्परा के रूप में चला आ रहा था।

इस नगर में कुछ ऐसे भी विद्वान् रहते थे, जिनका सम्बन्ध गुप्तों के दरबार से नहीं था। यहाँ पर आर्यभट्ट का उल्लेख किया जा सकता है, जो कि ज्योतिषशास्त्र के परम धुरन्धर विद्वान् थे। उन्होंने पाटलिपुत्र में शिक्षा पाई थी तथा ज्ञानार्जन के निमित्त अपना सम्पूर्ण जीवन इसी नगर में बिताया था (आर्यभट्टस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्)। कतिपय विद्वानों के अनुसार वात्स्यायन गुप्तकाल की विभूति थे। कामसूत्र में उन्होंने जिस नगर-जीवन का चित्रण किया है, वह पाटलिपुत्र पर आधारित ज्ञात होता है जो कि इनके काल का श्रेष्ठ पुर था।[2] कतिपय अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इस नगर में बौद्धिक वायुमण्डल की परम्परा गुप्तों के पहले से ही चली आ रही थी। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं दार्शनिक अश्वघोष कुषाण-काल में पाटलिपुत्र में रहता था। कालान्तर में चीन की एक परम्परा के अनुसार कनिष्क उसे यहाँ से अपनी राजधानी पुरुषपुर में ले गया था। राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार बौद्धिक क्षेत्र में इस नगर की ख्याति इसके और पहले से सिद्ध हो जाती है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि पाटलिपुत्र में विद्वानों की एक मण्डली रहती थी, जो ग्रन्थकारों की कृतियों की

---

१. **"शब्दार्थन्यायलोकज्ञो कविः पाटलिपुत्रकः।"—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस पृष्ठ २७२।**

२. **द्रष्टव्य—मेरा लेख, प्राचीन पाटलिपुत्र, हिन्दी अनुशीलन, पृष्ठ ५७, मार्च १९५८ ई० का अङ्क।**

परीक्षा लेती थी। यहाँ के पण्डितों की सभा ने उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि तथा पतञ्जलि आदि के ग्रन्थों की परीक्षा ली थी।[1]

गुप्त-काल में पाटलिपुत्र व्यवसाय एवं वाणिज्य का एक विशिष्ट केन्द्र था। आर्थिक क्षेत्र में इसकी महत्ता का प्रधान कारण सुप्रसिद्ध व्यापार-मार्ग 'उत्तर-पथ' से इसका सम्बन्ध माना जा सकता है, जो पूर्व में ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से पश्चिम में पुष्कलावती तक जाता था। इस नगर के व्यापारियों ने सुदूर देशों के साथ वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित किया था। बोधिसत्वावदानकल्पलता में कहा गया है कि पाटलिपुत्र के व्यापारी माल के विक्रय के निमित्त विविध द्वीपों तक निकल जाया करते थे।[2] दशकुमारचरित में इस नगर के व्यापारिक वातावरण का एक सुन्दर चित्रण मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार इस नगर की बाज़ारों में बहुमूल्य वस्तुएँ विक्रय के निमित्त केन्द्रित की गई थीं। इसके लेखक दण्डी ने इस नगर के लिये 'समस्तनगरीनिकषायमाणा' एवं 'मगधदेशशेखरीभूता' आदि विशेषणों का प्रयोग कर इसे भारत का सर्वोत्तम नगर स्वीकार किया है।[3]

गुप्तों के अधःपतन के उपरान्त पाटलिपुत्र की समृद्धि बड़ी शीघ्रता के साथ क्षीण होने लगी। सातवीं शताब्दी में य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर यह नगर भग्नावशेष को प्राप्त हो चुका था। यहाँ के कुछ भवन अच्छी अवस्था में थे, अन्यथा सभी प्राचीन मठ, देवमन्दिर तथा स्तूप धराशायी हो चुके थे। कुक्कुटाराम तथा अशोकाराम की केवल नींवमात्र ही दृष्टिगोचर हो रही थी। इस नगर में रहने वाले भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों की संख्या अत्यल्प थी। जो स्तूप नष्ट होने से बच गये थे, उनका निचला भाग पृथ्वी के भीतर धंस गया था। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि इस नगर का भग्नावशेष एक विशाल क्षेत्र को घेरे हुए था, जिसकी परिधि लगभग १५ मील थी।[4]

---

१. "श्रूयते च पाटलिपुत्रे काव्यकारपरीक्षा।
अत्रोपवर्षवर्षौ इह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः॥
वररुचि-पतञ्जलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥"
—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५८।

२. "वणिजो द्वीपगामिनः"—बोधिसत्वावदानकल्पलता, ५, पल्लव ३५, पृष्ठ ५८५।

३. "अस्ति समस्तनगरी निकषायमाणा शश्वदगण्यपण्यविस्तारितमणिमणादिववस्तुजातव्याख्यातरत्नाकरमाहात्म्या मगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी।" —दशकुमारचरित, पृष्ठ १।

४. वाटर्स, २, ८७।

इस नगर के विनाश का सबसे प्रधान कारण राजनीतिक था। गुप्तों के अधःपतन के पश्चात् अनेक आनुक्रमिक राजवंशों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र के स्थान पर कान्यकुब्ज में स्थापित की थी। इस परिवर्तन के कारण इस नगर की महानता पर महान् कुठाराघात पहुँचा। इसके अधःपतन की क्रिया में आकस्मिक कारणों ने भी योग दिया था। चीनी साधनों के अनुसार इस नगर के विनाश का आकस्मिक कारण जलप्लावन था।[१] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि दीघ-निकाय में भी जलप्लावन को पाटलिपुत्र के विलय का एक दैवी कारण माना गया है।[२] इसकी पुष्टि पुरातत्त्व साक्ष्य के द्वारा भी होती है। उत्खनन-प्रमाण के आधार पर सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिङ्घम का मत है कि गङ्गा की बाढ़ के कारण यह नगर आधे मील की गहराई तक काट कर बहा दिया गया।[३]

पुरातत्त्व विभाग के द्वारा किये गये अन्वेषणों के आधार पर ज्ञात होता है कि प्राचीन पाटलिपुत्र आधुनिक पटना के समीप उस स्थान पर वर्तमान था, जहाँ कुमराहर तथा बुलन्दीबाग नामक ग्राम बसे हुए हैं। कुमराहर में डॉक्टर स्पूनर के द्वारा किये गये उत्खनन में मौर्यों के राजप्रासाद के एक विशाल कमरे (हाल) का अवशेष प्राप्त हुआ है। मिली हुई सामग्री के आधार पर डॉक्टर स्पूनर का कहना है कि यह बनावट में पारसीक सम्राटों के द्वारा निर्मित पर्सिपोलिस के विशाल कमरे (हाल) के समान था। पाटलिपुत्र एवं पर्सिपोलिस के महलों में प्रयुक्त खम्भों की लम्बाई लगभग समान थी। अशोककालीन एक स्तम्भ के कुछ भाग यहाँ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इनके द्वारा तत्कालीन वास्तुकला के ऊपर प्रकाश पड़ता है।[४] इसके अतिरिक्त मौर्य, कुषाण तथा गुप्तकालीन कुछ मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो सामयिक राजनीतिक तथा आर्थिक दशाओं पर प्रकाश डालती हैं। फाहियान के द्वारा उल्लिखित हीनयान एवं महायान मठों तथा कतिपय जैन मन्दिरों के भग्नावशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिनके द्वारा इनके सम्बन्ध में मिलने वाले साहित्यक उल्लेखों का समर्थन हो जाता है।[५]

---

१. जर्नल ऑफ़ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९२०, पृष्ठ २९।

२. "पाटलिपुत्तस खो आनन्द तयो अन्तराया भविस्सन्ति, अग्गितो वा उदकतो वा मिथुभेदा वा", दीघनिकाय, १६, १, २८।

३. जर्नल ऑफ़ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९२०, पृष्ठ ३०।

४. जर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९१५, पृष्ठ ६९।

५. आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, १९३१, पृष्ठ १०२।

नालन्दा—यह केन्द्र अपने विश्वविद्यालय के लिये विशेष रूप से प्रख्यात था। यदि हम इसे विश्वविद्यालय-नगर (यूनिवर्सिटी टाउन) की संज्ञा प्रदान करें, तो सम्भवतः इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। य्वान् च्वाङ्ग के विवरण में इसके नाम की व्युत्पत्ति के विषय में एक उल्लेख मिलता है, जो बौद्ध परम्पराओं पर आधारित है। इसके अनुसार गौतम बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में इस क्षेत्र के सम्राट् थे। स्वभाव से वे उदार, सदाशय एवं दानशील थे। उनकी ख्याति चतुर्दिक अथक दानी (न-अलम्-दा, अर्थात् दान से न सन्तुष्ट होने वाले) के रूप में प्रसिद्ध थी। इस कारण यह स्थान नालन्दा के नाम से प्रख्यात हुआ।[१] तारानाथ के अनुसार यहाँ पर गौतम बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्र का जन्म हुआ था।[२] यही कारण है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे।

नालन्दा के प्रथम उल्लेख जैन एवं बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं। मज्झिम निकाय (१, ३७७) के अनुसार यह राजगृह के पास एक छोटा सा ग्राम था। जैन ग्रन्थों में यह राजगृह के सीमान्त (बाहिर) क्षेत्र के रूप में वर्णित है। यहाँ पर महावीर ने १४ वर्षा-ऋतुएँ व्यतीत की थीं।[३] सूत्रकृताङ्ग के अनुसार इसमें कई गृहस्थ रहते थे। इनमें सबसे धनिक लेप नामक व्यक्ति था। वह अपरिमित धन का स्वामी तथा अतिथिपरायण था। बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा के कारण वह उनका शिष्य बन गया था।[४] अशोक के काल के पूर्व वहाँ पर सारिपुत्र की स्मृति में एक स्तूप बनाया गया था। अशोक ने इसके बगल में एक विहार का निर्माण किया था।[५]

फाहियान के समय तक विद्या के केन्द्र के रूप में नालन्दा की कोई ख्याति न थी। उसने अपने विवरण में यहाँ पर किसी विश्वविद्यालय के वर्तमान होने का उल्लेख नहीं किया है। उसने नालन्दा का नाम 'नाल' लिखा है। वह लिखता है कि सारिपुत्र का जन्म एवं परिनिर्वाण यहीं पर हुआ था। जिस स्थान पर सारिपुत्र की मृत्यु हुई, वहाँ एक स्तूप बना हुआ था।[६] लगता है कि फाहियान के द्वारा उल्लिखित इस स्तूप से तात्पर्य उस स्तूप से है, जो अशोक के पहले वहाँ पर निर्मित किया गया था।

---

१. मुकर्जी, एं० इं० ए०, पृष्ठ ५५८।
२. वही, पृष्ठ ५५७।
३. वही, पृ‌ष्ठ ५५७।
४. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ८१।
५ वही, पृष्ठ ५५७।
६ वही, पृष्ठ ५५७।

फाहियान के लगभग तीन शताब्दियों के अनन्तर जब य्वान् च्वाङ्ग नालन्दा आया, उस समय यहाँ पर एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का विश्वविद्यालय वर्तमान था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार इस विश्वविद्यालय की स्थापना शक्रादित्य नामक नरेश के द्वारा की गई थी।[1] शक्र शब्द इन्द्र का पर्याय है तथा मुद्रा-साक्ष्य के अनुसार महेन्द्रादित्य कुमारगुप्त प्रथम की प्रिय उपाधि थी, अतएव शक्रादित्य तथा कुमारगुप्त प्रथम की एकता सम्भाव्य है। शक्रादित्य के उपरान्त बुधगुप्त ने इस विश्वविद्यालय की कलेवर-वृद्धि में सहयोग प्रदान किया। तत्पश्चात् तथागतगुप्त, बालादित्य, वज्र तथा हर्षादि ने नालन्दा में भवन बनवाये तथा विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता प्रदान की।[2] हर्ष ने वहाँ पर पीतल का एक विहार तथा उसके चतुर्दिक् एक दीवाल बनवाया था। उन्होंने वहाँ एक सङ्घाराम का भी निर्माण किया, जिसमें ४० भिक्षुओं के दैनिक भोजन की व्यवस्था की गई थी।[3] जिस समय बालादित्य ने मठ बनवाया, उस समय नालन्दा में देश के प्रत्येक भाग से भिक्षु प्रभूत संख्या में एकत्र हुए। य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर शक्रादित्य के द्वारा निर्मित विहार जीर्णावस्था को प्राप्त हो चुका था।[4]

इन नरेशों के द्वारा निर्मित भवन कई मञ्जिलों से युक्त थे। उनमें स्थान-स्थान पर शिखर बने हुए थे। नालन्दा से प्राप्त एक ताम्रलेख के अनुसार वहाँ कई विहार एक ही पंक्ति में बने हुए थे। उनके उत्तुङ्ग शिखर गगनचुम्बी थे।[5] इत्सिङ्ग भी लिखता है कि वहाँ के भवन अपनी ऊँचाई के कारण बादलों को छूते हुए से लगते थे।[6] नालन्दा के विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा दी जाती थी। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार भारतीय राजाओं ने इस विश्वविद्यालय को दो सौ ग्राम उसकी आर्थिक सहायता के लिये प्रदान किये थे।[7]

हर्ष के उपरान्त के भी कतिपय भारतीय नरेशों ने इस विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता प्रदान की थी। पूर्णवर्मा नामक सम्राट् ने गौतम बुद्ध की एक

---

१. वाटर्स, २, १६४।
२. वही, २, १६४।
३. वही, २, १७०।
४. वही, २, १७०।
५. "यस्याम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः॥" ए० इं०, २०, ४।
६. इत्सिङ्ग, पृष्ठ १५४।
७. वाटर्स, २, १६४।

ताम्र-मूर्ति विश्वविद्यालय को दान में दिया था, जो ८० फीट ऊँची थी।[१] यशोवर्मदेव नामक सम्राट के एक मन्त्री ने नालन्दा को इतना अधिक दान दिया था, जिससे इस विद्यालय के भिक्षुओं को कई वर्षों तक प्रतिदिन भोजन दिया जा सकता था। डॉ० राधाकुमुद मुकुर्जी ने इस यशोवर्मदेव की एकता कन्नौज-सम्राट् यशोवर्म-देव (७२८ ई०-७४५ ई०) से की है।[२] बङ्गाल के पाल नरेशों ने भी नालन्दा के विश्वविद्यालय में अभिरुचि ली थी। उदाहरणार्थ देवपाल ने इसके कई अच्छे छात्रों को सम्मान प्रदान किया था। कल्याणमित्र चिन्तामणि नामक नालन्दा-छात्र ने महीपाल के राज्यकाल के छठे वर्ष में अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता की एक प्रतिलिपि इस नरेश के प्रति श्रद्धा के कारण उसे प्रस्तुत की थी। गुर्जर-प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल ने यहाँ पर एक स्तूप का निर्माण किया था।[३]

इस विश्वविद्यालय को लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् सुशोभित करते थे। य्वान् च्वाङ्ग ने अपने समकालीन नालन्दा के आचार्यों का नामोल्लेख किया है। इस समय शीलभद्र इस विश्वविद्यालय के कुलपति के पद को सुशोभित कर रहा था। यह इस चीनी यात्री का आचार्य रह चुका था।[४] दुर्भाग्यवश शीलभद्र की कोई कृतियाँ उपलब्ध नहीं है। य्वान् च्वाङ्ग ने धर्मपाल नामक आचार्य के नाम का उल्लेख किया है। वह शीलभद्र के पहले नालन्दा का कुलपति रह चुका था।[५] उसने आचार्य चन्द्रगोमिन् के व्याकरण के ऊपर संस्कृत में 'वर्ण-सूत्र-वृत्ति-नाम' नामक एक व्याकरण-टीका लिखी थी। उसने संस्कृत में चार ग्रन्थ लिखे थे, जिनका तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया था, उदाहरणार्थ-(१) आलम्बन-प्रत्यय-ध्यान-शास्त्रव्याख्या, (२) विद्यामात्र-सिद्धि-शास्त्र-व्याख्या, (३) शतशास्त्र-वैपुल्य-व्याख्या तथा (४) बलि-तत्त्व-संग्रह।[६]

य्वान् च्वाङ्ग ने नालन्दा के कतिपय अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है, उदाहरणार्थ चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र तथा ज्ञानचन्द्र। चन्द्रपाल बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रवर्तन के लिये विख्यात था।[७] स्थिरमति अपनी

---

१. वाटर्स, २, १७४।
२. मुकर्जी, एँ० इं० ए० पृष्ठ ५६२।
३. मुकर्जी, वही, पृष्ठ ५६३।
४. वाटर्स २, १६५।
५. वही, २, १६५।
६. मुकर्जी, एँ० इं० ए०, पृष्ठ ५७६।
७. वाटर्स, २, १६५।

यशस्विता के लिये प्रसिद्ध था।[1] उसने संस्कृत तथा बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया तथा तिब्बत में उनका प्रचार भी किया।[2] प्रभामित्र अपनी बुद्धि-कुशाग्रता के लिये विख्यात था।[3] जिनमित्र वादविवाद में पटु था।[4] य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि नालन्दा के आचार्य न केवल अपने अध्यापन-कार्य के लिये विख्यात थे, अपितु नाना ग्रन्थों की रचना के कारण उनकी कीर्ति सर्वव्यापिनी थी। नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वानों के नाम नवागन्तुकों तथा अभ्यागतों की सूचना के निमित्त विश्व-विद्यालय के प्रधान द्वार पर उत्कीर्ण किये गये थे।[5]

इस विश्वविद्यालय में रुक कर य्वान् च्वाङ्ग ने पर्याप्त अध्ययन किया था। परिणामतः उसकी गणना महायान शाखा के विशेष विद्वानों में होने लगी। 'जीवनी' के अनुसार एक बार उड़ीसा के हीनयान मतावलम्बियों ने हर्ष के सामने इस बात पर अपना खेद प्रगट किया कि उसने नालन्दा को (जहाँ विशेषतः महायान मतावलम्बी रहते थे) व्यर्थ ही प्रभूत दान दिया था। इस पर हर्ष ने उनके हृदय में महायान मत के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये नालन्दा से चार विद्वानों को बुलाया, जिनमें य्वान् च्वाङ्ग भी एक था। शेष तीन सागरमति, प्रज्ञारश्मि तथा सिंहरश्मि थे।[6] य्वान् च्वाङ्ग की विद्वत्ता की प्रशंसा को सुनकर कामरूप-नरेश भास्करवर्मा ने उसे अपने दरबार में आमन्त्रित किया था।[7]

नालन्दा-विश्वविद्यालय के कतिपय आचार्यों ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इनमें प्रभामित्र, शुभाकरसिंह तथा धर्मदेव विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्रभाकर मित्र ६२६ ई० में चीन गया था। उसके निवास की सुविधा के निमित्त चीन-सम्राट् ने एक मठ का निर्माण कराया था। वह प्रभाकरमित्र की प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित था। उसके द्वारा चीनी भाषा में अनूदित कतिपय बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।[8] शुभाकर सिंह आठवीं शताब्दी में चीन गया था। उसने वहाँ पर कतिपय भारतीय ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया। धर्मदेव

---

१. वाटर्स, २, १६५।
२. मुकर्जी, एं० इं० ए०, पृष्ठ ५७७।
३. वाटर्स, २, १६४।
४. वही, २, १६५।
५. वही, २, १६५।
६. जीवनी, पृष्ठ १६०।
७. वही, पृष्ठ १७०।
८. बागची, इण्डिया ऐण्ड चाइना, पृष्ठ ५०।

दसवीं शताब्दी में चीन गया था। उसने लोकप्रिय महायान ग्रन्थ 'सुखावतीव्यूह' का चीनी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया।[1]

य्वान् च्वाङ्ग के वर्णन से लगता है कि इस विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना दुष्कर कार्य था। वह लिखता है कि इसकी चहारदीवारी के प्रधान द्वारों के समक्ष पण्डितों की नियुक्ति की गई थी। उन्हें द्वार-पण्डित कहा जाता था। वे विविध विषयों के विशेषज्ञ हुआ करते थे। प्रवेश चाहने वाले विद्यार्थियों की योग्यता तथा प्रतिभा की परीक्षा लेने के लिये वे दार्शनिक विषयों तथा जटिल समस्याओं पर कड़े प्रश्न पूछते थे। समुचित उत्तर देने के उपरान्त ही उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश की आज्ञा मिलती थी। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि बीस प्रतिशत विद्यार्थी बड़ी कठिनता के साथ प्रवेश-परीक्षा में सफलीभूत हो पाते थे।[2] अधिकांश छात्र अनुत्तीर्ण होने के कारण निराश होकर लौट जाते थे।[3] चीनी यात्री के वर्णन से लगता है कि नालन्दा में लोग केवल उच्च अध्ययन के लिये आते थे।

यद्यपि प्रवेश-परीक्षा कड़ी थी, तथापि यहाँ छात्रों की कोई कमी नहीं थी। य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के समय यहाँ पर दस हजार छात्र विद्योपार्जन कर रहे थे।[4] यहाँ के आचार्य तथा विद्यार्थी अपने नियमों तथा सिद्धान्तों के पालन के लिये प्रसिद्ध थे। चीन, कोरिया तथा तिब्बत के विद्यार्थी यहाँ पर पढ़ने के लिये आते थे। नालन्दा पहुँचने के लिये उन्हें मरुस्थलों, पर्वतों तथा जङ्गलों को पार करने में नाना कष्टों का सामना करना पड़ता था।[5] वे बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियों को प्रस्तुत करने तथा ज्ञानोपार्जन की क्रिया में निरन्तर संलग्न रहते थे।[6] ये विद्यार्थी स्वदेश जाकर नालन्दा की ख्याति को प्रसरित करते थे। विदेशी छात्रों की सुविधा की वहाँ पर पर्याप्त व्यवस्था थी। य्वान् च्वाङ्ग की सेवा के लिये दो व्यक्ति नियुक्त किये गये थे।[7] इस विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय यश से प्रभावित होने के कारण जावा द्वीप के शासक बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक विहार बनवाया

---

१. मुकर्जी, ऐं० इ० ए०, पृष्ठ ५७८।

२. वाटर्स, २, १६५। ३. वही, २, १६५।

४. वही, २, १६५। ५. वही, २, १२।

६. इत्सिङ्ग, पृष्ठ १७७। ७. वाटर्स, २, १६५।

* "नालन्दगुणलुब्धमनसा भक्त्या च शौद्धोधने।
नानाभिक्षुसङ्घवसतिर्तस्यां विहारः कृतः॥
सुवर्णद्वीपाधिपमहाराजश्रीबालपुत्रदेवेन वयं विज्ञापिताः।
यथा मया श्रीनालन्दायां विहारः कृतः:॥" ए० इं०. २७, ३१०

तथा अपने मित्र बङ्गाल के पाल-नरेश देवपाल से उसकी सहायता के लिये पाँच ग्राम दान में दिलवाया।[1]

इत्सिङ्ग ने अपने विवरण में नालन्दा के कुछ विदेशी छात्रों के नाम गिनाये हैं, उदाहरणार्थ—**ताओ हि, हुई यिह, हुयेन चाओ, वू किङ्ग, हुइ ताओ, ताओ शिङ्ग, तङ्ग** तथा **ताओ लिन**। ताओहि महायान मतावलम्बी था। उसका संस्कृत नाम श्रीदेव था। उसने नालन्दा के विश्वविद्यालय को कई चीनी ग्रन्थों को समर्पित किया था। वह इत्सिङ्ग के नालन्दा आने के पहले वहाँ से वापस लौट गया था। जिस कमरे में वह रहता था, उसका उल्लेख इत्सिङ्ग ने किया है।[2] हुइ यिह कोरिया का निवासी था। वह नालन्दा में काफी दिनों तक था और उसकी मृत्यु वहीं पर हुई। उसने अपने हाथ के लिखे हुए कुछ ग्रन्थों को नालन्दा के विश्वविद्यालय को समर्पित किया था। इत्सिङ्ग के अनुसार इन पुस्तकों के आवरण-पृष्ठ पर हुइ यिह का नाम लिखा हुआ था।[3] हुयेन चाओ चीन से तिब्बत होता हुआ नालन्दा आया था। उसने यहाँ बौद्ध दर्शन का पर्याप्त अध्ययन किया। चीन लौटने पर वहाँ के सम्राट् ने उसका सम्मान किया। उसने चीन-सम्राट् को अपनी भारतीय यात्रा के रोचक विवरण से पर्याप्त रूप में प्रभावित किया।[4] वूकिङ्ग ने नालन्दा में योगशास्त्र का अध्ययन किया। उसकी मृत्यु वहीं पर हुई।[5] हुइ ताओ कुअङ्गचाऊ का भिक्षु था। उसने नालन्दा में दस वर्षों तक बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया।[6] ताओ शिङ्ग भारतवर्ष ६४९ ई० में आया था। उसका संस्कृत नाम चन्द्रदेव था।[7] तङ्ग महायान मतावलम्बी था। वह समुद्र-मार्ग से भारतवर्ष आया था। सर्वप्रथम ताम्रलिप्ति में रुक कर उसने संस्कृत का अध्ययन किया। तदुपरान्त उसने नालन्दा में विद्योपार्जन किया।[8] ताओ लिन का भारतीय नाम शीलपुत्र था। उसने नालन्दा में 'कोष' का अध्ययन किया।[9]

---

१. पिछले पृष्ठ की पुष्पाङ्कित पादटिप्पणी।
२. मुकर्जी, ऐं० इं० ए०, पृष्ठ ५७९।
३. वही, पृष्ठ ५८०।
४. बागची, इण्डिया ऐण्ड चाइना, पृष्ठ ७६।
५. मुकर्जी, ऐं० इं० ए०, पृष्ठ ५८०।
६. वही, पृष्ठ ५८०।
७. वही, पृष्ठ ५८०।
८. वही, पृष्ठ ६८०।
९. वही, पृष्ठ ५८०।

इस विश्वविद्यालय में विमर्श तथा वादविवाद के द्वारा पठनपाठन होता था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार इसके विद्यार्थी अध्ययन में इतने संलग्न रहते थे कि उन्हें दिन छोटा लगता था।[१] नालन्दा में पाठ्यक्रम उच्च श्रेणी का था। इस विश्वविद्यालय में न केवल बौद्ध धर्म की शिक्षा दी जाती थी, प्रत्युत ब्राह्मण ग्रन्थों का पठन-पाठन निरन्तर होतां था।[२] वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साशास्त्र, योगशास्त्र, न्याय, कोष, विभाषा तथा अर्थविद्या की इसमें शिक्षा दी जाती थी।[३] य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि नालन्दा में सभी महायान तथा अठारह शाखाओं से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। इसके अतिरिक्त वे हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, अथर्ववेद, सांख्य तथा विविध विषयों का प्रगाढ़ अध्ययन करते थे।[४] य्वान् च्वाङ्ग ने वहाँ पर सबसे पहले शीलभद्र से योगशास्त्र का अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने न्याय, हेतुविद्या, शब्दविद्या तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी का अनुशीलन किया।[५] इन विषयों के अध्ययन के लिये बाहर से जो विद्यार्थी आते थे, वे नालन्दा के प्रवीण विद्वानों से अपनी शङ्काओं का समाधान कराते थे।[६]

शिक्षा-कार्य की सरलता के लिये नालन्दा में एक वृहत् पुस्तकालय भी था, जिसमें सम्पूर्ण शास्त्रों के ग्रन्थ एकत्र थे। इन ग्रन्थों की प्रतिलिपि प्रस्तुत करने के लिए चीनी विद्यार्थी नालन्दा में रुकते थे। इत्सिङ्ग ने नालन्दा में चार सौ पुस्तकों का प्रतिलेख प्रस्तुत किया था।[७] वह यहाँ पर दस वर्षों तक रुका हुआ था। पुस्तकालय एक पृथक् भाग में बना हुआ था, जिसे धर्मगंज (धर्म की बाज़ार) कहते थे। इसमें तीन विशाल भवन बने हुए थे—(१) रत्नसागर, (२) रत्नोदधि तथा (३) रत्नरञ्जक। रत्नसागर ९ मञ्जिलों से युक्त था। इसमें अनमोल पुस्तकें रखी हुई थीं, उदाहरणार्थ प्रज्ञापारमितासूत्र तथा तान्त्रिक ग्रन्थ समाजगुह्य।[८]

छात्रों की सुविधा की यहाँ पर्याप्त व्यवस्था थी। प्रत्येक विद्यार्थी के रहने का स्थान नियत था। वहाँ वे अनुशासित एवं संयमित जीवन व्यतीत करते थे।

---

१. जीवनी, पृष्ठ १२१।
२. अल्टेकर, ए० इ० एँ० इं०, पृष्ठ १२३।
३. वही, पृष्ठ १२३।
४. जीवनी, पृष्ठ १२१।
५. वही, पृष्ठ १२१।
६. वाटर्स, २, १५४।
७. अल्टेकर, ए० इ० एँ० इं०, पृष्ठ १२३।
८. मुकर्जी, एँ० इं० ए०, पृष्ठ ५७४।

उन्हें समय से स्नान एवं भोजन करना पड़ता था। इत्सिङ्ग ने नालन्दा में स्नान-दृश्य का मनोरम वर्णन किया है। वह लिखता है कि 'नालन्दा-विहार' के पास दस सरोवर बने हुए हैं। पुजारियों को स्नान-समय की सूचना देने के निमित्त प्रत्येक प्रातःकाल घण्टा बजता है। हर व्यक्ति अपने साथ स्नान के लिये एक चादर ले आता था। कभी कभी एक ही साथ हज़ार के लगभग विद्यार्थी विहार से निकलते थे तथा विभिन्न सरोवरों की ओर निकल जाते थे। वे सभी घर्षण स्नान करते थे।[१] आचार-सङ्गठन के नियम कड़े थे तथा इन्हें भङ्ग करने पर कठोर सजाएँ दी जाती थीं।[२]

विश्वविद्यालय के प्राङ्गण में सुन्दर मूर्तियाँ रखी हुई थीं। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि वहाँ पर गौतम बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर, हारिती तथा तारा की प्रतिमाएँ विद्यमान थीं।[३] इत्सिङ्ग ने वहाँ गौतम बुद्ध तथा हारिती की प्रतिमाओं को देखा था।[४] नालन्दा के उत्खनन में कांस्य, ताम्र एवं प्रस्तरनिर्मित पुरुष एवं स्त्री-देवप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। गौतम बुद्ध की मूर्तियों में सबसे प्रसिद्ध एक कांस्यनिर्मित मूर्ति है। इसमें बुद्ध खड़ी हुई मुद्रा में प्रदर्शित किये गये हैं। उनकी एक दूसरी प्रसिद्ध मूर्ति प्रस्तरनिर्मित है। इसमें वे आसीन अवस्था में दिखाये गये हैं। बोधिसत्व-प्रतिमाओं में मैत्रेय, मञ्जुश्री तथा अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। स्त्री-मूर्तियों में हारिति तथा तारा की प्रतिमाएँ प्रसिद्ध हैं। तारा की सबसे सुन्दर मूर्ति कांस्य-निर्मित है। वह अठारह भुजाओं से युक्त, अलङ्कार-सम्पन्न तथा प्रभामण्डल से परिवेष्टित दिखाई गई है। तन्त्रयान के प्रभाव के कारण यहाँ पर कतिपय नवीन मूर्तियाँ स्थापित की गईं। इनमें से कुछ के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, यथा—(१) त्रैलोक्यविजय—यह देव, महेश्वर एवं गौरी का मर्दन करता हुआ दिखाया गया है, (२) हेरुक—यह मुण्डमाल धारण किये हुए प्रदर्शित किया गया है, (३) जम्मल—यह धन का बौद्ध देवता है तथा (४) मारीची—यह त्रिभुज एवं अष्टभुज से युक्त है।[५] विद्वानों का अनुमान है कि दक्षिण-पूर्व एशिया की महायान बौद्धकला नालन्दा-कला से प्रभावित थी।[६]

राजगृह—महाभारत एवं रामायण में इस नगर का द्वितीय नाम गिरिव्रज

---

१. इत्सिङ्ग, १०९

२. वही, ६३।

३. वाटर्स, २, १७४।

४. इत्सिङ्ग, ३७।

५. मुकर्जी, एँ० इं० ए०, पृष्ठ ५८६।

६. वही, पृष्ठ ५८५।

आता है। महाभारत में इसे पाँच पहाड़ियों से परिवेष्टित बताया गया है—(१) **वैराह**, (२) **वाराह**, (३) **वृषभ**, (४) **ऋषिगिरि** तथा (५) **चैत्रगिरि**।[१] फाहियान ने भी लिखा है कि यह नगर पाँच पर्वतमालाओं के द्वारा सुरक्षित था।[२] य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार भी इसके चतुर्दिक फैली हुई पर्वत-शृंखलाएँ प्राकार के उद्देश्य को पूर्ण करती थीं।[३] कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा महाभारत में छह प्रकार के पुरों के उल्लेख मिलते हैं—**धन्वदुर्ग**, **महीदुर्ग**, **गिरिदुर्ग**, **मनुष्यदुर्ग**, **मृद्दुर्ग**, तथा **वनदुर्ग**।[४] गिरिव्रज को हम गिरिदुर्ग का उदाहरण मान सकते हैं। य्वान् च्वाङ्ग ने इसे गिरिनगर (माउण्टेन सिटी) कहा है।[५] रामायण के अनुसार गिरिव्रज के संस्थापक वसु नामक राजा थे।[६]

मगध की सबसे पहली राजधानी राजगृह में वर्तमान थी। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि यह पुरी मगध की प्राचीन राजधानी थी तथा ऊँचे पर्वतशृङ्ग इसके बहिर्प्राकार थे।[७] गौतम बुद्ध के समय में राजगृह भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध नगर था। पालिग्रन्थों में इसका मनोरम विवरण मिलता है। इनके अनुसार इस नगर की परिधि तीन मील के लगभग थी।[८] पालिसाहित्य में इस नगर को **चम्पा**, **श्रावस्ती**, **साकेत**, **कौशाम्बी** तथा **वाराणसी** आदि प्रसिद्ध नगरों की समकक्षता में

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५४, पंक्ति १२०।

२. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ४९।

३. वाटर्स, २, १५३।

४. "कथं विधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामहः॥
षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।
सर्वसम्पत्प्रधानं च बाहुल्यं चाभिसम्भवेत्॥
धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट्॥"
—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८७, ३-५।

५. वाटर्स, २, १५३।

६. "अमूर्तरजसो नाम धर्मारण्यं महामतिः।
चक्रे पुरवरं राजा वसुर्नाम गिरिव्रजम्॥"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३२, ७।

७. वाटर्स, २, १४८।

८. रिज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३७।

ठहराया गया है। इसका सौन्दर्य नाना उपवनों तथा उद्यानों के कारण बढ़ गया था। इसमें बेलुवन नामक एक प्रसिद्ध उद्यान था, जिसे मगध-समाट् बिम्बिसार ने भिक्षुसङ्घ को दान में दिया था। नगर में अनेक जलाशय भी थे, जो नगर की शोभा के प्राण थे।[1]

इस नगर का सुन्दर वर्णन अश्वघोष-कृत 'बुद्धचरित' में मिलता है। यह नगर पर्वतों के द्वारा सुरक्षित (शैलैः सुगुप्तं), रमणीक (विभूषितं) तथा तपोधनों के चरण-रज से पवित्र (पूतं च शिवैस्तपोदैः) था। गौतम बुद्ध यहाँ के नागरिकों में प्रिय थे। बुद्धचरित में एक स्थान पर राजगृह के नागरिकों के द्वारा गौतम बुद्ध के स्वागत का मनोरम विवरण उपलब्ध होता है। इसके अनुसार इस अवसर पर कुछ हाथ जोड़ कर उनकी वन्दना करने लगे तथा कुछ ने श्रद्धाभाव से अवनत होकर उनके समक्ष अपने सिर को झुका दिया। लोगों ने स्निग्ध वचन के द्वारा उनका सम्मान किया। जो पुरवासी राजमार्गों के दोनों ओर खड़े थे उन्होंने मानपूर्वक अपनी श्रद्धा व्यक्त की।[2]

राजनीतिक केन्द्र होने के अतिरिक्त राजगृह भारत का एक सुप्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र भी माना जाता था। धार्मिक क्षेत्र में इसकी ख्याति महाभारत-काल से चली आ रही थी। महाभारत में कहा गया है कि राजगृह में नाग-पूजा होती थी। वहाँ पर मणिनाग तथा स्वस्तिकनाग नामक दो पन्नगों के मन्दिर बने हुए थे।[3] राजगृह की पहाड़ियों को सिद्धों, यतियों तथा मुनियों का शरण भी बताया गया है।[4] इस

---

१. वही, पृष्ठ ३७।

२. "स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्तौ हव्यमन्त्राधिकृतौ विहाय।
उत्तीर्य गङ्गां प्रचलतरङ्गां श्रीमद्गृहं राजगृहं जगाम ॥१॥
तं प्रेक्ष्य योन्येन ययौ स तस्थौ यश्चात्र तस्थौ पथिसोऽन्वगच्छत्।
द्रुतं ययौ यः सदयं सधीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात् ॥५॥
कश्चित्तमानर्च यः जनः कराभ्यांसत्कृत्यकश्चित्शिरसा ववन्दे।
स्निग्धेन कश्चिदवचसाम्यनन्दन्नैव जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥६॥"
—बुद्धचरित, अध्याय १०।

३. "अर्वुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोतमः ॥"
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय २१, ९।

४. "एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धसमालयाः।
यतीनामाश्रमश्चैव मुनीनां च महात्मनाम् ॥

नगर का बौद्ध धर्म से भी विशेष सम्बन्ध था। गौतम बुद्ध को यह नगर अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने राजगृह में कई बार आकर वहाँ धार्मिक उपदेश दिये, जिससे प्रभावित होकर अधिकांश व्यक्ति बौद्ध सङ्घ के सदस्य बन गये थे। कहा जाता है कि इस कारण यहाँ के नागरिक गौतम पर अनेक परिवारों के नष्ट होने का आरोप लगाने लगे।[1] बौद्ध धर्म से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण ही राजगृह में बौद्धों की प्रथम सभा हुई, जिसमें उनके अनेक शिष्य एवं अनुयायी देश के सुदूर भागों से पधारे थे।

वाणिज्य के क्षेत्र में भी यह नगर प्रसिद्ध था। तत्कालीन अनेक व्यापारिक मार्ग राजगृह से होकर जाते थे। श्रावस्ती, कपिलवस्तु तथा कुशीनगर से इसका वाणिज्य-सम्बन्ध था। नागरिक सामूहिक जीवन के अत्यन्त प्रेमी थे। त्यौहार तथा समारोह के अवसरों पर वे एकत्र होते थे। पालिग्रन्थों में गिरग्गसमाज नामक एक ऐसे उत्सव का उल्लेख मिलता है, जिसका राजगृह में अत्यधिक प्रचार था।[2] कालान्तर में राजगृह का अधःपतन होने लगा। इसका कारण पाटलिपुत्र नगर का निर्माण था। मगध के नरेशों ने राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र में राजधानी स्थापित की और इसके विकास के लिये अनवरत प्रयास किया। फलस्वरूप राजगृह की राजनीतिक महत्ता नष्ट हो गई। फाहियान के आगमन के समय यह नगर उजड़ चुका था। उसके यात्राविवरण में राजगृह निर्जन तथा विविक्त स्थान के रूप में वर्णित है।[3]

सातवीं शताब्दी में य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर इसके भग्नावशेषों के बीच यत्र-तत्र विहार आदि दृष्टिगोचर हो रहे थे। इसके अतिरिक्त वहाँ पर कोई बस्ती नहीं थी।[4] उसने राजगृह का एक दूसरा प्रचलित नाम 'कुशाग्रपुर' (कु-शे-क-लो-पु-लो' अर्थात् श्रेष्ठ कुशों वाला नगर) कहा है। वहाँ पर उत्तम कोटि की कुश घास उत्पन्न होती थी, अतएव इसका यह नाम पड़ा।[5] य्वान् च्वाङ्ग

वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽलयाः॥"

—वही, सभापर्व, अध्याय २१, १२-१४।

१. मललसेकर, २, ७२२-२४।
२. वही, २, ७२३।
३. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ८०।
४. वाटर्स, २, ८६।
५. वही, २, ८७।

ने राजगृह के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थानों का वर्णन किया है। वह लिखता है कि राजगृह के उत्तरी द्वार के बाहर समीप ही एक स्तूप बना हुआ था। देवदत्त एवं अजातशत्रु ने मिल कर मदोन्मत्त एवं भयङ्कर धनपाल नामक एक गज को गौतम बुद्ध को मारने के निमित्त इस स्थान पर भेजा था। पर सामने आने पर उनके व्यक्तित्व से वह हाथी विनम्र हो गया तथा वापस लौट गया। इस घटना को चिरस्मरणीय बनाने के लिये इस स्तूप का निर्माण किया गया था।[१] इस कथन का उल्लेख पालिग्रन्थों एवं फाहियान के विवरण में भी मिलता है।

इस स्तूप के उत्तर-पूर्व में एक और स्तूप बना हुआ था। वहाँ पर सारिपुत्र अश्वजित नामक भिक्षु से बौद्ध धर्म की प्रशंसा को सुन कर अर्हत् हो गया था। इसके समीप ही वह स्थान था, जहाँ पर श्रीगुप्त ने गौतम बुद्ध को मारने के लिये गड्ढा बनवा रखा था। इसमें अग्नि प्रज्वलित की गई थी। श्रीगुप्त इस योजना में असफल सिद्ध हुआ। तदनन्तर उसने बुद्ध को धोखे से इस स्थान पर भोजन में विष दिया था। इस जगह को 'श्रीगुप्त का अग्नि-गर्त' कहा जाता था। वहाँ पर एक स्तूप का निर्माण किया गया था। इसके उत्तर-पूर्व में एक स्थान पर बिम्बिसार के अवैध पुत्र जीवक ने (जो अपने समय का सबसे बड़ा चिकित्सक माना जाता था) गौतम बुद्ध के लिये एक भवन का निर्माण कराया था। राजगृह आने पर बुद्ध इसमें कई बार विश्राम कर चुके थे। य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के समय यह भग्नावशेष को प्राप्त हो चुका था। इसके समीप जीवक का व्यक्तिगत निवासस्थान बना हुआ था।[२]

राजगृह से उत्तर-पूर्व तीन मील की दूरी पर 'गृधकूट-पर्वत-शृङ्ग' (वल्चर-पीक-माउण्टेन) स्थित था। इस चोटी का शीर्षस्थान एक चबूतरे के आकार का था। गौतम बुद्ध को यह स्थान अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने यहाँ पर कई बार उपदेश दिया था। बिम्बिसार ने बुद्ध की सुविधा के निमित्त धरातल से चोटी तक एक सड़क बनवा दी थी।[३] पालिसाहित्य में 'गृधकूट' को 'गिज्झकूट' कहा गया है। कनिङ्घम ने इसकी पहचान आधुनिक शैलगिरि से की है।[४] य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि राजगृह के उत्तरी द्वार के पश्चिम में पि-पु-लो (विपुल) नामक एक पर्वत-

---

१. वाटर्स, २, १४७।

२. वही, २, १५०।

३. वही, २, १५१।

४. ऐंशेण्ट ज्याग्रफी (कनिङ्घम), पृष्ठ ४६६।

शृङ्ग था। विपुल शृङ्ग का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है।[१] ग्वान् च्वाङ्ग के अनुसार इस गिरि-चोटी पर गरम पानी के कई झरने थे। इनका जल स्वच्छ एवं स्वादिष्ट था। चर्म-रोग तथा पुराने रोगों से अच्छा होने के निमित्त सुदूर भागों के लोग इनमें स्नान करने के लिये आते थे।[२]

गरम झरनों के पश्चिम में पिप्पल (पि-पो-लो) नामक एक गुफा थी। इसमें गौतम बुद्ध ठहरा करते थे। ग्वान् च्वाङ्ग के अनुसार विपुल नामक पर्वत-शृङ्ग के ऊपर एक स्तूप था। वहाँ पर बुद्ध ने एक बार उपदेश दिया था।[२] ग्वान् च्वाङ्ग के काल में वहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग कठोर तपश्चर्या कर रहे थे। वे सूर्य की ओर उदय-काल से लेकर अस्त-काल तक निरन्तर देखते रहते थे।[३] चीनी यात्री लिखता है कि राजगृह के उत्तरी द्वार की बाईं ओर लगभग आधे मील की दूरी पर एक गुफा थी, जहाँ देवदत्त ने समाधि ली थी। इसके समीप एक रक्तरञ्जित चट्टान थी। परम्परा के अनुसार किसी भिक्षु ने अर्हत् पद पाने के निमित्त यहाँ आत्महत्या कर ली थी।[४] इस नगर के उत्तरी द्वार के समीप एक उद्यान भी था। इसका स्वामी राजगृह का कलद नामक धनिक नागरिक था। गौतम बुद्ध के प्रति भक्ति के कारण उसने इस उपवन को उन्हें दान कर दिया था। उसने उनके निवास की सुविधा के निमित्त इस उद्यान में एक भवन बनवाया था।[५]

उपवन के पूर्व में अजातशत्रु-निर्मित एक स्तूप था। इसमें उसके भाग की गौतम बुद्ध की अस्थियाँ वर्तमान थीं।[६] उद्यान के दक्षिण-पश्चिम की ओर एक मील की दूरी पर एक बड़ी गुफा बनी हुई थी। गौतम बुद्ध के पश्चात् इसमें ९९९ बड़े अर्हतों की एक सभा हुई। इसका सभापति महाकाश्यप था। इसमें त्रिपिटकों का संग्रह किया गया। इस संग्रह को 'सभापति-संग्रह' कहा गया। इसके पाँच मील पश्चिम की ओर अशोक के द्वारा निर्मित एक स्तूप था। वहाँ पर पहले उन भिक्षुओं की एक बृहत सभा हुई, जिन्हें महाकाश्यप की सभा में बैठने के लिये स्थान नहीं मिला था। इन्होंने पाँच भागों में सूत्र-संग्रह किया, जिसे 'बड़ी सभा का संग्रह' कहा गया।[७] कलद के उपर्युक्त उद्यान के उत्तर की ओर २०० पद की दूरी पर एक

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५४, पंक्ति १२०।
२. वाटर्स, २, १५४। ३. वही, २, १५४।
४. वही, २, १५५।
५. वही, २, १५६।
६. वही, २, १५८।
७. वही, २, १६०।

सरोवर था। इसका भी निर्माण कलन्द ने कराया था और इसलिए कलन्द-सरोवर के नाम से यह प्रख्यात हुआ। इसके समीप ही अशोक का एक स्तूप तथा पत्थर का लगभग पचास फीट ऊँचा एक स्तम्भ था। इसके शीर्ष-स्थान पर एक गज-प्रतिमा बनी हुई थी। यह स्तम्भ लेखयुक्त था।[1]

गया—प्रयाग के समान गया भी मूलतः धर्म का केन्द्र माना जाता था। महाभारत में इसका वर्णन एक धार्मिक केन्द्र के रूप में किया गया है।[2] इस नगर के धार्मिक जीवन का सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण अङ्ग श्राद्धदान था। लोगों का विश्वास था कि गया में श्राद्ध के द्वारा पापी व्यक्ति ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय, गुरुभार्यागमन तथा अनेक कठोर अपराधों से मुक्त हो जाता है।[3] राजतरङ्गिणी के वर्णन से लगता है कि गया में यात्रियों को श्राद्धशुल्क देना पड़ता था। इस ग्रन्थ से सूचना मिलती है कि हर्ष नामक काश्मीर के शासक ने वहाँ के यात्रियों को गया में श्राद्ध-शुल्क से मुक्त किया था।[4] अभिमन्यु नामक एक दूसरे काश्मीर के शासक ने पुण्यार्जन के निमित्त वहाँ के निवासियों को गया में श्राद्धशुल्क से मुक्त कराया था।[5] गया की धार्मिक महत्ता का वर्णन पद्मपुराण में किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार गयावास के कारण व्यक्ति को अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है।[6] कूर्म

---

१. वाटर्स, २, १६२।

२. महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८२, श्लोक ८१-९२।

३. "ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
पापं तत्सङ्गजं सर्वं गयाश्राद्धाद्विनश्यति॥
असंस्कृता मृता ये च पशुचोरहताश्च ये।
सर्पद्रष्टा गयाश्राद्धान्मुक्ताः स्वर्गं व्रजन्ति ते॥"
—गरुड़पुराण, अध्याय ८१, श्लोक १७-१८।

४. "हत्वा गयायां सामन्तमेकमन्यत् निवेश्य च।
काश्मीरकाणां चक्रे स श्राद्धशुल्कनिवारणम्॥"
—राजतरङ्गिणी, सर्ग ७, श्लोक १००८।

५. "काश्मीरकाणां यः श्राद्धशुल्कोच्छेता गयान्तरे"।
—वही, सर्ग ६, पंक्ति ५०८।

६. "ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमाप्नोति गमनादेव भारत॥"
—पद्मपुराण, अध्याय ३८, श्लोक २।

पुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति गया में पिण्ड देता है, उसके पितरों को सद्गति मिलती है।[1]

यह नगर बौद्ध धर्म का भी एक विशिष्ट केन्द्र माना जाता था। चीनी यात्री फाहियान बौद्ध तीर्थों का पर्यटन करता हुआ यहाँ आया था। वह लिखता है कि उस समय यह नगर उजड़ चुका था। उसके विवरण में इसके पार्श्ववर्ती विभिन्न स्थानों के उल्लेख मिलते हैं जो गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित थे। इस नगर से २० ली (३½ मील) की दूरी पर वह स्थान पड़ता था जहाँ उन्होंने छह अनवरत वर्षों तक कठोर तपश्चर्या की थी। इससे पश्चिम की ओर तीन ली (आधे मील) की दूरी पर एक तालाब था जहाँ गौतम बुद्ध ने स्नान किया था। इससे दो ली (लगभग आधे मील) उत्तर वह स्थान था जहाँ पर ग्रामकन्याओं ने दूध में पकी खीर उन्हें खाने को दी थी। इसी के समीप एक छायेदार वृक्ष के नीचे एक चट्टान थी जिस पर पूर्व की ओर मुँह कर उन्होंने वह खीर खाई थी।[2] जिस स्थान पर गौतम बुद्ध को सम्बोधि प्राप्त हुई थी वहाँ फाहियान के अनुसार तीन मठ बने हुए थे। इनमें भिक्षु रहते थे जिनके आचार-सम्बन्धी नियम काफी कड़े थे। उनकी जीवन-विधि आदर्श थी। निकटवर्ती ग्रामों के लोग उन्हें भोजन, वस्त्र, लकड़ी तथा दूध पहुँचाते थे जिससे उनके दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी।[3]

य्वान् च्वाङ्ग निरञ्जना नदी को पार कर गया आया था। उसके अनुसार इसकी भौगोलिक स्थिति अच्छी थी पर इसके नागरिकों की संख्या अत्यल्प थी। इसका नाम एक महान् ऋषि के नाम (गय) के आधार पर पड़ा था।[4] इनके वंशज एक हजार ब्राह्मण-परिवार इस नगर में रहते थे। समाज में ये बड़े ही आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। इसके तीस ली (छह मील) उत्तर एक झरना था जिसका जल स्वच्छ तथा शुद्ध माना जाता था। नगर के दक्षिण-पश्चिम छह ली (लगभग एक मील) की दूरी पर एक पहाड़ था जिसे भारतवर्ष के लोग धर्म-गिरि (स्पिरि-चुअल माउण्टेन) कहते थे। धर्म-लाभ के निमित्त वहाँ पर शासक-वर्ग भी सदा से आता था। इसकी चोटी पर सौ फीट ऊँचा पत्थर का एक स्तूप था जहाँ पर

---

१. "सकृद्गयाभिगमनं कृत्वा पिण्डं ददाति यः।
पितरस्तारितास्तेन यास्यन्ति परमां गतिम्॥"

—कूर्मपुराण, अध्याय १८, पृष्ठ १३३।

२. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ८७।

३. वही, पृष्ठ ८९।

४. वाटर्स, २, १११।

पहले गौतम बुद्ध ने रत्नमेघ-सूत्र का प्रवचन किया था।[१] इसी के समीप प्राग्बोधि पर्वत् था जहाँ उन्होंने सम्बोधि की प्राप्ति के निमित्त कठोर तपश्चर्या करते हुए शरीर को गला डाला था। उसने उस स्थान का भी उल्लेख किया है जहाँ बुद्ध ने दूध की खीर खाई थी।[२]

य्वान् च्वाङ्ग ने बोधि-वृक्ष का भी वर्णन किया है जिसके चतुर्दिक ईंट की बनी ऊँची तथा सुदृढ़ एक आयताकार दीवाल थी। इसके भीतर सुन्दर घास उगाई गई थी तथा दुर्लभ वृक्ष एवं अच्छे फूल पौदे आरोपित किये गये थे। इस चहार-दीवारी का प्रधान द्वार पूर्व की ओर निरञ्जना नदी के सामने पड़ता था। इसके दक्षिणी द्वार से एक रास्ता पास के फूलों वाले सरोवर की ओर जाता था। उत्तरी दरवाजे के पास एक बड़ा मठ था। बोधि-वृक्ष के दर्शनार्थ भारतीय नरेश, सामन्त तथा उच्च पदाधिकारी आते थे। इसके पास उनके द्वारा निर्मित स्तूप एवं देवालय उस समय वर्तमान थे।[३] बोधि-वृक्ष की चहारदीवारी के भीतर केन्द्रीय स्थान पर एक चबूतरा था जिसे वज्रासन, बोधिमण्डल अथवा बोधिमण्ड कहा जाता था। वज्रासन के ऊपर बोधि-वृक्ष (जो कि एक पीपल का पेड़ था) खड़ा था जिसकी ऊँचाई ५० फीट के लगभग थी। भारतीय सम्राट्, राजकुमार, उच्च पदाधिकारी, भिक्षु एवं उपासक अत्यन्त श्रद्धा के साथ इस वृक्ष को जल एवं दूध का स्नान कराते तथा फूल चढ़ाते थे। ऐसे अवसर पर गाना, बजाना, रोशनी तथा तरह तरह की खुशियाँ की जाती थीं। बौद्ध धर्म के कुछ विरोधी नरेशों ने इस वृक्ष को नष्ट करने की चेष्टा की थी पर वे अपने प्रयत्न में विफल सिद्ध हुए। हाल ही में शशाङ्क ने इसके विनाश के निमित्त चेष्टा की थी। उसने इसकी चहारदीवारी को तोड़ डाला था।[४] कुछ ही महीनों के पश्चात् मगध-नरेश पूर्णवर्मा ने इसके चतुर्दिक् एक नई दीवाल बनवाई जो कि इस चीनी यात्री के आगमन के समय वहाँ विद्यमान थी।[५]

बोधि-वृक्ष के समीप पश्चिम की ओर एक बड़ा मन्दिर था, जिसमें खड़ी अवस्था में ताँबे की एक बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की गई थी।[६] इस वृक्ष के सन्निकट अशोक के द्वारा निर्मित सौ फीट ऊँचा एक स्तूप था। स्थानीय परम्परा के अनुसार घास काटने वाले के वेश में इन्द्र ने इस स्थान पर बुद्ध को बैठने के निमित्त एक घास का आसन दिया था।[७] इस स्तूप के समीप एक अन्य स्तूप था जहाँ काली रङ्ग

---

१. वाटर्स, २, ११२।
२. वही, २, ११२।
३. वही, २, ११५।
४. वही, २, ११५।
५. वही, २, ११५।
६. वही, २, १२१।
७. वही, २, १२२।

की चिड़ियों के झुण्ड ने गौतम को शुभ शकुन की सूचना दी थी।[१] य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार बोधि-द्रुम के पूर्व दो स्तूप वर्तमान थे। वहाँ पर बुद्ध की तपस्या को भङ्ग करने के निमित्त मार ने विभिन्न आकर्षणों का प्रयोग किया था। अन्त में उन्हें विचलित करने के हेतु उसने अपनी तीन सुन्दर पुत्रियों (रति, अरति एवं तृष्णा) को भेजा था।[२]

बोधि वृक्ष की चहारदीवारी के बाहर चारो कोनों पर एक स्तूप बना हुआ था।[३] दक्षिण-पूर्व कोने पर वर्तमान स्तूप के पास एक सायादार वटवृक्ष तथा बौद्ध देवालय भी था जिसमें आसीन अवस्था में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई थी।[४] बोधि-द्रुम की चहारदीवारी के दक्षिणी द्वार के पास वर्तमान जिस सरोवर की पहले चर्चा की जा चुकी है, उसके सन्निकट एक अन्य जलाशय था। इसे लोग इन्द्रतटाक् कहते थे। स्थानीय परम्परा के अनुसार जब गौतम बुद्ध को सम्बोधि की प्राप्ति हो गई, उस समय इन्द्र ने उनके प्रयोग के लिये इस-जलाशय का निर्माण किया था। इसका जल बहुत ही स्वच्छ था।[५]

य्वान् च्वाङ्ग ने अपने विवरण में समुद्रगुप्त के समकालीन सिंहल-नरेश मेघवर्ण के द्वारा निर्मित गया के महाबोधि सङ्घाराम का उल्लेख किया है। यह तीन मञ्जिलों से युक्त मठ था जिसमें छह आँगन थे। इसके चतुर्दिक् चालीस फीट ऊँची दीवाल थी। इस मठ की भीतरी दीवालों पर कहीं कहीं चित्रकारी का भी काम किया गया था। इसकी प्रसिद्ध प्रतिमाओं में एक बुद्ध-मूर्ति थी, जो सुवर्ण एवं रजत आदि बहुमूल्य धातुओं से निर्मित थी। इस मठ की चहारदीवारी के भीतर एक स्तूप था, जिसमें गौतम बुद्ध की अस्थियाँ वर्तमान थीं। प्रत्येक वर्ष के अन्त में इस स्तूप के सम्मान में एक समारोह मनाया जाता था। ऐसे अवसर पर मठ में रोशनी की जाती थी तथा स्तूप पर फूल की मालाएँ चढ़ाई जाती थीं। इसमें उस समय एक हजार भिक्षु रहते थे जो महायान धर्म के अनुयायी थे। चीनी यात्री ने इस सङ्घाराम की स्थापना की परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है।[६] इत्सिङ्ग ने इस मठ को 'वज्रासन-महोबोधिविहार" कहा है। वह लिखता है कि

---

१. वाटर्स,२, १२२।
२. वही, २, १२४।
३. वही, २, १२६।
४. वही, २, १२५।
५. वही, २, १२७।
६. वही, २, १३६।

लङ्का के बौद्ध यात्रियों के विश्राम की सुविधा के निमित्त इसका निर्माण वहाँ के एक सम्राट् ने किया था।[1]

चम्पा—प्राचीन बिहार की समृद्धिशालिनी नगरी चम्पा अङ्ग जनपद की राजधानी थी। अङ्ग का उल्लेख अथर्ववेद (५, २२, १४) में मिलता है। गोपथ ब्राह्मण (२, ९) में अङ्ग एवं मगध का एक साथ उल्लेख हुआ है। अष्टाध्यायी (४, १, १७०) में अङ्ग का नाम वङ्ग, कलिङ्ग तथा पुण्ड्र आदि नामों के साथ उल्लिखित हुआ है। अङ्ग के नाम की व्युत्पत्ति के विषय में रामायण (४७, १४) में एक आख्यानात्मक वर्णन मिलता है। इसके अनुसार शिव की क्रोधाग्नि से बचने के निमित्त कामदेव यहाँ भाग आया तथा अपने अङ्ग का परित्याग कर अनङ्ग (अङ्ग-रहित) हो गया। इस घटना के कारण यह क्षेत्र अङ्ग के नाम से प्रख्यात हुआ। विनय पिटक (१, १७९) के अनुसार अङ्ग देश में ८० हजार ग्राम थे।

चम्पा के कतिपय अन्य नाम भी थे, उदाहरणार्थ **चम्पावती, चम्पापुरी, चम्पानगर** तथा **चम्पामालिनी**।[2] दीघनिकाय के अनुसार इस पुरी की योजना महागोविन्द ने बनायी थी।[3] रिज़ डेविड्स ने इस नगर की एकता आधुनिक भागलपुर जिले में स्थित चम्पा नामक ग्राम से की है।[4] उनका मत है कि इसके नाम की व्युत्पत्ति का आधार काश्मीर में स्थित चम्पा नाम का नगर था, जो इससे प्राचीन था।[5] परन्तु इस विचार से सहमत होना कठिन है, क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। महाभारत (शान्तिपर्व, ३४, ३५) तथा हरिवंश (अध्याय ३१) में मिलने वाली एक अनुश्रुति के अनुसार लोमपाद के प्रपौत्र चम्प नामक सम्राट् के नाम के आधार पर इस पुरी का नाम चम्पा पड़ा। इस अनुश्रुति में ऐतिहासिक तत्त्व कितना है, इसके विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है। इस नगर का यह नाम पड़ने का एक सम्भावित कारण यह हो सकता है कि इसमें चम्पक वृक्षों का बाहुल्य था।

---

१. वाटर्स, २, १३७।

२. ला०, बी० सी०, इण्डोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ ४९।

३. "दन्तपुरं कलिङ्गानमस्सकानाञ्च पोतनम्।
माहिस्सती अवन्तीनम् सोवीराञ्च रोरुकम्।
मिथला च विदेहानम् चम्पा अङ्गेसु मापिता।
वाराणसी च कासीनम् एते गोविन्द-मापितेति॥
दीघनिकाय, १९, ३६।

५. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३५।

दीघनिकाय (२, १४६) के अनुसार यह एक विशाल नगर था। जातकों में वर्णन मिलता है कि यह खाईं तथा प्राचीर के द्वारा परिवेष्टित था। चम्पा नामक नदी अङ्ग एवं मगध के बीच सीमा-निर्धारण करती थी।[1] पालिग्रन्थों के अनुसार इसमें 'गग्गरापोखरणी' नामक एक कासार था, जिसका निर्माण गग्गरा नामक साम्राज्ञी ने किया था। इस कासार के तट पर चम्पक वृक्षों का एक गुल्म था, जिसके कारण आसपास के क्षेत्र में सौरभयुक्त वायुमण्डल का प्राधान्य था।[2]

यह नगर महावीर तथा गौतम बुद्ध की कृतियों से सम्बन्धित था। गौतम बुद्ध के काल में यहाँ पर कुछ अन्य आचार्यों ने भी धर्म-प्रचार किया था; उदाहरणार्थ, **पुरण-कस्सप, मोक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलिन, पकुधकच्चायन, सञ्जय-बेलट्ठिपुत्त तथा निगन्थनाथपुत्त**।[3] महावीर ने इस नगर में तीन वर्षा-ऋतुएँ बितायी थीं। जैनों के बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्य की यह जन्मभूमि थी। यहाँ पर प्रभव एवं सयम्भव पधार चुके थे। सयम्भव ने यहाँ पर दशवैकासिक सूत्र का सङ्कलन किया था।[4] जैन चम्पकश्रेष्ठिकथा के अनुसार यह नगर समृद्धावस्था में था। इसके अनुसार इस नगर में माला बनाने वाले, बढ़ई, जुलाहे, सुवर्णकार, जौहरी तथा गन्धिक आदि रहते थे।

चम्पा में गौतम बुद्ध कई बार आ चुके थे। वे गग्गरापोखरणी के तट पर रुकते थे।[5] उनके समय में इस नगर की गणना उत्तरी भारत के छह प्रधान नगरों में की जाती थी। इस नगर की श्रेष्ठता के कारण आनन्द ने गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपयुक्त नगरों में इसकी गणना की थी। वाणिज्य के क्षेत्र में भी इसकी महत्ता का निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ के व्यापारी सुवर्णभूमि तक व्यापार के निमित्त निकल जाया करते थे। विद्वानों का कहना है कि चम्पा के ही नागरिकों ने इण्डोचीन में इस नाम के उपनिवेश की स्थापना की थी।[6]

गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ बौद्ध यात्री आया करते थे। चीनी यात्री फाहियान भी तीर्थों का भ्रमण करता हुआ चम्पा आया था। वह लिखता है कि यह नगर पाटलिपुत्र से १८ योजन की दूरी पर स्थित था। उसके

---

१. जातक, ४, ४५४।
२. मललसेकर, २, ७२४।
३. मज्झिम निकाय, २, २।
४. ला, बी० सी०, इण्डोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ ५०।
५. वाटर्स, २, १८२।
६. मललसेकर, २, ७२४।

अनुसार यह गङ्गा नदी के दक्षिणी तट पर बसा हुआ था। उसके आगमन के समय इस नगर की विनासोन्मुखी क्रिया प्रारम्भ हो गई थी। उसने वहाँ पर स्तूपों एवं विहारों के वर्तमान होने का उल्लेख किया है।[1] य्वान् च्वाङ्ग भी भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों का पर्यटन करता हुआ चम्पा आया था। वह इरणपर्वत से ३०० ली (५० मील) की दूरी समाप्त कर चम्पा पहुँचा। उसके अनुसार चम्पा-देश की परिधि ४०० ली (७० मील) तथा नगर की परिधि ४० ली (७ मील) थी। वह भी लिखता है कि यह नगर गङ्गा के दक्षिणी तट पर स्थित था। उसके आगमन के समय यह पुर काफी विनष्ट हो चुका था। इसके मठ गिर चुके थे। उनके खण्डहरों में लगभग २०० हीनयान मतावलम्बी रहते थे। वह लिखता है कि इस नगर से १४० ली (२४ मील) की दूरी पर गङ्गा के दक्षिणी तट पर एक आकर्षक देव-मन्दिर वर्तमान था।[2]

मिथिला—बिहार की ललामभूता नगरी मिथिला विदेह की राजधानी थी। (वैदेहजनपदे मिथिलायां राजधान्याम्—दिव्यावदान, पृष्ठ ४२४)। शतपथ ब्राह्मण (१,४, १) के अनुसार माथव विदेघ ने इस प्रदेश को बसाया, अतएव इसका नाम विदेह पड़ा। जातक ग्रन्थों के अनुसार विदेह की परिधि ३०० योजन थी (त्रियोजनसतिके—जातक, ४, ३८६)। इसका द्वितीय नाम तीरभुक्ति (आधुनिक तिरहुत) था। तीरभुक्ति से तात्पर्य दो नदियों (बड़ी गण्डक तथा बागमती) के तटों (तीर) के बीच की भुक्ति अर्थात् प्रदेश से था। प्राचीन अभिलेखों में भुक्ति शब्द का प्रयोग अन्य प्रदेशों के सम्बन्ध में भी आता है; उदाहरणार्थ, **पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति, कौशाम्बीभुक्ति, अहिच्छत्रभुक्ति** तथा **श्रावस्ती-भुक्ति**।

मिथिला का उल्लेख महाभारत में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार इन्द्र-प्रस्थ से राजगृह जाते समय कृष्ण, भीम एवं अर्जुन के साथ मिथिला आये हुये थे (सभापर्व, पृष्ठ २०)। इस नगर का वर्णन जातक ग्रन्थों में भी आता है। रामायण (ग्रिफिथ का अनुवाद, ६८, पृष्ठ ९०) के अनुसार विश्वामित्र, राम एवं लक्ष्मण के साथ अयोध्या से मिथिला चार दिनों में पहुँचे थे। पुराणों के अनुसार निमि के पुत्र मिथि के नाम के आधार पर मिथिला नाम पड़ा (वायुपुराण, ८९, ६)। इस नगर के जन्मदाता होने के कारण उनका नाम जनक पड़ा (निमेः पुत्रस्तु तत्रैव... पुरीजननसामर्थात् जनकः स च कीर्तितः—भागवत पुराण, ९, १३, १३)।

जातकों में इसके वैभव का मनोरम विवरण उपलब्ध होता है। महाउम्मग

---

१. लेग्गे, फाहियान, १००।

२. वाटर्स, २, १८१।

जातक (संख्या ५४६) के अनुसार मिथिला के चतुर्दिक तीन प्रकार की परिखाएँ विद्यमान थीं —(१) उदकपरिखा (जल से भरी हुई खाईं), (२) कद्दमपरिखा (दलदल से भरी हुई खाईं) तथा (३) सुक्ख परिखा (सूखी हुई खाईं)। इसके चतुर्दिक ऊँची दीवाल थी, जिसमें सुदृढ़ बुर्ज एवं द्वार बने हुए थे। नगर के भीतर सुन्दर राजमार्ग तथा मनोरम बाटिकाएँ एवं सरोवर निर्मित थे। इसके नागरिक काशी के रेशमी वस्त्र के प्रेमी थे। यहाँ के प्रासादों की छटा अन्वेक्षणीय थी तथा उच्चकुल की महिलाएँ सुगन्धित द्रवों एवं बहुमूल्य आभरणों से अलङ्कृत थीं (जातक, ६, ४६)। विदेहाधिपति जनक की धार्मिक एवं सांस्कृतिक कृतियों से इस नगर की शोभा का विस्तार द्विगुणित हो उठा था। इसके नागरिक सभ्य, सुसंस्कृत तथा सम्पन्न थे। वे उत्सवप्रेमी एवं धर्मपरायण तथा परोपकारसंलग्न थे। इसके राज-मार्गों का निर्माण वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किया गया था (महाभारत, वनपर्व, २०६, ६-९)। रामायण के अनुसार यह नगर सुरम्य, शान्तिसम्पन्न एवं उच्च प्राकार के द्वारा परिवेष्टित था (ग्रिफिथ का अनुवाद, पृष्ठ ५१)।

वाणिज्य के क्षेत्र में बौद्ध काल में ही मिथिला की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। जातकों के अनुसार श्रावस्ती के व्यापारी गाड़ियों में भाण्डों को भर कर उनके विक्रय के निमित्त मिथिला आते थे। वहाँ वे माल बेंच कर स्थानीय वस्तुओं से अपनी गाड़ियों को भरते थे तथा इस रूप में श्रावस्ती लौटते थे (जातक, ६,३२)। बौद्धिक केन्द्र के रूप में इसको ख्याति सुविशेष थी। यहाँ के शासक विद्यानुरागी तथा शास्त्रनिपुण थे। भारतीय परम्परा के अनुसार जनक दर्शन के प्रेमी एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। बौद्धकाल में मिथिला के एक शासक ने विद्योपार्जन के निमित्त चार आचार्यों को नियुक्त किया था (जातक, ६, ३३३)। मिथिला के नागरिक अध्ययनार्थ तक्षशिला आते थे। इस पुर के पिङ्गुत्तर नामक नवयुवक ने तक्षशिला में एक प्रवीण आचार्य से विविध विषयों का अनुशीलन किया था (जातक ६, ३४७)। यहाँ का ब्रह्मायु नामक नागरिक इतिहास, व्याकरण एवं लोकायत का आचार्य एवं नाना गुणों (महापुरुषलक्षणानि) से युक्त था। (मज्झिम निकाय, २, १३३)। यहाँ के दार्शनिकों में मण्डन मिश्र एवं गङ्गेश उल्लेखनीय हैं। वैष्णव कवि विद्यापति मिथिला की विभूति थे। इनके ललित एवं गेय पदों से मिथिला की अमराइयाँ आज भी गूँजित हो उठती हैं।

इस नगर का सांस्कृतिक वातावरण धार्मिक तत्त्वों से भी प्रभावित था। मज्झिम निकाय में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि गौतम बुद्ध ने इस नगर में मखादेव एवं ब्रह्मायु सूत्रों का प्रवर्तन किया था (२, ७४, १३३)। यहाँ पर उल्लेख-नीय है कि मिथिला में गौतम बुद्ध की कृतियों के प्रसार के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में

कम ही वर्णन मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में इस नगर में ब्राह्मण धर्म का ही विशेष प्राधान्य था तथा बौद्ध धर्म का प्रचार कम हो सका था। प्राचीन ग्रन्थों में मिथिला-नरेशों को धर्मनिष्ठ बताया गया है। उदाहरणार्थ; साधिन नामक मिथिला-नरेश उपवास एवं विभिन्न व्रतों का अनुष्ठान करता था (जातक, ४, ३१५)। वहाँ के मघादेव नामक नरेश ने लौकिक वासनाओं के प्रति अनासक्ति के कारण प्रवज्या धारण की थी (जातक, १, १३७)। सुरुचि की पत्नी सुमेधा ने पुत्ररत्न की प्राप्ति के निमित्त आठ व्रतों (अट्ठ सीलानि) का अनुष्ठान किया था (जातक, ४, ३१५। ला बी.सी. इंडोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ ९८-९९।)।

इस नगर के धार्मिक इतिहास के विषय में जनक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महाभारत में इनके द्वारा यज्ञों के सम्पादन के उल्लेख मिलते हैं (वनपर्व, १३२, १३४)। प्राचीन ग्रन्थों में इस नरेश को लौकिक आसक्तियों से पराङ्मुख बताया गया है। महाभारत में जनक के विषय में एक कथा आती है कि मिथिला का नगर किसी समय प्रबल अग्निदाह के कारण भस्मीभूत होने के सन्निकट आ गया। उस समय इस नरेश ने अनासक्ति के साथ कहा था कि "इस जलती हुई नगरी में मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है" (मिथिलायाम् प्रदीप्तायाम् न मे दह्यति किञ्चन्—महाभारत, १२, १७, १८-१९)। महाजनक जातक में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है (मिथिलायाम् दह्यमानाय न मे किञ्चि अडह्यथ—जातक, ६,५४-५५)। गौतम बुद्ध के समय में विदेह में गणराज्य वर्तमान था। यह वज्जिसङ्घ में सम्मिलित था। इस सङ्घ की शक्ति की गणना उत्तरी भारत की बड़ी शक्तियों में की जाती थी। मिथिला की एकता आधुनिक जनकपुर से की जाती है।

ताम्रलिप्ति—यह नगर पूर्वी समुद्र-तट का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। बौद्ध ग्रन्थों में इसे 'तामलित्त' कहा गया है। टालमी के अनुसार यह गङ्गा के मुहाने पर स्थित था।[१] विष्णु पुराण में इसे समुद्र-तट पर स्थित पुरी (समुद्रतटपुरी) कहा गया है।[२] फाहियान चम्पा से पचास योजन की दूरी तय करता हुआ ताम्रलिप्ति आया था। इस नगर तथा उसके आसपास २२ मठ थे, जिनमें रहने वाले भिक्षु बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। इस नगर का वातावरण बौद्ध धर्म से काफी प्रभावित था। बौद्ध सूत्रों की प्रतिलिपि करने के निमित्त वह इस नगर में दो वर्ष रुका हुआ था।[३] उसके अनुसार इस समय यह एक समृद्धिशाली बन्दरगाह था।

---

१. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ २९।
२. विष्णु पुराण, चतुर्थ अंश, अध्याय २४, ६४।
३. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १००।

स्वदेश वापस लौटने के निमित्त वह यहीं पर व्यापारियों के एक बड़े जहाज में बैठा था। यह जलपोत समुद्र-तट से होता हुआ चौदह दिनों की कठिन यात्रा के उपरान्त सिंहल पहुँचा। लोग ताम्रलिप्ति से सिंहल की दूरी सात सौ योजन बताते थे।[१] कालिदास के रघुवंश के अनुसार द्वीपान्तर (पूर्वी द्वीप-समूह) से हमारे देश में मसाले आते थे।[२] लगता है कि ये ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर उतारे जाते थे।

य्वान् च्वाङ्ग के विवरण में इस नगर का नाम तन-मो-लिह्-ती (ताम्रलिप्ति) दिया गया है।[३] उसके अनुसार इस नगर की परिधि दो मील के लगभग थी। वह लिखता है कि यह समुद्रतट पर बसा हुआ था। भूमितल नीचा होने के कारण इसकी जलवायु नम थी। यह एक उर्वर प्रदेश था। वहाँ फल-फूल का प्राधान्य था। नागरिक साहसी पर कुछ उद्धत प्रकृति के थे। उनमें अधिकांश बौद्ध मतावलम्बी थे। इस नगर में दस मठ थे, जिनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या एक हजार से ऊपर ही थी। इस नगर के उपकण्ठ पर अशोकनिर्मित एक स्तूप था।[४] इत्सिङ्ग लिखता है कि चीन से समुद्रमार्ग के द्वारा भारत आने वाले यात्री ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर उतरते थे और यहाँ से स्वदेश वापस जाते थे। इत्सिङ्ग इसी बन्दरगाह पर उतरा था।[५]

दशकुमारचरित से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति के पोताश्रय से व्यापारी जहाजों में बैठ कर सिंहल, यूनान, जावा तथा चीन को प्रस्थान करते थे।[६] बृहत्कथा-मञ्जरी के द्वारा इस नगर के वाणिज्यविषयक विकास के सम्बन्ध में सूचना मिलती है।[७] कालान्तर के ग्रन्थों में भी यह नगर विशिष्ट व्यापार-केन्द्र के रूप में वर्णित है। अभिधानचिन्तामणि के लेखक के अनुसार **तामलिप्त, तमालिनी, स्तम्बपुर** तथा **विष्णुगृह** आदि इस नगर के विभिन्न नाम थे।[८] त्रिकाण्डशेष में ताम्रलिप्ति के

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १००।

२. "अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैरपाकृता स्वेदलवा मरुद्भिः॥"
—रघुवंश, ६, ५७।

३. वाटर्स, १, १८९।

४. वही, १, १९०।

५. वही, १, १९०।

६. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ २९।

७. बृहत्कथामञ्जरी, (चतुर्दारिका) लम्बक ५, श्लोक ७७।

८. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ ३०।

स्थान पर बेलाकूल तथा तमालिका नाम दिया गया है।[1] इन ग्रन्थों से विदित होता है कि व्यापार के क्षेत्र में महान् प्रगति के कारण यह नगर चिरकाल तक वैभवपूर्ण केन्द्र के रूप में वर्तमान था। ताम्रलिप्ति की पहचान आधुनिक तामलुक से की जाती है।[2]

प्राग्ज्योतिषपुर—यह कामरूप का प्रधान नगर था। इस प्रदेश का द्वितीय नाम प्राग्ज्योतिष था। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि (४, २२) में प्राग्ज्योतिष को कामरूप का दूसरा नाम बताया गया है (प्राग्ज्योतिषाः कामरूपाः)। प्राग्ज्योतिषपुर से तात्पर्य उस नगर से था, जो पहले (प्राक्) ज्योतिष का केन्द्र (ज्योतिषपुर) समझा जाता था। कामरूप का प्राग्ज्योतिष नाम वहाँ पर शाकद्वीपी ब्राह्मणों के आगमन के समय पड़ा। ये ब्राह्मण ज्योतिष के मर्मज्ञ थे। वे ग्रह-शान्ति के लिये अनुष्ठान (ग्रहयज्ञ) करते थे, अतएव उन्हें आचार्य अथवा दैवज्ञ कहा जाता था। उनकी कृतियों के फलस्वरूप ज्योतिषशास्त्र के साथ कामरूप का विशेष सम्बन्ध समझा जाने लगा।[3]

महाभारत एवं रामायण में प्राग्ज्योतिष का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुसार इसकी सीमा पर किरात एवं चीन देश स्थित थे (सभापर्व, २५, १००२)। वहाँ के भगदत्त नामक सम्राट् ने महाभारत-युद्ध में भाग लिया था। उसकी सेना में चीनी सैनिक सम्मिलित थे (उद्योगपर्व, १८, ५८४)। वराहमिहिर (बृहत्संहिता, १४, ६) ने प्राग्ज्योतिष की गणना पूर्वी देशों के अन्तर्गत की है। अल्बरूनी ने इस क्षेत्र को कामरू (कामरूप) कहा है। उसके अनुसार यह पूर्वी भारत में स्थित था।[3] राजशेखर की काव्यमीमांसा में ताम्रलिप्ति, पुण्ड्र तथा प्राग्ज्योतिष का उल्लेख पूर्व के देशों में हुआ है (वारणस्यां पुरतः पूर्वदेशः, यत्र अङ्ग-कलिङ्ग-कोसल-तोशल-उत्कल-मगध-मुद्गर-मल्लवर्तक, सुह्म-ब्रह्मोत्तर प्रभृत्तयः जनपदाः)।[4]

कामरूप का उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति में भी हुआ है। इस अभिलेख में इसकी गणना समतट (बङ्गाल का समुद्रतट), डवाक (आसाम में स्थित डबोक), नेपाल (आधुनिक नेपाल) तथा कर्तृपुर (कमायूँ में स्थित कतुरिया राज) आदि समुद्रगुप्त के साम्राज्य के प्रत्यन्त (सीमान्त) नृपति-राज्यों की कोटि में हुआ है।

---

१. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाल, पृष्ठ ३०।

२. द्रष्टव्य—लेग्गे, फाहियान (पादटिप्पणी), पृष्ठ १००।

३. साचो, १, २०१। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ ७९।

४. काव्यमीमांसा, अध्याय १७।

प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार कामरूप का शासक समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करता था (सर्वकरदानाज्ञाकरण प्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य)।

अफसढ़ के लेख में कामरूप के शासक सुस्थित्वर्मा का नामोल्लेख हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार उत्तरगुप्त नरेश महासेनगुप्त ने उसे लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के तट पर परास्त किया था। इस कारण उसकी कीर्ति का गान इसके दोनों तटों पर होता था।[1] डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी तथा फ्लीट का कहना है कि सुस्थित्वर्मा मौखरिवंशी नरेश शर्ववर्मा का पुत्र था पर निधानपुर तथा नालन्दा के ताम्रलेखों के आधार पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह आसाम का शासक एवं हर्षकालीन कामरूप-नरेश भास्करवर्मा का पूर्वज सम्राट् था।

य्वान् च्वाङ्ग के वर्णन में कामरूप (का-मो-लु-पो) का उल्लेख मिलता है। वह भास्करवर्मा के अनुरोध के कारण वहाँ आया हुआ था। उसके अनुसार इस क्षेत्र की परिधि १०,००० ली (सतरह सौ मील) एवं राजधानी १० ली (लगभग डेढ़ मील) थी। यह नम, उर्वरा शक्ति से सम्पन्न एवं निम्न धरातल वाला प्रदेश था। यहाँ की जलवायु उत्तम कोटि की थी। इसके निवासी कृष्ण वर्ण तथा लघु कद के हुआ करते थे। उनकी भाषा मध्य देश की भाषा से विभिन्न थी। वे सत्य-वादिता एवं उच्च आचरण के लिये विख्यात थे। य्वान् च्वाङ्ग के वर्णन से लगता है कि यहाँ पर अभी तक बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं हो सका था। उसे वहाँ एक भी मठ दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उसके अनुसार कामरूप के नागरिक कृष्णमतावलम्बी थे। उसने वहाँ पर कई ब्राह्मण-मन्दिरों के वर्तमान होने का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि वहाँ का शासक भास्करवर्मा ब्राह्मण जाति का था। उसका एक द्वितीय नाम कुमार भी था। बाणभट्ट ने लिखा है कि भास्करवर्मा शिव का कट्टर भक्त था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार वह नरेश विद्याप्रेमी और विद्वानों का संरक्षक था। यद्यपि वह बौद्ध मतावलम्बी नहीं था, तथापि श्रमणों को वह पर्याप्त आदर की दृष्टि से देखता था। वह लिखता है कि कामरूप के पूर्व में पर्वतमालाएँ थीं, जिन्हें पार करना कठिन कार्य था। इनमें बिच्छू तथा सर्पादि के काटने का भय बना रहता था। कामरूप के दक्षिण-पूर्व भाग में हाथियों का बाहुल्य था। युद्धादि में ये लाभदायक सिद्ध होते थे।[2]

---

१. "श्रीमत्सुस्थित्वर्मयुद्धविजयश्लाघापदाङ्कं मुहुः।
लौहित्यतटेषु...स्फीतं यशो गीयते॥"
—अफसढ़ का लेख।

२. वाटर्स, २, १८६।

कालिका पुराण (अध्याय ३८) के अनुसार प्राग्ज्योतिष का द्वितीय नाम कामाख्या था। यह कामाख्या देवी के मन्दिर के लिये प्रसिद्ध था। शाक्त इस मन्दिर को श्रद्धात्मक दृष्टि से देखते थे। य्वान् च्वाङ्ग तथा कामरूप-नरेश भास्कर-वर्मा के बीच जो संवाद हुआ, उसके अनुसार इस समय इस नगर में एक चीनी गीत लोकप्रिय थी।[१] विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि प्राचीन प्राग्ज्योतिषपुर के स्थान पर आधुनिक गौहाटी नगर बसा हुआ है।[२]

१. बागची, इण्डिया एण्ड चाइना, पृष्ठ १८।
२. वाटर्स, २, १९६।

अध्याय ७

पश्चिम भारत के नगर

विदिशा—इस नगर की गणना भारतवर्ष की प्रसिद्ध प्राचीन पुरियों में की जाती थी। पालिग्रन्थों में इसे **वेदिस**[1], **वेदिसा**[2] तथा **वेदिसनगर**[3] कहा गया है। वायु-पुराण में विदिशा का उल्लेख विदिशा नदी (आधुनिक वेस अथवा वेदिसा नदी) तथा वेत्रवती (आधुनिक बेतवा) के सम्बन्ध में हुआ है। ये दोनों नदियाँ पारियात्र पर्वत से निकलती थीं। इससे निकलने वाली अन्य नदियाँ परा, चर्मण्वती (चम्बल) तथा शिप्रा थीं, जिनका उल्लेख पुराणों में हुआ है।[4] ब्रह्माण्ड पुराण में विदिशा तथा वेत्रवती नदियों के नाम का उल्लेख **वर्णाशा, नन्दना, सदानीरा, महानदी, पाशा** तथा **चर्मण्वती** के साथ हुआ है।[5] लगता है कि विदिशा नदी के नाम की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध विदिशा नगर के साथ था।

यह नगर पाटलिपुत्र से ५० योजन की दूरी पर स्थित था।[6] पाटलिपुत्र से उज्जयिनी जाने वाला मार्ग विदिशा होकर जाता था (उज्जेनिम् गच्छन्तो वेदिस-नगरम् पत्वा)।[7] उज्जयिनी के राज्यपाल-पद को ग्रहण करने के निमित्त जाते समय अशोक विदिशा में रुका हुआ था। वहाँ उसने नगर-श्रेष्ठि देव की कन्या

---

१. बरुआ, भरहुत-लेख, पृष्ठ १४। २. वही, पृष्ठ ३।

३. समन्तपासादिका, पृष्ठ ७०।

४. "परा चर्मण्वती चैव विदिशा वेत्रवत्यपि।
शिप्रा ह्यवन्ती च तथा पारियात्राश्रयाः स्मृताः॥"

वायु पुराण, ४५, ९८।

५. "वर्णाशा नन्दना चैव सदानीरा महानदी।
पाशा चर्मण्वतीनूपा विदिशा वेत्रवत्यपि॥"

ब्रह्माण्डपुराण, २, १६, २८।

६. महाबोधिवंश, ९८-९९।

७. समन्तपासादिका, पृष्ठ ७०। ला बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज, पृष्ठ १४९-१५०।

देवा के साथ विवाह किया। वह यौवनसम्पन्ना, परमसुरूपा एवं विविध गुणों से युक्त थी। (वेदिसनगरे देवनामकस्स सेट्ठिस्स घरे निवासम् उपगत्वा तस्स सेट्ठिस धीतरम् लक्खण-सम्पन्नाम् योब्बनपात्तम् वेदिसदेवीम् नाम कुमारिकाम् दिस्वा ताय पटिबद्धचित्तो मातापितूनम् कथापेत्वा तम् दिन्नम् पटिलभित्वा ताय सद्धिम् संवासम् कप्पेसि)।[1] महाबोधिवंश के अनुसार इससे महिन्द नामक पुत्र एवं सङ्घमित्रा नामक पुत्री उत्पन्न हुई। इस ग्रन्थ में उसे 'वेदिस-महादेवी' कहा गया है।[2]

इस नगर का प्रथम उल्लेख महाभारत में उपलब्ध होता है।[3] रामायण के अनुसार रामचन्द्र ने इस नगर को शत्रुघ्न को दिया था।[4] रघुवंश में वर्णन मिलता है कि शत्रुघ्न के दो पुत्र थे--(१) शत्रुघातिन् तथा (२) सुबाहु। उन्होंने शत्रुघातिन् को मथुरा में तथा सुबाहु को विदिशा में शासक नियुक्त किया था।[5] कालिदास के ग्रन्थों में इस नगर का प्रचुर उल्लेख मिलता है। मेघदूत के अनुसार यह वेत्रवती के तट पर स्थित तथा दशार्ण देश का प्रधान नगर था।[6] ललितविस्तर में दशार्ण की गणना जम्बूद्वीप के १६ जनपदों में की गई है (सर्वस्मिन् जम्बुद्वीपे षोडशजनपदेषु)।[7] मार्कण्डेय पुराण में दशार्ण देश के नाम की उत्पत्ति का कारण इस नाम की एक नदी को बताया गया है, जो कि इसके बीच होकर बहती थी।[8] दशार्ण नदी की पहचान आधुनिक दशान नामक नदी से की जाती है, जो कि वेत्रवती की एक सहायक नदी है। पेरिप्लस में दशार्ण क्षेत्र का उल्लेख (दसारेन) के नाम से किया गया है। इसके अनुसार यहाँ हाथी-दाँत की उत्तम कोटि की वस्तुएँ बनती थीं।[9] इससे प्रतीत होता है कि विदिशा हाथी-दाँत के व्यवसाय का एक केन्द्र रहा होगा। जातकों में भी दशार्ण जनपद का उल्लेख हुआ है। उनके अनुसार यहाँ तेज धार की तलवारें बनाई जाती थीं (दसण्णकम् तिखिणधारम् असिम--जातक, ३, ३३८)।

---

१. महावंश-टीका, १, पृष्ठ ३२४।
२. महाबोधिवंश, ९८। ला, बी० सी०, इंडोलॉजिकल स्टडीज़, पृष्ठ १५४।
३. आदिपर्व, ११३, ४४४९।
४. उत्तरकाण्ड, अध्याय १२१।
५. रघुवंश, सर्ग १५, श्लोक ३६।
६. मेघदूत, श्लोक २५-२६।
७. ललितविस्तर, पृष्ठ २२।
८. मार्कण्डेय पुराण, ५७, २१-२५।
९. पेरिप्लस, पृष्ठ ४७।

कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् से ऐसा प्रतीत होता है कि शुङ्गों के काल में यह नगर एक प्रसिद्ध केन्द्र समझा जाता था। जिस प्रकार मौर्यों के समय में उज्जयिनी उनके साम्राज्य की पश्चिमी राजधानी थी, उसी प्रकार शुङ्गों के काल में विदिशा उनके साम्राज्य की पश्चिमी राजधानी थी। यहाँ पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। बेसनगर के गरुड़-स्तम्भ से ज्ञात होता है कि शुङ्गों के काल में इस नगर में भागवत (वैष्णव) धर्म का प्रचार था। इस पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार तक्षशिला के यवनराज अन्तलिकित (अन्तिआलकिदास) का हेलिओडोरस नामक राजदूत शुङ्ग-शासक कौत्सीपुत्र भागभद्र के दरबार में विदिशा आया हुआ था। वह भागवत मतावल बी था। उसने विदिशा में गरुड़स्तम्भ की स्थापना की थी, जिस पर यह लेख उत्कीर्ण मिलता है (देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं कारिते इअ हेलिओदोरेण भागवतेन दिय-सपुत्रेण तख्खसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अन्तलिकितस सकासं रजो-कोसीपुत्रस भागभद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस)।[1]

यह गरुड़स्तम्भ प्रस्तरनिर्मित है। यह ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित प्रथम प्रस्तर-स्मारक है। कला की दृष्टि से यह स्तम्भ महत्त्वपूर्ण है। अशोक-स्तम्भों के समान इस स्तम्भ पर भी पारसीक घण्टानुमा आकृति (पर्सिपोलिटन बेल) उपलब्ध होती है। यद्यपि इस स्तम्भ का स्थापत्य अशोककालीन स्तंभ-निर्माण-कला से प्रभावित है, तथापि इसमें कुछ नवीनताएँ भी परिलक्षित होती हैं। जहाँ अशोक के स्तम्भों का निचला भाग सादा और गोल है, वहाँ इस स्तम्भ का निचला भाग अलङ्कृत एवं आठ कोने का है। इसका मध्य भाग एवं ऊपरी भाग क्रमशः १६ और ३२ कोनों वाला है। यह विशेषता अशोक के स्तम्भों में नहीं मिलती। मालविकाग्निमित्रम् में विदिशा से सम्बन्धित कतिपय शुङ्गकालीन घटनाओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं। इस नाटक में विदिशा-शासक अग्निमित्र तथा विदर्भ-राजकन्या मालविका की प्रणय-कथा का वर्णन मिलता है।[2]

भरहुत के लेखों के अनुसार विदिशा के बौद्ध मतावलम्बी नागरिकों ने यहाँ के स्मारकों के निर्माण में योगदान किया था। भरहुत स्तूप के एक उत्कीर्ण-लेख के अनुसार विदिशा-निवासी रेवतिमित्र की भार्या चम्पा देवी ने इसका निर्माण किया था (वेदिसा चपादेवाय रेवतिमितभारियाय पठमो थभो दानम्—बरुआ, भरहुत-लेख, पृष्ठ ३)। भरहुत के लेखों से विदिशा के कतिपय अन्य

१. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ९१।

२. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क ५।

नागरिकों के द्वारा भी इस स्थान पर दान के विषय में सूचना प्राप्त होती है, उदाहरणार्थ, वेणिमित्र की भार्या वाशिष्ठी के द्वारा दान (वेदिसा वासिठिया वेलिमितभारियाय दानम्—भरहुत-लेख, पृष्ठ १४), आर्यमा के द्वारा दान (वेदिसा अयमाय दानम्—भरहुत-लेख, पृष्ठ १७) तथा भूतरक्षित के द्वारा दान (वेदिसातो भूतरक्षितसदानम्—भरहुत-लेख, पृष्ठ २०)।

इस नगर का वर्णन पुराणों में भी आता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि इसका धार्मिक वातावरण ब्राह्मण धर्म से भी प्रभावित था। स्कन्दपुराण में इसे तीर्थस्थान कहा गया है।[1] गरुड़ पुराण के अनुसार इस नगर की छटा अन्वेक्षणीय (शोभाढ्यम्) थी। यह विविध बहुमूल्य धातुओं से सम्पन्न था (नानारत्नसमाकुलम्) तथा इसमें विविध प्रदेशों के निवासी रहते थे (नानाजनपदाकीर्णम्)। यह नगर धर्म का केन्द्र था (नानाधर्मसमन्वितम्)। इसके नागरिक ऐश्वर्य एवं विलास की सामग्री से सम्पन्न थे (सर्वसम्पत्समन्वितम्)।[2] इस नगर की एकता आधुनिक बेसनगर से की जाती है।

उज्जयिनी—उज्जयिनी भारतवर्ष का एक प्रधान नगर था। यह अवन्ती (मालवा) का सबसे समृद्धिशाली नगर था। यही कारण है कि इसे **अवन्ती,**[3] **अवन्तिपुरी,**[4] तथा **अवन्तिका**[5] भी कहा जाता था। इसके कतिपय अन्य नाम भी थे, उदाहरणार्थ—**विशाला,**[6] **पद्मावती, भोगवती** एवं **हिरण्यवती।**[7] इसकी

---

१. ला, बी० सी०, इण्डोलॉजिकल स्टडीज, भाग ३, पृष्ठ १५१।

२. गरुड़पुराण, अध्याय ७।

३. "अवन्ती नाम नगरी मालवे भुवि विश्रुता।
बभूव तस्य नृपतेः पृथिवी कुकुदोपमा॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा दृढ़प्राकारतोरणा।
दृढ़यन्त्रार्गलद्वारा परिखाभिरलंकृता॥"—ब्रह्मपुराण, अध्याय ४१।

४. "अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः॥"—मृच्छकटिक, अङ्क १।

५. "अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता भुक्तिमुक्तिदाः॥"
काञ्चीमाहात्म्यम्, अध्याय १, पृष्ठ ५९।

६. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५।

७. कथासरित्सागर (टॉनी का अनुवाद), २, २७५।

प्रसिद्धि सर्वप्रथम महाजनपदकाल से प्रारम्भ हुई। इस समय यहाँ पर अवन्ति के प्रद्योतवंश की राजधानी वर्तमान थी। गौतम बुद्ध के काल (छठी शताब्दी ईसा पूर्व) में यहाँ पर चण्डप्रद्योत राज्य कर रहा था, जिसकी महान् शक्ति के कारण बहुत से समकालीन नरेश आतङ्कित थे। इस महत्त्वाकांक्षी नरेश की समस्त साम्राज्यवादी योजनाएँ इसी नगर में बनाई गई थीं। उसने वत्सराज उदयन को यहीं पर बन्दी बनाया था।[१] चण्डप्रद्योत के काल में यह नगर एक विशिष्ट सांस्कृतिक केन्द्र भी माना जाता था। इस समय यह एक वाणिज्यपथ के द्वारा उत्तर-पूर्व भारत के सुप्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्रों के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित था, उदाहरणार्थ—**कौशाम्बी, वाराणसी तथा पाटलिपुत्र**।[२] जातकों के अनुसार उज्जयिनी एवं वाराणसी के व्यापारियों के बीच एक बहुत बड़ी व्यापारिक एवं सांस्कृतिक प्रतियोगिता विद्यमान थी।[३] गौतम बुद्ध ने इस नगर में कई अवसरों पर प्रवचन दिया, जिससे प्रभावान्वित होने के कारण यहाँ के नागरिकों ने उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म को अगाध श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया। मौर्यों के शासन-काल में वह प्रान्त-अधिष्ठान था। विन्दुसार के शासनकाल में अशोक यहाँ पर राज्यपाल के रूप में रहता था। इसी समय यहाँ पर महेन्द्र एवं सङ्घमित्रा का जन्म हुआ था।[४] अशोक के शासनकाल में भी यहाँ पर मौर्य-राजकुमार राज्यपाल का कार्य करता था। इसका स्पष्ट उल्लेख उसने अपने एक अभिलेख में किया है।[५]

कालान्तर में प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग इसे विक्रम संवत् के प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य की राजधानी बनने का सुअवसर उपलब्ध हुआ। कतिपय विद्वानों का कथन है कि कविकुलकुमुदकलाधर कालिदास इसी विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। उन्होंने मेघदूत में उज्जयिनी का जो वर्णन किया है, वह इस

---

१. मेघदूत में उदयन के द्वारा प्रद्योत की प्रियदुहिता वासवदत्ता का उज्जयिनी से भगाने का भी उल्लेख मिलता है:—

"प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जन्हे।"—मेघदूत, ३२।

इस ग्रन्थ के अनुसार इस नगर में प्रद्योत के द्वारा लगाया हुआ एक तालवन था:—

"हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।"—वही, ३२।

२. मललसेकर, १, ३४४।

३. जातक, २, २४८।

४. मललसेकर, १, ३४४।

५. "उजेनिते पि च कुमाले"—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ४४।

आधार पर इसी काल का सिद्ध होता है। उनके अनुसार उज्जयिनी स्वर्ग का एक कान्तियुक्त खण्ड था, जिसका उपभोग करने के निमित्त उत्कृष्ट आचरण वाले देवता अपने अवशिष्ट पुण्यों के प्रताप के कारण स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर उतर आये थे।[1] इस नगर में प्रतापी सम्राट् उदयन की कथा को जानने वाले पण्डित रहा करते थे।[2] इनकी अगाध विद्वत्ता के कारण यह सम्पूर्ण जगत् की शोभा के तुल्य प्रतीत होता था।[3] मेघदूत में उज्जयिनी की चञ्चल नेत्रवाली स्त्रियों का भी उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में विरही यक्ष पवन से कहता है कि यदि उन लोल अपाङ्ग वाली सुन्दरियों ने तुझे एक बार नहीं देखा, तो तुम्हारा जीवन निस्सार है।[4]

यह नगर शिप्रा नदी के प्रातःकालीन कमलों की सुगन्धि के भार से युक्त वायु के कारण सुवासित हो उठता था। यह वायु पुरललनाओं के सुरति के पश्चात् शरीर के पसीने को सुखाकर उन्हें आह्लादित कर देता था। इसके शीतल स्पर्श के कारण हंस एवं सारस कूक उठते थे।[5] यहाँ के महलों में रहने वाली स्त्रियाँ अपने केशों को अगरु तथा चन्दन आदि के घूटों से सुगन्धित करती थीं। इन स्त्रियों के पैरों में महावर भली भाँति लगाये गये थे। इनके चिन्हों के द्वारा अटारियों की छत सुशोभित हो उठती थी।[6]

---

१. "स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्।
शेषैः पुण्यैः हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥"

—पूर्वमेघदूत, ३०।

२. "प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्।"—पूर्वमेघदूत, ३१।

३. "पूर्वोदिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।"—वही, ३१।

४. "विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां।
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वंचितोऽसि॥"—वही, २९।

५. "दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां।
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः॥
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः।
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः॥"—वही, ३३।

६. "जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः।
वन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः॥
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखिन्नान्तरात्मा।
त्यक्त्वा खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥"

—वही, ३४।

कालिदास के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर शैव मतावलम्बी बहुसंख्या में रहते थे। उन्होंने नगर में विद्यमान महादेव के पवित्र धाम चण्डीश्वर का उल्लेख किया है, जहाँ पर शिवभक्त रहा करते थे।[1] उस समय यहाँ पर महाकाल का एक मन्दिर था, जहाँ संध्या के समय आरती उतारी जाती थी।[2] इस मन्दिर में वेश्याएँ नाचती थीं, जिनके पैरों की किङ्किणी के शब्द से मन्दिर गूँज उठता था। कवि के शब्दों में इन वेश्याओं के कटाक्ष भौरों की पंक्ति के समान काले तथा विषयुक्त थे। वे मन्दिर में प्रतिमा के सामने रत्नजटित डाँड़ीदार चँवर डुलाती थीं।[3] कविवर ने उज्जयिनी की निशाभिसारिका नायिकाओं का भी उल्लेख किया है। यक्ष पवन से कहता है कि जब तुम्हारे पहुँच जाने के कारण वहाँ घना अन्धकार छा जाय तथा फलस्वरूप इन प्रेमिकाओं को मार्ग न दिखाई दे, तो बीच बीच में बिजली उसी प्रकार चमका देना, जिस प्रकार काली कसौटी पर सोने की लकीर चमकती है, परन्तु तुम गर्जन मत करना, नहीं तो वे घबड़ा उठेंगी।[4] मेघदूत में उज्जयिनी की बाजारों का भी उल्लेख हुआ है, जिनमें रत्न, शङ्ख, मणि, मयूख तथा बहुमूल्य वस्तुएँ विक्रय के निमित्त सजाई गई थीं।[5]

---

१. "पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।"—वही, ३४।

२. वही, ३६।

३. "पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः।
रत्नच्छायाखचितबलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः॥
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून्।
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥"
—पूर्वमेघदूत, ३७।

४. "गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र रात्रौ।
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः॥
सौदामिन्याः कनकनिकषच्छायया दर्शयोर्व्वीं।
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः॥"—वही, ३९।

५. "हारास्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान् विद्रुमाणाञ्चभङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥"—वही, ३३।

विशद सूचना के लिये द्रष्टव्य—उज्जयिनी थ्रू दी एजेज, पृष्ठ ५१-५३, लेखक का अनुसन्धान-लेख, उत्तर-भारती, जिल्द ९, संख्या १, अप्रैल १९६२।

प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर चतुर्थ शताब्दी तक यहाँ पर शकों की राजधानी थी। टालेमी के विवरण में इस नगर के लिये 'ओज़ेन' (Ozene) शब्द आता है। उसके अनुसार यह एक समृद्धिशाली नगर था। पेरिप्लस के यात्रा-विवरण में भी इसके लिये 'ओज़ेन' (Ozene) शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके अनुसार यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ के नागरिकों का वाणिज्य-सम्बन्ध **भृगुकच्छ, शूर्पारक, वाराणसी, पाटलिपुत्र, कौशाम्बी** तथा **मथुरा** आदि नगरों के साथ था। पेरिप्लस के अनुसार यहाँ से बहुमूल्य पत्थर, मखमल तथा सूती कपड़े भृगुकच्छ के बन्दरगाह के द्वारा पश्चिमी देशों को भेज दिये जाते थे।[१] द्वितीय शताब्दी के मध्य भाग अर्थात् रुद्रदामन के राज्यकाल में उज्जयिनी के शकों का राज्य बहुत ही विशाल था। जूनागढ़ के लेख के अनुसार इस राज्य में पूर्व एवं पश्चिमी **मालवा, माहिष्मती, आनर्त्त, सुराष्ट्र, भृगुकच्छ, श्वभ्र, सिन्धु, सौवीर, कुकुर, अपरान्त** तथा **निषाद** आदि विषय सम्मिलित थे।[२] इन शकों के राज्यकाल में उज्जयिनी में विशेष प्रकार की रजत-मुद्राएँ ढाली गईं, जिनका अनुसरण चन्द्रगुप्त द्वितीय ने काठियावाड़-विजय के उपरान्त किया।

पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों का अन्तिम संहार कर उज्जयिनी को गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित किया। कतिपय विद्वानों का मत है कि शूद्रककृत मृच्छकटिक गुप्तकालीन रचना है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तों के समय में यह नगर अत्यन्त समृद्धिशाली था। इसके अनुसार इस पुर में विविध विहार, आराम, देवालय, सरोवर, कूप तथा यज्ञयूप वर्तमान थे, जिनके कारण इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी (**विहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलंकृता नगर्युज्जयिनी**)।[३] इस ग्रन्थ में उज्जयिनी के नागरिकों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का एक सजीव वर्णन उपलब्ध होता है। नगर-वेश्या वसन्तसेना के भव्य प्रासाद का जो विवरण ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है, वह बहुत ही मनोरम तथा प्राचीन वास्तु-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है। लेखक ने उस विशाल भवन के बहिर्द्वार, विभिन्न प्रकोष्ठ, सङ्गीतशाला, सोपान, गृहफलक तथा वातायन आदि का मूर्तिमान स्वरूप जिस सफलता के साथ उपस्थित किया है, वह परम श्लाघनीय है।

कथासरित्सागर में परम्परा के आधार पर विक्रमादित्यकालीन उज्जयिनी

---

१. पेरिप्लस, ४८।

२. सरकार, सेलेक्ट इंसस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७२।

३. मृच्छकटिक, अङ्क ९।

का वर्णन किया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं के ऊपर 'श्रीविक्रम', 'सिंह-विक्रम', 'अजितविक्रम', 'विक्रमाङ्क' तथा 'विक्रमादित्य' आदि उपाधियाँ अङ्कित मिलती हैं। इस आधार पर कथासरित्सागर के विक्रमादित्य की एकता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ करना ऐतिहासिक तथ्यों से रहित न होगा। इस ग्रन्थ के अनुसार उज्जयिनी का नगर पृथ्वी का भूषण था। वह अमृत के फेन के तुल्य धवल प्रासादों के विलक्षण सौन्दर्य द्वारा अमरावती को भी लज्जित कर रहा था।[1] काव्यमीमांसा के अनुसार उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) ने तो अपने अन्तःपुर में एकमात्र संस्कृत के ही प्रयोग की आज्ञा दे रखी थी।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि शक विजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी को अपनी द्वितीय राजधानी बना ली थी। यही कारण है कि भारतीय परम्पराओं में उज्जयिनी के साथ उनका विशेष सम्बन्ध मिलता है। कनाड़ी जिले के कतिपय सामन्त, जो कि अपनी उत्पत्ति विक्रमादित्य से मानते थे, इस नरेश को **'उज्जयिनी-पुरवर-अधीश्वर'** तथा **'पाटलिपुत्र-पुरवर-अधीश्वर'** कहते थे।[3] इस विक्रमादित्य से तात्पर्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही निकलता है, जिनके राज्य में पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी, दोनों ही नगर सम्मिलित थे। 'उज्जयिनी-पुरवर' शब्द से यह भी स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में उज्जयिनी भारत का एक श्रेष्ठ नगर रहा होगा। यह अधिक सम्भव है कि मौर्यकाल के समान ही इस काल में भी साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये कोई राजकुमार उज्जयिनी में स्थायी रूप से निवास करता रहा हो।

गुप्तों के अधःपतन के उपरान्त भी उज्जयिनी की गणना भारतवर्ष के समृद्धिशाली नगरों में होती रही। सातवीं शताब्दी का चीनी यात्री य्वान् च्वाङ्ग उज्जयिनी आया था। वह लिखता है कि इस नगर (उ-शे-नी) की परिधि लगभग ३० ली (पाँच मील) थी। यह एक समृद्धिशाली तथा जनाकीर्ण केन्द्र था।

---

१. "अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणम् भुवः।
हसन्तीव सुधाधौतैः प्रासादैरमरावतीम्॥"
—कथासरित्सागर, ११, ३१।

२. "श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा, तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुरं एवेति समानं पूर्वेण।" काव्यमीमांसा, अध्याय १०।

३. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ५५६। द्रष्टव्य—मेरा लेख, प्राचीन उज्जयिनी : एक ऐतिहासिक परिचय, पृष्ठ ७३, हिन्दुस्तानी, भाग २१, अङ्क १, १९६०।

इसके निवासियों की प्रथाएँ गुजरात के निवासियों की प्रथाओं से बहुत अधिक मेल खाती थीं। नगर के भीतर मन्दिर बहुसंख्या में बने हुए थे।[१] बाणभट्ट ने भी, जिसका काल यही (सातवीं शताब्दी) था, कादम्बरी में इसका वर्णन एक समृद्धिशाली नगर के रूप में किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर शिप्रा के तट पर स्थित तथा तीनों लोकों में श्रेष्ठ था (**सकलत्रिभुवनललामभूता**)।[२] इसके चतुर्दिक एक गहरी खाईं तथा एक ऊँचा प्राकार था। नगर के भीतर चित्रशालाएँ बनी थीं, जिनमें सुर, असुर, सिद्ध, गन्धर्व तथा विद्याधरों के चित्र बने हुए थे (सुरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिः)।[३] इस पुर के नागरिक परिहासपेशल, उज्ज्वल वेष वाले, वक्रोक्ति में निपुण, आख्यायिका एवं आख्यान के परिचय में चतुर, सम्पूर्ण लिपियों के ज्ञान रखनेवाले, महाभारत, पुराण एवं रामायण में अनुराग रखने वाले, कलाओं में पारङ्गत तथा वेदों में प्रेम रखने वाले थे। इसने अमृत के फेन के समान धवल उत्तुङ्ग सौधों की विलक्षण कान्ति के द्वारा अमरलोक की शोभा को भी जीत लिया था।[४] कादम्बरी के अनुसार उज्जयिनी शाखानगर से युक्त था। शाखानगर उस उपनगर को कहते थे, जो कि मूलनगर के उपकण्ठ पर स्थित होता था। शिल्परत्न में कहा गया है कि शाखानगर उस सन्निवेश को कहते हैं, जो कि नगर की सीमा पर स्थित हो (नगरोपान्ते)।[५] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार बढ़ी हुई जनसंख्या को स्थान देने के लिये मूलनगर के उपकण्ठ पर जो उपनगर (मूलनगरादन्यत् पुरम्) बसाया जाता है, वही शाखानगर है।[६]

उज्जयिनी का वर्णन कालान्तर के ग्रन्थों में भी मिलता है; उदाहरणार्थ, नवसाहसाङ्कचरित। इस ग्रन्थ की रचना पद्मगुप्त ने दसवीं शताब्दी में की थी। कादम्बरी की भाँति इसमें भी कहा गया है कि उज्जयिनी के विलक्षण सौन्दर्य को देखकर

---

१. वाटर्स, १, २५०।
२. कादम्बरी, १०२।
३. वही, १०२।
४. "विजितामरलोकद्युतिरिवान्तीषूज्जयिनी नाम नगरी"—वही, १०८।
५. शिल्परत्न, अध्याय ५।
६. "मूलनगरेऽसम्मितस्य जनौघस्य मूलनगरस्य समीपेऽङ्के वा यदन्यत् पुरं क्रियते तत् शाखानगरम्।" शब्दकल्पद्रुम, भाग ५, पृष्ठ ४४।
तुलनार्ह :—
"आरभ्य मूलनगरादपरं नगरं हि यत्।
तदभिष्यन्दि रमणं शाखानगरमित्यपि॥"—वही, भाग ५, पृष्ठ ४४।

देवपुरी अमरावती लज्जित हो जाती थी।[१] इस ग्रन्थ के अनुसार उज्जयिनी की परिखा काफी चौड़ी थी। दर्शक को ऐसा प्रतीत होता था, मानों नगर के चतुर्दिक् यमुना नदी बह रही हो। इस परिखा में कलहंसों के समूह गुञ्जार कर रहे थे तथा कमलों की पंक्तियाँ सुशोभित थीं।[२] ग्रन्थकार ने उज्जयिनी के वप्र तथा प्राकार का भी उल्लेख किया है। नगर के भीतर सुधाधौत गृह सुशोभित थे। इनकी कान्ति वराङ्गनाओं के निवास के कारण द्विगुणित हो उठी थी।[३] शिप्रा के तट पर विलासी नागरिकों के आमोद-प्रमोद के निमित्त लतागृह बने हुए थे।[४] स्थान-स्थान पर रमणीक उपवनों एवं सरोवरों का निर्माण किया गया था, जहाँ पर पुरवासी भ्रमण एवं जलक्रीड़ा के निमित्त आते थे।[५]

अल्बरूनी ने भी अपने यात्राविवरण में इस नगर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह धारा से सात फरसाख (एक दूरीसूचक माप) पूर्व में स्थित था।[६] ब्रह्मपुराण में उज्जयिनी को महापुरी कहा गया है। इसके लेखक ने इस नगर के प्राकार, तोरण, अर्गलद्वार तथा परिखा का उल्लेख किया है। इसके अनुसार नगर के भीतर रम्य चत्वर, सुन्दर राजमार्ग तथा वीथियाँ सुशोभित थीं। इसकी बाज़ारों में वणिकों की दुकानें थीं, जिनमें विविध भाण्ड विक्रय के निमित्त केन्द्रित किये गये थे।[७] सड़कों के दोनों ओर प्रासादों का निर्माण किया गया था, जिनके कारण पुर की शोभा अन्वेक्षणीय थी। नागरिक गीत, वाद्य तथा गोष्ठी आदि के द्वारा अपना मनोविनोद किया करते थे। यहाँ के सरोवरों में हंस, कारण्डव,

---

१. "अस्ति क्षितावुज्जयिनीति नाम्ना पुरी विहास्यामरावतीव।"

—नवसाहसाङ्कचरित, सर्ग १, १७।

२. "आमञ्जुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिर्विकस्वराम्भोजरजः पिशङ्गाः।
आभाति यस्याः परिखा नितम्बे सशब्दजाम्बूनदमेखलेव॥"

—वही, १, १८।

३. "गृहाणि यस्यां सवराङ्गनानि।" वही, १, ४३।

४. "शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि।"

—वही, १, ५०।

५. "उद्यानवापीपयसीवयस्याम्।"

—वही, १, ५०।

६. साचो, १, २०२।

७. "नानावणिक्समाकीर्णा नानाभाण्डसुविक्रिया।"

—ब्रह्म पुराण, अध्याय ४१, पंक्ति ५१।

चक्रवाक, सारस एवं बलाक आदि पक्षी तथा कुमुद एवं उत्पल आदि विभिन्न पुष्प सुशोभित थे।[1] इस पुर की ललनाएँ गुणाढ्य, सम्पूर्ण अलङ्कारों से विभूषित, प्रियदर्शना, विदग्धा, रूप एवं लावण्य आदि से संयुक्त, नृत्य एवं गीत आदि में प्रवीण तथा कथा एवं आलाप में परम दक्ष थीं।[2]

यह नगर धर्म का भी एक महान् केन्द्र माना जाता था। भारत की सात मोक्षदायिका पुरियों में इसकी गणना होती थी। यहाँ पर प्रधान रूप से शिव की पूजा महाकाल के नाम से होती थी। लोगों का विश्वास था कि सम्पूर्ण कामों को पूर्ण करने वाले महाकाल त्रिलोचन शिव इस नगर की रक्षा करते हैं।[3] यहाँ पर महाकाल का एक प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसकी प्रदक्षिणा का एक बहुत बड़ा भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ माना जाता था।[4] इस देवालय में नृत्य, स्तोत्र, गीत तथा वाद्य का आयोजन किया जाता था तथा नैवेद्य एवं उपहार इत्यादि विधिवत् चढ़ाये जाते थे।[5] इस नगर में शिवकुण्ड नामक एक जलकुण्ड भी था, जिसमें सम्पूर्ण पापों के प्रक्षालन के निमित्त लोग स्नान करते थे तथा उसके उपरान्त

---

१. "अन्यैर्जलाशयैः पुष्पैः कुमुदोत्पलमण्डितैः।
पद्मैः सितेतरैः शुभ्रैः कह्लारैश्च सुगन्धिभिः॥"

—ब्रह्म पुराण, अध्याय ४१, ५९।

२. वही, अध्याय ४१।

३. "तत्रास्ते भगवान्देवस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः।
महाकालेति विख्यातः सर्वकामप्रदः शिवः॥"

—ब्रह्म पुराण, ४१, ६५।

तुलनार्ह :—

"यस्यां वसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम्।
शिथिलीकृत कैलासनिवासव्यसनो हरः॥"

—कथासरित्सागर, ११, ३२।

४. "गत्वा शिवालयं पश्चात् कृत्वा तं त्रिःप्रदक्षिणम्।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥"

—ब्रह्म पुराण, अध्याय ४१।

५. "नैवेद्यैरुपहारैश्च गीतवाद्यैः प्रदक्षिणैः।
दण्डवत्प्रणिपातैश्च नृत्यैस्तोत्रैश्च शङ्करम्॥
संपूज्य विधिवद्भक्त्या महाकालं सकृच्छिवम्॥"

—वही, अध्याय ४०, ६७-७०।

देवताओं, ऋषियों एवं पितरों का विधिपूर्वक तर्पण करते थे।[१] शिप्रा नदी के जल को लोग बहुत पवित्र मानते थे। लोगों की धारणा यह थी कि इसमें स्नान करने से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से विमुक्त हो जाता है तथा उसे स्वर्गलोक में विविध भोगों की प्राप्ति होती है।[२] इस धार्मिक भावना से आकृष्ट होने के कारण लोग बहुसंख्या में यहाँ आया करते थे।

उज्जयिनी की गणना भारतवर्ष के प्रसिद्ध बौद्धिक केन्द्रों में भी हुआ करती थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि उज्जयिनी में विद्वानों की एक मण्डली रहती थी, जो प्रसिद्ध काव्यकारों की कृतियों की परीक्षा लिया करती थी। यदि यह मण्डली किसी लेखक की कृति पर अपनी स्वीकृति दे देती थी, तो वह लोगों के द्वारा विशिष्ट रचना मान ली जाती थी। राजशेखर के अनुसार इस विद्वन्मण्डली ने कालिदास, भर्तृमेण्ठ, भारवि, अमरु, हरिचन्द्र तथा चन्द्रगुप्त आदि के ग्रन्थों की परीक्षा ली थी।[३] भारतीय परम्परा के अनुसार बहुत से साहित्यकारों का सम्बन्ध उज्जयिनी के साथ था। एक भारतीय जनश्रुति तो **धन्वन्तरि, कालिदास, वराहमिहिर, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर तथा वररुचि** आदि सभी विद्वानों को उज्जयिनी के विक्रमादित्य की सभा का नवरत्न मानती है।[४]

दशपुर—यह गुप्तकाल का एक प्रसिद्ध नगर था। इसका अत्यन्त मनोरम तथा रमणीय वर्णन मन्दसोर की प्रशस्ति में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार

---

१. ब्रह्म पुराण, अध्याय ४१।

२. "आस्ते तत्र नदी क्षिप्रा पुण्यानामेति विश्रुता।
तस्यां स्नातस्तु विधिवत् सन्तर्प्य पितृदेवताः।।
सर्वपापविनिर्मुक्ताः विमानवरमास्थिताः।
मुक्तः विविधान्भोगान्स्वर्गलोके नरोत्तमः।।"

—वही, अध्याय ४१, ७५-७६।

३. "श्रूयते च उज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
इहकालिदासमेंठौ अत्रामरुरूपसारभारवयः।।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।।"

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५।

४. "धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि नववररुचिर्विक्रमस्य।।"

यह नगर विश्व में अग्रणी था।[1] इसकी झीलों में कमल खिले थे तथा निरन्तर बतख तैर रहे थे। कूल पर स्थित वृक्षों से पुष्पों के गिर जाने के कारण जल विभिन्न रङ्गों से युक्त कान्ति को धारण कर रहा था। इन सरोवरों में कहीं पर राजहंस तैरते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे जिनका शरीर कमल की पङ्खुड़ियों के पराग से भूरा हो गया था तथा अन्यत्र कमल अपने पराग के कारण झुक गये थे। वहाँ की कमनीय वाटिकाओं में वृक्ष पुष्प-भार से अवनत थे। मतवाले भवरों की गुञ्जार तथा नगर-वधुओं की सुन्दर पद्गति से उपवनों की शोभा द्विगुणित हो उठती थी। भवनों की चोटी पर झण्डे लहरा रहे थे। उनमें रहने वाली कोमलाङ्गी स्त्रियों तथा उच्च भव्य अट्टालों के द्वारा उनका सौन्दर्य बढ़ गया था।[2] जिस समय इन घरों पर बिजली का प्रतिबिम्ब पड़ता था, उस समय उनकी कान्ति अनुपम हो जाती थी। ये अपनी ऊँचाई के कारण कैलाश पर्वत का स्मरण दिलाते थे। उनके प्राङ्गण में कदली वृक्ष आरोपित किये गये थे। वे सुन्दर चित्रों के द्वारा विभूषित थे तथा उनमें सङ्गीत की प्रतिध्वनि सुनाई देती थी। रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित इन भवनों के अनेक मञ्जिलों को देखने से लगता था, मानों ये पृथ्वी को फाड़कर एक ही समय ऊपर निकल आये हों।[3] यह नगर दो नदियों के द्वारा घिरा हुआ था। लगता था कि यौवन के उभाड़ से सुशोभित प्रीति तथा रति नामक स्त्रियाँ कामदेव का आलिङ्गन कर रही थीं। वहाँ के नागरिक सत्य, धैर्य, स्वाध्याय, कुशाग्र बुद्धि, विद्या, तप, क्षमा, दम, शम, व्रत आदि प्रशंसनीय गुणों से युक्त थे।[4]

कुमारगुप्त प्रथम के राज्यपाल (**गोप्ता**) विश्ववर्मा का यह नगर प्रधान अधिष्ठान था।[5] यह राजनीतिक कारण उसकी समृद्धि का मूल कारण प्रतीत होता है। मन्दसोर के अभिलेख से विदित होता है कि यह नगर व्यावसायिक केन्द्र भी था। इसके अनुसार लाट प्रदेश से तन्तुवाय-समिति के लोग इस प्रदेश में आये। वे पहले अकेले तथा तत्पश्चात् परिवारसहित वहाँ आये थे। वे कपड़ा बुनने के कार्य में

---

१. "दशपुरं प्रथमं मनोभिः।"—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९०।

२. "अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिर्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि।
चलत्पताकान्यवलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ॥"
सरकार, वही, पृष्ठ २९१।

३. सरकार, वही, पृष्ठ २९१।

४. "स्वाध्यायवृत्तविनयस्थितिबुद्ध्युपेतैः।
विद्यातपोनिधिभिरस्मयितैश्च विप्रैः॥"—सरकार, वही, पृष्ठ २९१-२९२।

५. "वभूव गोप्ता नृप विश्ववर्मा।" सरकार, वही, पृष्ठ २९३।

दक्ष थे।[१] इसके अतिरिक्त वे अन्य कलाओं को भी जानते थे। उनमें से कतिपय धनुर्विद्या में पारंगत थे। उनके धनुष की टंकार कानों को सुख पहुँचाती थी। कुछ धार्मिक वचन कहने में प्रवीण, कुछ मधुर हितकारी बचन कहने में समर्थ, कुछ अत्यन्त विनययुक्त तथा कुछ कलाविद् थे।[२] कुछ ज्योतिषशास्त्र के मर्मज्ञ तथा कुछ युद्ध में धीर एवं शत्रुओं को नाश करने की शक्ति रखते थे। उनकी स्त्रियाँ सुन्दर थीं। वे अपने कुल की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने वाले एवं सत्यव्रतधारी थे। घनिष्ठ व्यक्तियों के साथ वे सहानुभूति रखते थे। जो उनमें विश्वास करता एवं उनके संसर्ग में आता था, उसके वे लोग अनुगृहीत होते थे। वे लोग कोमल हृदय वाले एवं सच्चरित्र थे तथा पृथ्वी पर देवता के तुल्य थे।[३]

तन्तुवाय-समिति के लोगों के द्वारा इस नगर में अद्वितीय भव्य सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया गया था। उन्होंने अपनी दस्तकारी से इसके निर्माण के लिये धन एकत्र किया था। यह मन्दिर चौड़े एवं ऊँचे शिखर से युक्त था। यह शिखर चन्द्रमा की रश्मिधारा के तुल्य धवल तथा पर्वतश्रृंग का स्मरण दिलाता था।[४] कालान्तर में इस मन्दिर के कुछ भाग नष्ट हो गये। उस समय इसी तन्तुवाय समिति ने इसका जीर्णोद्धार किया था।[५] यह नगर इस सुन्दर मन्दिर के द्वारा उसी प्रकार विभूषित रहता था, जिस प्रकार स्वच्छ चन्द्रमा के द्वारा आकाश।[६] नक्षत्रों के द्वारा नभमंडल के तुल्य यह नगर पुरवासियों के द्वारा सुशोभित था।[७]

वलभी---एक वैभवशाली नगर के रूप में वलभी का प्रथम आविर्भाव गुप्त-काल में हुआ। इस नगर की स्थापना भटार्क ने की थी। इसमें मैत्रकों की राज-धानी प्रतिष्ठित थी। य्वान् च्वाङ्ग ने अपने विवरण में वलभी (**फ-ल-पी**) का उल्लेख किया है। उसके अनुसार वलभी-राज्य की परिधि लगभग १२०० मील तथा नगर की परिधि ६ मील थी। वह लिखता है कि यहाँ की उपज, जलवायु तथा निवासियों की वेशभूषा एवं जीवनविधि मालवा के तुल्य थी। यह एक उर्वर एवं सम्पन्न क्षेत्र था। वलभी-राज्य में लगभग १०० बौद्ध मठ वर्तमान थे।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस पृष्ठ २९४।
२. सरकार, वही, पृष्ठ २९५।
३. सरकार, वही, पृष्ठ २९५।
४. सरकार, वही, पृष्ठ २९५।
५. सरकार, वही, पृष्ठ २९५।
६. सरकार, वही, पृष्ठ २९५।
७. सरकार, वही, पृष्ठ २९२।

इनमें ६००० भिक्षु रहते थे। ये सभी हीनयान मतावलंबी थे। य्वान् च्वाङ्ग ने इसमें ब्राह्मण-मन्दिरों के भी वर्तमान होने का उल्लेख किया है। उसके अनुसार वलभी में बौद्धेतर धर्मों के भी अनुयायी प्रचुर संख्या में वर्तमान थे। अशोक के द्वारा निर्मित स्तूप य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के समय यहाँ विद्यमान था। उस अवसर पर वहाँ एक क्षत्रिय-नरेश राज्य कर रहा था। इस सम्राट् से उसका तात्पर्य ध्रुवसेन से है। वह कान्यकुब्जाधिपति हर्ष-शीलादित्य का दामाद था। वह संकुचित दृष्टिकोण का व्यक्ति तथा स्वभाव से उतावला एवं जल्दबाज था। बौद्ध धर्म में उसकी प्रगाढ़ आस्था थी।[1] य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार वलभी के नागरिक अत्यन्त सम्पन्न थे। उनमें से बहुतेरे लखपति थे। इस नगर की बाजारों में सुदूर देशों से असाधारण वस्तुएँ विक्रय के निमित्त आती थीं।[2]

यह नगर नालन्दा का प्रतिद्वन्द्वी पश्चिमी शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ पर एक विश्वविद्यालय वर्तमान था, जो मैत्रक-नरेशों के दान के कारण आर्थिक दृष्टि से काफी समृद्ध था। इत्सिङ्ग लिखता है कि नालन्दा के समान वलभी में भी छात्रों को विशेषाध्ययन की क्रिया में तीन वर्ष लग जाते थे। उसके अनुसार शङ्का-समाधान के निमित्त देश के प्रत्येक भाग से जिज्ञासु वलभी आते थे।[3] वहाँ के विश्वविद्यालय का शिक्षा-सङ्गठन नालन्दा के विश्वविद्यालय के शिक्षासङ्गठन से दो दृष्टियों से पृथक् था। प्रथम भेद यह था कि वलभी में यद्यपि धार्मिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी, तथापि प्रधानता लौकिक विषयों को ही दी जाती थी; उदाहरणार्थ; नीति, वार्ता एवं चिकित्साशास्त्र।[4] यही कारण है कि वलभी-विश्व-विद्यालय के स्नातकों की नियुक्ति शासनसम्बन्धी उच्च पदों पर की जाती थी।[5] नालन्दा-विश्वविद्यालय में प्रधान रूप से धार्मिक विषयों की पढ़ाई होती थी। दूसरा अन्तर यह था कि जहाँ नालन्दा के विद्यार्थी महायान शाखा में विशेषज्ञता प्राप्त करते थे, वहाँ वलभी के भिक्षु हीनयान मत का विशेष अध्ययन करते थे। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि वलभी के मठों में हीनयान पुजारी रहते थे।[6]

---

१. वाटर्स, २, २४६।

२. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ५९।

३. इत्सिङ्ग, १७७।

४. अल्टेकर, ए० इ० ऐं० इं०, पृष्ठ १२६।

५. इत्सिङ्ग, १७७।

६. वाटर्स, २, २४६।

इत्सिङ्ग के अनुसार नालन्दा के समान वलभी के विश्वविद्यालय में भी विद्वानों के नाम इसके प्रधान द्वारों पर उत्कीर्ण किए जाते थे।[१] वलभी के जिन आचार्यों की प्रतिष्ठा देश में सर्वव्यापिनी थी, उनमें गुणमति एवं स्थिरमति उल्लेखनीय हैं। ये आचार्य अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा विद्वत्ता के कारण अत्यधिक सम्मानित थे। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि वलभी में इन दोनों विद्वानों के निवास के निमित्त एक सुन्दर विहार बना हुआ था।[२] यहाँ से प्राप्त धरसेन प्रथम के एक ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि उसने इन दोनों विद्वानों के निवास के निमित्त एक सुन्दर विहार का निर्माण किया था।[३] कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि देश के नाना भागों के विद्यार्थी अध्ययनार्थ वलभी आते थे। इसके अनुसार वसुदत्त का पुत्र विष्णुदत्त, जो कि अन्तर्वेदी का निवासी था, अध्ययनार्थ वलभी आया था। उस समय उसकी अवस्था केवल १६ वर्ष की थी।[४] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि यद्यपि विष्णुदत्त गङ्गा-घाटी का निवासी था तथा इस कारण नालन्दा एवं वाराणसी उसके लिये समीप पड़ते थे, तथापि वह अध्ययन के निमित्त वलभी आया था। यह घटना विद्या के क्षेत्र में इसकी प्रसिद्धि को प्रमाणित करती है। वलभी-नरेशों ने यहाँ के विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को ग्रन्थोपचयार्थ प्रभूत द्रव्य दिया था।[५] वलभी-नरेश विद्वानों के संरक्षक थे। भट्टिकाव्य के अनुसार वलभी-सम्राट् श्रीधरसेन ने इस ग्रन्थ के लेखक भट्टि का संरक्षण किया था।[६]

भृगुकच्छ—भृगुकच्छ एक प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय नगर था। यह कई अन्य नामों से भी प्रसिद्ध था, उदाहरणार्थ **भृगुपुर, भरुकच्छ,** तथा **भृगुतीर्थ**।[७] विदेशी

---

१. इत्सिङ्ग, १७७।

२. वाटर्स, २, २४६।

३. "मया वलभ्यामाचार्यभदन्तस्थिरमतिकारित . . विहारे"–इं० ऐं०, ६, ११।

४. "अन्तर्वेद्यामभूत्पूर्वं वसुदत्त इति द्विजः।
विष्णुदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योपजायत् ॥
स विष्णुदत्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सरः।
गंतुं प्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीपुरम् ॥"

—कथासरित्सागर, अध्याय ३२, ४२-४३।

५. "सद्धर्मस्य पुस्तकोपचयार्थम्।"—इं० ऐं०, ७, ६७।

६. "काव्यमिदं रचितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।"

—भट्टिकाव्य, सर्ग, २२, पंक्ति ६९।

७. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३३।

लेखों में इस नगर को बैरुगाज़ा[१], बैरीगज़ा[२] तथा बैर्गोसा[३] कहा गया है। भृगु के साथ इनके नाम के संबन्ध के ऊपर पुराणों में प्रकाश डाला गया है। इनके अनुसार भृगु ने यहाँ पर तपश्चर्या की थी। इस घटना के कारण लोग इसे तीर्थ (भृगुतीर्थ) मानने लगे।[४] परम्परा के अनुसार बलि ने अपने प्रसिद्ध यज्ञ का अनुष्ठान यहीं किया था। इसी स्थान पर उन्होंने अपने सम्पूर्ण राज्य को वामनवेषधारी भगवान् विष्णु को दान में दिया था।[५] लोगों के इस विश्वास के कारण इस नगर की महत्ता धार्मिक क्षेत्र में और अधिक बढ़ गई थी। प्रथम शताब्दी ईसवी में इसके तीर्थ के रूप में विद्यमान होने के विषय में एक अभिलेख-साक्ष्य मिलता है। नासिक के एक गुहा-लेख से ज्ञात होता है कि क्षत्रप-नहपान के दामाद उषवदात ने इस समय भृगुकच्छ में यात्रियों के विश्राम एवं सुविधा के निमित्त चतुःशालगृह तथा कूएँ और तालाब इत्यादि का निर्माण किया था (भरुकछे. . . . चतुशालावसध-प्रतिश्रय-प्रदेन आरामतड़ाग-उदपान-करेण)।[६] प्राचीन काल में कूप एवं तड़ाग के निर्माण का बहुत बड़ा माहात्म्य माना जाता था।[७]

भृगुकच्छ की प्रसिद्धि वाणिज्य के क्षेत्र में और भी अधिक थी। इसका कारण समुद्रतट पर इसका सन्निवेश था। पश्चिमी तट का यह सबसे बड़ा बन्दरगाह था। प्रथम शताब्दी ईसवी में उत्तर तथा मध्य भारत का समस्त आयात एवं निर्यात यहीं से होता था। बौधायन ने उत्तर भारत के निवासियों के सामुद्रिक

---

१. अल्टेकर, ऐं टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३३।

२. वही, पृष्ठ ३३।

३. स्ट्रेबो, ३, ११९।

४. "ततो गच्छेत् राजेन्द्र भृगुतीर्थमनुत्तमम्।
यत्र देवो भृगुः पूर्वं देवमाराधयत्पुरा॥"—कूर्मपुराण, २, अध्याय ४१।

५. अल्टेकर, वही, पृष्ठ ३४।

६. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १६१।

७. "अथ कूपकर्तुस्तत्प्रवृत्ते पानीये दुष्कृतस्यार्द्धं विनश्यति॥१॥
तड़ागकृन्नित्यतृप्तो वारुणं लोकमश्नुते॥२॥
जलप्रदः सदा तृप्तो भवति॥३॥
—विष्णु संहिता, १९॥

"अनाथं दुर्गतं विप्रं नाथवन्तमथापि वा।
उद्वाहयति यस्तीर्थे तस्य पुण्यफलं शृणु॥"—कूर्म पुराण, २, ३९, ७९।

व्यापार का उल्लेख किया है।[१] उनका यह सङ्केत भृगुकच्छ के सामुद्रिक व्यापार से हो सकता है। बूलर के अनुसार बौधायन का काल पाचवीं शताब्दी ईसा पूर्व था।[२] इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस समय तक यह नगर व्यापार-केन्द्र के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। इसकी पुष्टि बौद्ध धर्म-ग्रंथों से भी होती है। सुप्पारक जातक में भरुकच्छ के वणिकों की नौकायात्रा का उल्लेख मिलता है (भरुकच्छा पयातानं वणिजानं धनेसिनम्। नावाय विपणत्थाय...)।[३] इसके अनुसार बोधिसत्व ने सात सौ मित्रों के सात मणियों वाले समुद्र के लिये इस नगर से प्रस्थान किया था।[४] सुस्सोंदि जातक में इस नगर के व्यापारियों के द्वारा जलमार्गों से सुवर्णभूमि जाने का वर्णन उपलब्ध होता है (**तदा च भरुकच्छवणिजा नावाय सुवण्णभूमिं गच्छति**)।।[५]

व्यापारिक केन्द्र के रूप में पेरिप्लस में भृगुकच्छ (बैरीगाज़ा) का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है। इसके अनुसार यह उपयुक्त नौकाश्रय नहीं था। यहाँ जलपोतों को प्रवेश एवं प्रयाण की क्रिया में अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता था।[६] पेरिप्लस का कथन है कि बाहरी देशों से इस नगर में मदिरा, कस्तीर, सीसा, सूक्ष्म वस्त्र, कटिसूत्र तथा सुवर्ण एवं रजतमुद्राएँ मँगाई जाती थीं। राजा के लिये बहुमूल्य बर्तन, संगीत-निपुण बालक, सुन्दर युवतियाँ तथा अनुलेप आदि का आयात भड़ौंच के बन्दरगाह से होता था। ताँबा, राँगा, मूँगा, पोखराग, सङ्खिया, सुरमा तथा अच्छे से अच्छे रोगन भी यहाँ आते थे।[७] यहाँ से बाहर जाने वाली वस्तुओं में हाथीदाँत, रेशमी तथा सूती वस्त्र, मिर्च, बहुमूल्य पत्थर एवं मलमल उल्लेखनीय हैं।[८] जटामांसी, कुष्ठ, गुगुल, अकीक, लोहितांक, लिसियम एवं क्षौम वस्त्र आदि का भी निर्यात होता था।[९]

---

१. "**अथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः**
सीधुपानं उभयतोददिभर्व्यवहारः
आयुधीयकं समुद्रसंयानं इति।"—द्रष्टव्य—अल्टेकर, ए टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३४।

२. **अल्टेकर, वही, पृष्ठ ३४।** ३. **जातक, ४, १४०।**

४. **वही, ४, १४०।**

५. **वही, ३, १८८।**

६. **सार्थवाह (डॉ० मोतीचन्द्र), पृष्ठ ११७।**

७. **वही, पृष्ठ ११७।**

८. **पेरिप्लस, पृष्ठ ४२।** ९. **सार्थवाह, पृष्ठ ११७।**

उत्तरी भारत के नगरों के साथ इसका घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। यहाँ से एक व्यापार-पथ उज्जयिनी होता हुआ पाटलिपुत्र चला जाता था। उज्जयिनी से यहाँ लोहिताङ्क, मलमल, मलय वस्त्र तथा अनेक प्रकार के कपड़े आते थे।[१] दक्षिण भारत के भी व्यापारी बाहरी देशों में भेजने के लिए यहाँ पर माल ले आते थे। सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) के साथ इसका वाणिज्य-सम्पर्क था। यहाँ से बीस दिनों की यात्रा के उपरान्त लोग प्रतिष्ठान पहुँचते थे। वहाँ से पूर्व की दिशा में दस दिनों के रास्ते पर तगर नामक व्यापारिक केन्द्र स्थित था।[२] पेरिप्लस के वर्णन से लगता है कि काबुल (**काब्लीटिक**) के व्यापारी विदेशों में भेजने के लिये अपना माल इस बन्दरगाह को पहुँचाया करते थे।[३] टालमी ने काबुल के निवासियों को **'काबोलिटाई'** कहा है।[४] इसकी एकता पेरिप्लस के **'काब्लीटिक'** से की जाती है।

प्लिनी के अनुसार भारतवर्ष के व्यावसायिक इस बन्दरगाह से रोम में विलास की अगणित सामग्री भेजते थे। रोम के नागरिकों में भारतीय वस्तुएँ बहुत ही लोकप्रिय थीं। इस लेखक ने अपने देशवासियों के अपव्यय की घोर निन्दा की है। इनकी विलासप्रियता के कारण रोम-साम्राज्य की एक करोड़ मुद्राएँ प्रतिवर्ष भारतवर्ष चली आती थीं।[५] य्वान् च्वाङ्ग ने अपने विवरण में इस नगर की समृद्धि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उसके अनुसार इसके ऐश्वर्य का स्रोत समुद्र था।[६] जातकों के अनुसार इस नगर के सामुद्रिक व्यापार के ऊपर अरबी डाकुओं की लूट के कारण महान् क्षति पहुँचाई गई।[७] सातवीं शताब्दी में इस नगर में एक स्थानीय राजवंश की राजधानी थी। इसके शासक दद्द द्वितीय के एक दानपत्र में इस नगर के प्राकार का उल्लेख हुआ है।[८] डॉक्टर अल्टेकर का मत है कि इस राज्य में नर्मदा एवं मही के बीच का प्रदेश सम्मिलित था।[९] इस नगर की एकता आधुनिक भड़ौंच से की जाती है।

---

१. सार्थवाह पृष्ठ ११७। २. वही, पृष्ठ ११७।
३. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३४।
४. अल्टेकर, वही, पृष्ठ ३४।
५. प्लिनी, नैचुरल हिस्ट्री, १२, पृष्ठ १८।
६. बील, २, पृष्ठ २५९।
७. अल्टेकर, वही, ३५।
८. वही, पृष्ठ ३५।
९. वही, पृष्ठ ३५।

प्रभास—प्रभास की गणना भारतवर्ष के धार्मिक नगरों में की जाती थी। इसका प्रथम उल्लेख महाभारत में मिलता है। इस ग्रन्थ में इसे उदधि-तीर्थ (**प्रभासे चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर**) कहा गया है। यह सौराष्ट्र का **देवनगर** माना जाता था (तीर्थं त्रिदशानाम्)।[१] इससे प्रतीत होता है कि धार्मिक क्षेत्र में इसकी महत्ता का कारण समुद्र-तट पर इसकी स्थिति थी। पश्चिम समुद्र-तट पर स्थित नगरों में प्रारम्भ से ही इसकी विशेष ख्याति थी।[२] यहाँ पर लोग तपश्चर्या के साधन के निमित्त आया करते थे। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर प्रभास आये थे और बारह दिनों तक उन्होंने यहाँ कठोर तपश्चर्या की थी।[३] इस ग्रन्थ में इसे उत्तम तीर्थ तथा इसकी यात्रा को महान् फलों से युक्त माना गया है (**ततो गच्छेत् राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम्**)।[४] परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण अर्जुन से मिलने के निमित्त इस तीर्थ में आये हुये थे।[५] महाभारत के अनुसार यह आकर्षक एवं परम-रमणीय स्थान था (**सुपुण्यं रमणीयं च**)।[६] श्रीकृष्ण एवं अर्जुन यहाँ पर विहार के निमित्त आये हुए थे (**तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ**)।[७]

इसके उपरान्त प्रभास का उल्लेख नहपान के नासिक के गुहा-लेख में मिलता है। इसमें इसे पुण्यतीर्थ (**प्रभासे पुण्यतीर्थे**) कहा गया है।[८] इसके अनुसार नहपान ने ब्राह्मणों को द्विजकन्याओं को दान दिया था (**ब्राह्मणेभ्यः अष्टभार्याप्रदेन**)।[९] पद्मपुराण में अलङ्कारयुक्त द्विजकन्याओं के दान को भौतिक एवं आध्यात्मिक फलों का प्रदायक बताया गया है।[१०] अफसढ़ के लेख के अनुसार

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ९४, ३।

२. "समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान॥"
—वही, आदिपर्व, अध्याय २३९, श्लोक २।

३. "समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः।"
—वही, वनपर्व, अध्याय ९४,१७।

४. वही, वनपर्व, अध्याय ९४।

५. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३०।

६. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २३९, २१।

७. अल्टेकर, वही, पृष्ठ ३१।

८. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १६१।

९. वही, पृष्ठ १६१।

१०. "सालंकारां द्विजश्रेष्ठ कन्यां यच्छति यो नरः।
स गच्छेद् ब्रह्मसदनं पुनर्जन्म न विद्यते॥"—पद्मपुराण, अध्याय २४, २२।

दामोदरगुप्त ने परम गुणसम्पन्न एवं विभूषणवती ब्राह्मणतरुणियों का पाणिग्रहण पुण्यार्जन के निमित्त सम्पन्न कराया था।[१] नासिक के लेख के अनुसार प्रभास आने के पूर्व नहपान ने ब्राह्मणों को भोजनदान, गोदान, सुवर्णदान एवं ग्रामदान किया था।[२] पुराणों में इन सभी प्रकार के दानों को अत्यन्त श्रेयस्कर बताया गया है।[३]

कालान्तर में यही नगर सोमनाथ के नाम से विख्यात हुआ। सर्वप्रथम अग्नि-पुराण में प्रभास का दूसरा नाम सोमनाथ दिया गया है (**तीर्थं चर्मण्वती सिन्धुः सोमनाथः प्रभासकम्**)।[४] इससे कहा जा सकता है कि लगभग तृतीय शताब्दी ईसवी में इसका यह नाम पड़ चुका था।[५] कूर्म पुराण के अनुसार यहाँ पर एक शिव-मन्दिर विद्यमान था।[६] डॉक्टर अल्टेकर का मत है कि इसकी स्थापना पहली शताब्दी ईसवी के लगभग हुई होगी, क्योंकि इसके पूर्व के ग्रन्थों में इसका उल्लेख

---

१. "गुणवद्द्विजकन्यानां नानालङ्कारयौवनवतीनाम्।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम्॥"
का० इं० इं०, भाग ३, लेख-संख्या ४२, श्लोक १२।

२. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १६१।

३. उदाहरणार्थ भोजनदान के निमित्त निम्न श्लोक:—
"अन्नं वारि द्विजश्रेष्ठ येन दत्तं महीतले।
तेन दत्तानि दानानि सर्वाणि च द्विजर्षभ॥"—पद्मपुराण, अध्याय २४, ४१।
गोदान:—
"सप्तद्वीपां महीं दत्त्वा यत्पुण्यं प्राप्यते द्विज।
तत्पुण्यं प्राप्णुयान्मर्त्यो धेनुं यच्छन् द्विजातये॥"—वही, अध्याय २४, १३।
सुवर्णदानः—
"तिलप्रमाणं स्वर्णं यो ब्राह्मणाय प्रयच्छति।
हरेर्निकेतनं याति युक्तं कोटिकुलैरपि॥"—वही, अध्याय २४, १८।
भूमिदान:—
"क्षितिं सशस्यां यो दद्याद्ब्राह्मणाय द्विजोत्तम।
विष्णुलोके सुखं भुङ्क्ते यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥"—वही, अध्याय २४, ३।

४. अग्निपुराण, अध्याय १०९, पंक्ति २०।

५. अल्टेकर, एँ० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३०।

६. "अन्यच्च तीर्थप्रमुखं सिद्धवासमुदाहृतम्।
प्रभासमिति विख्यातं यत्रास्ते भगवान्भवः॥"—कूर्म पुराण, अध्याय ३५।

कहीं भी नहीं मिलता।[१] शिवमन्दिर के निर्माण के कारण इस नगर की ख्याति धार्मिक क्षेत्र में विशेष रूप से बढ़ने लगी। इब्न-असीर के लेख से ज्ञात होता है कि तीर्थाटन करने वाले सहस्रों की संख्या में सोमनाथ आते थे। उसके अनुसार तीर्थ-सेवियों के क्षौर-कर्म के लिये यहाँ पर ३०० नाई लगे हुए थे।[२] इब्न-असीर के इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि सोलङ्कियों की राज्यसीमा पर वर्तमान बाहुलोड़ में यात्री-कर से प्रतिवर्ष ७२ लाख की आय हुआ करती थी।[३] इब्न-असीर के अनुसार सोमनाथ के शिवमन्दिर की आर्थिक सहायता के निमित्त भारतीय राजाओं ने कई ग्राम दान दिये थे।[४] इन ग्रामों में अधिकांश वलभी-शासकों एवं सोलङ्कियों के द्वारा दिये गये होंगे, जो कि शैवमतावलम्बी थे। मूलराज इस मन्दिर के दर्शनार्थ प्रतिवर्ष आया करता था।[५] प्रायः सभी वर्गों के लोग सोमनाथ के मन्दिर में दान चढ़ाया करते थे, जिसके फलस्वरूप इसकी समृद्धि प्रसिद्ध थी।[६] मुसलमान यात्रियों के लेखों से विदित होता है कि इस धार्मिक भवन में देश की अतुल धनराशि सञ्चित थी। इसमें सुवर्ण-जटित खम्भे वर्तमान थे, जिनसे लगी हुई सोने की एक जञ्जीर थी। इसकी तौल २०० मन के लगभग थी। महमूद के द्वारा इस मन्दिर से लूट में प्राप्त हुई सम्पत्ति का मूल्य २ अरब दीनार के लगभग था।[७]

समुद्रतट पर स्थित होने के कारण यह नगर व्यापार एवं वाणिज्य का भी एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। अल्बरूनी के अनुसार यह एक ऐसा बन्दरगाह था, जहाँ पर जहाज बहुत सरलता के साथ लग सकते थे।[८] मेरुतुङ्ग लिखता है कि एक बार भयङ्कर तूफान के कारण कतिपय जहाज इस बन्दरगाह में सुरक्षा के हेतु आकर लग गये। वनराज के पौत्र योगराज ने इनमें भरे हुये माल को लूट लिया।[९] बंदरगाह होने के कारण ही इसके नाम में पट्टण शब्द जुट गया (**सोमनाथपट्टण**)। शिल्प-

---

१. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३०।
२. वही, पृष्ठ ३१।
३. अल्टेकर, पृष्ठ ३१।
४. वही, पृष्ठ ३१।
५. वही, पृष्ठ ३१।
६. अल्टेकर, पृष्ठ ३१।
७. वही, पृष्ठ ३१।
८. वही, पृष्ठ ३१।
९. वही, पृष्ठ ३१।

शास्त्रों के अनुसार पत्तन उस नगर को कहते हैं, जो कि समुद्रतट पर स्थित हो (अब्धितीरप्रदेशे)[१] तथा जहाँ पर विदेशों से माल आता हो (द्वीपान्तरागतवस्तु-भिर्युक्तम्)।[२]

इस नगर के ऊपर कई बार विदेशी आक्रमण हुए। सर्वप्रथम १०२४ ई० में महमूद गज़नी ने इसके ऊपर आक्रमण किया। हिन्दुओं ने शिव-मन्दिर की रक्षा के लिये प्राणपण लगा दिये। युद्ध का निर्णय तीन दिनों तक नहीं हो सका। अन्त में सफलता मुसलमानों के हाथ रही। लगभग पचास हजार हिन्दू मारे गये। महमूद ने मन्दिर को बुरी तरह लूटा और ध्वस्त किया।[३] इस घटना के ३० वर्ष उपरान्त इसका पुर्ननिर्माण कुमारपाल के राज्यकाल में प्रारम्भ हुआ। यह निर्माण-कार्य २ वर्ष में पूर्ण हुआ। इसके उपरान्त कुमारपाल ने आकर इस मन्दिर में वर्तमान शिवमूर्ति की वन्दना की।[४] इस पुर्ननिर्माण के १५० वर्ष पश्चात् इस नगर के ऊपर द्वितीय आक्रमण हुआ। १३०० ई० में अलफखाँ ने इस मन्दिर को ध्वस्त कर डाला।[५] अलफखाँ के लौट जाने के अनन्तर इसकी संस्कार-रचना जूनागढ़ के चूड़ाश्म सम्राट् खेन्गर चतुर्थ (१२७९-१३३३ ई०) के संरक्षण में सम्पन्न हुई। उसके गिरिनार के लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है (**श्रीप्रभासे सोमनाथ-प्रसादकृत्**)। इसके उपरान्त भी मन्दिर के ऊपर तीन आक्रमण हुए:—(१) १३९० ई० में मुजफ्फर खाँ का आक्रमण, (२) १४९० ई० में महमूद बेगद का आक्रमण तथा (३) १५३० ई० में मुज्जर द्वितीय का आक्रमण। इसने इस मन्दिर को मसजिद में परिवर्तित कर दिया।[६]

इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार महमूद के आक्रमण के समय यहाँ पर गुजरात की राजधानी थी। डॉक्टर अल्टेकर का मत है कि फरिश्ता का यह कथन ठीक नहीं है। उस समय गुजरात की राजधानी अणहिलपट्टण नामक नगर में विद्यमान थी।[७] इलियट के अनुसार जिस समय महमूद ने गुजरात के ऊपर आक्रमण किया, उस समय वहाँ के शासक भीमदेव प्रथम ने अपनी राजधानी

---

१. मानसार, अध्याय १०।

२. मयमत, अध्याय १०।

३. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३१।

४. वही, पृष्ठ ३२।

५. वही, पृष्ठ ३२।

६. वही, पृष्ठ ३२।

७. अल्टेकर, वही, पृष्ठ ३२।

अणहिलपट्टण को छोड़कर कच्छ में शरण ली थी।[१] पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सोमनाथ की एकता आधुनिक वेरावल से की है।[२]

गिरिनगर—गिरिनगर सौराष्ट्र का एक प्रसिद्ध प्राचीन नगर था। इसका यह नाम पड़ने का कारण एक सुन्दर पर्वत के समीप इसकी स्थिति थी।[३] इस पर्वत् के दो नाम थे :—(१) उज्जयन्त और (२) रैवतक। ये दोनों नाम स्कन्द-गुप्त के जूनागढ़ के लेख[४] तथा कीर्तिकौमुदी[५] में आते हैं। इस पर्वत के कारण यह एक पवित्र तीर्थ माना जाता था। महाभारत में उज्जयन्त को सुराष्ट्र का **पुण्य-गिरि** कहा गया है। इस पर्वत् का शिखर सिद्धों और मुनियों का निवासस्थान था।[६] इस गिरि के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध इसके तीर्थ होने का प्रारम्भिक कारण था।[७]

---

१. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ ३२।

२. वही, पृष्ठ २९।

३. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २०।

४. "इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गताः
पलाशिनीयं सिकता-विलासिनी।
समुद्रकान्ताः चिर-बन्धनोषिताः
पुनः पतिं शास्त्र-यथोचितं ययुः॥२८॥
अवेक्ष्य वर्षागमजं महोद्गमं
महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना।
अनेक-तीरान्तज-पुष्प-लोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः॥२९॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०५।

५. "कथंचिदापृच्छ्य तमीशमार्थमाद्यन्नसौ रैवतकं जगाम।
तमुज्जयन्तापरसंज्ञमद्रिम॥"—इस उद्धरण के लिए द्रष्टव्य :—
अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २०।

६. "उज्जयन्तश्च शिखरो क्षिप्रं सिद्धकरो महान्॥
तत्र देवर्षिवीरेण नारदेनानुकीर्तितः।
पुराणः श्रूयते श्लोकः तं निबोध युधिष्ठिर॥
पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते॥"
—महाभारत, ३, ८८, २५-२६।

७. अल्टेकर, वही, पृष्ठ २१।

स्कन्द पुराण में इसकी पवित्रता का एक दूसरा कारण दिया गया है। इसके अनुसार इस पर्वत् पर शङ्कर ने कठोर तपश्चर्या की थी। तपस्या की समाप्ति के उपरान्त कैलाश जाते समय उन्होंने अपना वस्त्र वहीं छोड़ दिया, जिस कारण इसे लोग **"वस्त्रपथ"** कहने लगे।[1] जैन मतावलम्बी भी इसे अपना तीर्थ मानते थे। इनके अनुसार बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की मृत्यु यहीं हुई थी।[2] अशोक के काल के यहाँ पर आठ लेख प्राप्त हुए हैं। इस समय से बौद्ध लोग भी इसे पवित्र मानने लगे।[3]

रैवतक की ख्याति विहारभूमि के रूप में भी प्रारम्भिक काल से ही थी। महाभारत के अनुसार कृष्ण एवं पांडव (अर्जुन) मनोविनोद के निमित्त रैवतक पर आये थे।[4] इस ग्रन्थ में इस पर्वत् पर नागरिकों के द्वारा एक सामूहिक उत्सव मनाने का उल्लेख मिलता है। इस समय वादकों ने विभिन्न प्रकार के बाजे बजाये। नर्तकों ने अपना नृत्य दिखाया। गायकों ने गीत सुनाये। स्त्री एवं पुरुष समुदाय के इस उत्साह के कारण रैवतक की शोभा द्विगुणित हो उठी।[5] कीर्तिकौमुदी में भी इस पर्वत् पर नागरिकों के विहारार्थ एकत्र होने का उल्लेख मिलता है।[6]

पर्वत के समीप स्थित होने के कारण यह नगर राजधानी के लिये चुना गया। गिरिनगर की तुलना कौटिल्य के पर्वतदुर्ग के साथ की जा सकती है, जिसमें नागरिकों की सुरक्षा अधिक हो सकती थी (**पर्वतदुर्गं जनपदारक्षस्थानम्**)।[7] मौर्यों के काल में यहाँ पर सौराष्ट्र प्रान्त की राजधानी थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में वैश्य पुष्यगुप्त तथा अशोक के काल में यवनराज तुषास्फ यहाँ पर राज्यपाल के रूप में रहते थे (मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य

---

१. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २१।

२. वही, पृष्ठ २१।

३. वही, पृष्ठ २१।

४. "तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः॥"—महाभारत, १, २१८।

५. "वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन्।
ननृतुर्नर्तकाश्चान्ये जगुर्गेयानि गायकाः॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक् पृथक्।
तमुत्सवं रैवतकं शोभयाञ्चक्रिरे नृप॥"—महाभारत, १, २१९।

६. अल्टेकर, वही, पृष्ठ २१।

७. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ४१ (शास्त्री)।

मौर्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय)।[१] शकक्षत्रप रुद्रदामन के काल में भी यह सौराष्ट्र का अधिष्ठान (राजधानी) था (इहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्त्त-सुराष्ट्रानां)।[२] जब ईश्वरदत्त आभीर ने पश्चिमी क्षत्रपों से उज्जयिनी को छीन लिया, उस समय इन लोगों ने अपनी राजधानी गिरिनगर में स्थापित की।[३]

स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में यहाँ पर सौराष्ट्र का राज्यपाल पर्णदत्त रहता था। जूनागढ़ के लेख से ज्ञात होता है कि यह स्कन्दगुप्त का एक अत्यंत सुयोग्य कर्मचारी था। उसने पर्णदत्त को सौराष्ट्र प्रान्त के लिये सब प्रकार से उपयुक्त देखकर[४] उसे इसकी रक्षा का भार सौंपा।[५] जिस प्रकार वरुण को पश्चिमी दिशा का भार सौंपकर देवता लोग सन्तुष्ट हो गये, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त इसे अपने साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्त का रक्षक नियुक्त कर सन्तुष्ट हो गया था।[६] पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरिनगर का पुरपति नियुक्त किया। गुप्तों के उपरान्त इस नगर में वलभी के मैत्रकों का राज्यपाल रहता था। य्वान् च्वाङ्ग सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों का पर्यटन करता हुआ वलभी-राज्य में आया हुआ था। वह लिखता है कि गिरिनगर (**येन-चेन-त=उज्जयन्त**) के उपकण्ठ पर स्थित था।[७] वलभी के मैत्रकों के अधःपतन के उपरांत उनका गिरिनगर-राज्यपाल स्वतन्त्र हो गया। उसने चूडाश्मा वंश की नींव डाली। तदुपरान्त नवीं शताब्दी तक इस राजवंश की राजधानी गिरिनगर में प्रतिष्ठित थी।[८]

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७१।

२. वही, पृष्ठ १७४।

३. अल्टेकर, ऐं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २१।

४. "सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान्।
आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०२।

५. "एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन नैकानहो-रात्र-गणान्स्वमत्या।
यः संन्नियुक्तोऽर्थनया कथञ्चित् सम्यक्सुराष्ट्रावनि-पालनाय॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०२।

६. "नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां स्वस्था यथानोन्मनसो बभूवुः।
पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं नियुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत्॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०२।

७. वाटर्स, २,२४९।

८. अल्टेकर, वही, पृष्ठ २१।

नवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस वंश के नरेशों ने अपनी नवीन राजधानी समीपस्थ नगर वामनस्थली में स्थानान्तरित की थी।[1]

गिरिनगर के उल्लेखनीय स्थानों में नेमिनाथ का भव्य मन्दिर आता था। इसका निर्माण बारहवीं शताब्दी में सिद्धराज जयसिंह (१०९४-११४३ ई०) के राज्यपाल सज्जन के द्वारा किया गया था। इसके निर्माण में काठियावाड़ की तीन वर्ष की आय लगाई गई थी। तदनन्तर कुमारपाल (११४४-११७४ ई०) के मन्त्री उदयन के पुत्र अम्बक ने मन्दिर के चतुर्दिक सीढ़ियों का निर्माण कराया।[2] गिरिनगर का सबसे महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय स्थान सुदर्शन कासार था। इसका निर्माण चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में राज्यपाल पुष्यगुप्त के द्वारा किया गया। अशोक के प्रान्तपति यवन तुषास्फ ने सिंचाई की सुविधा के लिये इससे नालियाँ निकालीं **(प्रणालीभिरलंकृतम्)**।[3] शकक्षत्रप रुद्रदामन के काल में जलप्लावन के कारण कासार के किनारे का बाँध टूट गया, जिससे नागरिकों में हाहाकार मच गया। (पुन: सेतुबन्ध-नैराश्याद्हाहाभूतासु प्रजासु)।[4] प्रजा के इस कष्ट के निवारणार्थ रुद्रदामन के सुराष्ट्र-राज्यपाल पह्लव सुविशाख के द्वारा इसका पुनर्निर्माण किया गया (सुराष्ट्रानां पालनार्थंन्नियुक्तेन पह्लवेन सुविशाखेन)।[5] उसने पहले से तिगुना बड़ा एक दृढ़ सेतु का निर्माण किया। इससे सुदर्शन तड़ाग की शोभा द्विगुणित हो उठी। (त्रिगुण-दृढ़तर-विस्तारायामं सेतुं विधाय...सुदर्शनतरं कारितमिति)।[6] ४५५ ई० में (गुप्त संवत् १३६ के भाद्रपद की षष्ठी को) यह बाँध पुनः टूट गया।[7] इसका कारण भीषण जलवर्षा थी। इसके फलस्वरूप कृषकों को बहुत बड़ी क्षति पहुँची।[8] उनके कष्ट का कोई

---

१. अल्टेकर, एं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २१।
२. अल्टेकर, वही, पृष्ठ २२।
३. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस पृष्ठ १७१।
४. वही, पृष्ठ १७४।
५. वही, पृष्ठ १७४।
६. वही, पृष्ठ १७४।
७. "संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्तप्रकाले गणनां विधाय॥"—वही, पृष्ठ ३०५।
८. "अथ क्रमेणाम्बुद-कालमागते निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः।
ववर्ष तोयं बहुसन्ततं चिरं सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात्॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०५।

पारावार नहीं था (विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः)।[१] राजकीय हित एवं नागरिकों के लाभ को दृष्टि में रखते हुए (राज्ञो हितार्थं नगरस्य)[२] पुरपति चक्रपालित ने गुप्तसंवत् १३७ (४५६ ई०) में एक नवीन बाँध (सुदृढ़ सेतु) बनवाया था।[३] इस निर्माण के कारण स्थानीय निवासी दुर्भिक्षमुक्त हो गये। यह नवनिर्मित बाँध लगभग १०० हाथ लम्बा (आयामतो हस्तशतं समग्रं), ६८ हाथ चौड़ा (विस्तारतः षष्ठिरथापि चाष्टौ) था। इसे सात मनुष्यों के ऊँचाई के बराबर ऊपर उठाया गया था (उत्सेधोऽन्यत् पुरुषाणिसप्त)।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि मैत्रकों के काल से राजधानी के स्थानान्तरित होने के कारण सुदर्शन तड़ाग उपेक्षित होने लगा। सम्भवतः यही कारण है कि गुप्तकाल के उपरान्त इस सरोवर के इतिहास के विषय में किसी भी साधन से सूचना नहीं उपलब्ध होती।[५] इस नगर की पहचान आधुनिक जूनागढ़ (यवनगढ़) से की जाती है।[६]

द्वारका—महाभारत तथा हरिवंश में कृष्ण को इस नगर का संस्थापक माना गया है।[७] यह नगर समुद्र के तट पर स्थित था।[८] हरिवंश में इसके परिमाण का वर्णन अतिशयोक्ति के साथ करते हुए कहा गया है कि यह नगर १२ योजन लम्बा तथा ८ योजन चौड़ा था।[९] इसके चतुर्दिक एक ऊँचा प्राकार था, जो श्वेत वर्ण का था।[१०] इसके चारो ओर एक गहरी खाईं भी थी, जिसमें कमल खिले हुये थे तथा हंस एवं कारण्डव आदि तैर रहे थे।[११] जनसंख्या की विशालता के कारण

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०५।

२. वही, पृष्ठ ३०५।

३. वही, पृष्ठ ३०५।

४. वही, पृष्ठ ३०६।

५. अल्टेकर, एं० टा० सि० गु० का०, पृष्ठ २२।

६. वही, पृष्ठ २०।

७. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, ६२।

८. "भूषयन्ती समुद्रं सा स्वर्गमिन्द्रपुरी यथा।"
—वही, अध्याय ५८, पंक्ति ९७।

९. "अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम्।"
—वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, ५४।

१०. वही, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति १०५।

११. "पद्मखण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिर्वृतां पुरीम्॥"
—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, ११।

नगर के भीतर कोलाहल मचा रहता था।[1] इसमें श्रेष्ठ प्रासादों का सन्निवेश किया गया था। ये भवन सङ्गीत के द्वारा प्रतिध्वनित तथा पताकाओं से युक्त थे।[2] इनकी चोटियाँ अमृत के फ़ेन के समान धवल थीं।[3] इन भवनों के द्वारा द्वारकापुरी उसी प्रकार सुशोभित थी, जिस प्रकार सफेद बादलों के द्वारा आकाशमण्डल।[4]

पुर के भीतर सरोवर बने हुए थे, जिनमें सुगन्धियुक्त कमलों की पंक्तियाँ सुशोभित थीं। हंस तथा कारण्डव आदि के जल में तैरने के कारण इन तालाबों की शोभा और भी अन्वेक्षणीय थी। सरोवरों के किनारे वृक्षों का आरोपण किया गया था।[5] नगर के भीतर आठ मार्ग तथा सोलह चत्वर थे।[6] द्वारका को देखने से ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों किसी आयत नेत्र वाली वनिता ने चारो ओर से अपने अङ्गों को सिकोड़ लिया हो।[7] समुद्र-तट पर स्थित वह नगरी उसी प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्रपुरी।[8] समुद्र के जलकणों से सिक्त होने के कारण द्वारका में शिशिर मारुत बह रहा था।[9] नागरिकों से युक्त वह पुरी तारों से खचित आकाश के समान रमणीय प्रतीत हो रही थी।[10]

---

१. "पृथिव्यां पृथुराष्ट्रायां जनौघप्रतिनादिता"। वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, पंक्ति १०२।

२. वही, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति ५९।

३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति १९।

४. "ददृशे द्वारका रम्या चारुमेघैर्द्यौरिव संवृता"। हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, पंक्ति ७५।

५. "पद्माकुलजलोपेतैः रक्तसौगन्धिकोत्पलाः।
मणिमौक्तिकबालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च॥
तासां परमकूलानि शोभयंति महाद्रुमाः॥"—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ४२-४३।

६. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, पंक्ति २८।

७. "समंततः संवृताङ्गी वनितेवायतेक्षणा"। हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति ९४।

८. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति ६२।

९. "ओघैः वारिराजस्य शिशिरीकृतमारुता"। हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति १०२।

१०. "सतारका द्यौरिव सा द्वारका प्रत्यराजत"। वही, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति १०४।

इस नगर का वर्णन शिशुपालवध में भी मिलता है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि समुद्र की ऊँची लहरें पुरी के प्राकार को अपनी ऊँचाई से जीतने के लिये दूर तक उठ आती थीं और समीप आकर अपने अभीष्ट को न पाने के कारण लज्जित हो वहीं विलीन हो जाती थीं।[१] नगर के भीतर अप्सराओं के समान सुन्दर रमणियाँ झरोखों एवं अटारियों पर बैठ कर विहार करती थीं।[२] बाजारों में ढेरी के रूप में सामग्रियाँ रखी गई थीं।[३] दर्पणतल की भाँति स्वच्छ समुद्र के जल में नगर की अनुपम छटा की छाया पड़ रही थी।[४]

कृष्ण के द्वारा निर्मित तथा समुद्र-तट पर स्थित होने के कारण यह नगर धर्म का एक प्रतिष्ठित केन्द्र बन गया था। इसके धार्मिक माहात्म्य का वर्णन पुराणों में विशेष रूप से मिलता है। गरुड़ पुराण में कहा गया है कि द्वारका के सेवन से मनुष्य को आध्यात्मिक तथा भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है।[५] स्कन्द पुराण के लेखक ने कहा है कि द्वारकावासी को सैकड़ों राजसूय यज्ञों की प्राप्ति होती है।[६] वराहपुराण के अनुसार इस नगर के धार्मिक जीवन में वैष्णव धर्म का प्राधान्य था।[७]

---

१. शिशुपालवध, सर्ग ३, ४०।

२. वही, सर्ग ३, ४३।

३. वही, सर्ग ३, ३८।

४. वही, सर्ग ३, ३५।

५. "द्वारका च पुरी रम्या भुक्तिमुक्तिप्रदायिका"।
—गरुड़ पुराण, अध्याय ८१, पंक्ति ५।

६. "अश्वमेधसहस्रं तु राजसूयशतं कलौ।
पदेपदे च लभतेद्वारकां गच्छतो नरः" ॥—स्कन्द पुराण, अध्याय २२०, २८।

७. "द्वारकायां महाभागे वैष्णवानां सुखावहे।"
—वराह पुराण, पृष्ठ ८२५, पंक्ति ४५।

अध्याय ८

दक्षिण भारत के प्रधान नगर

कल्याण—यह दक्षिणी भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध नगर था। पेरिप्लस ने इसे **'कल्लियेन'** कहा है। उसके अनुसार यह **'दखिनाबदेस'** (**दक्षिणापथ**) का व्यापारिक नगर था।[१] उसके आगमन के समय यहाँ पर विदेशी व्यापार निषिद्ध था। यहाँ लङ्गर डालने वाले विदेशी जहाजों को भड़ौंच भेज दिया जाता था, जो कि इसका समीपवर्ती बन्दरगाह था।[२] कन्हेरी और जुन्नर के गुहा-लेखों में कल्याण का नाम एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र के रूप में उल्लिखित है। इनमें इस नगर के धनिक सौदागरों और व्यावसायिकों का नामोल्लेख भी हुआ है।[३]

पेरिप्लस के समय में कल्याण में व्यापार-निषेध का एक विशेष कारण था। इस समय शक दक्षिणी भारतवर्ष में सातवाहनों को दबाते जा रहे थे। कल्याण सातवाहन-राज्य के विदेशी व्यापार का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। अतएव उनके राज्य को आर्थिक क्षति पहुँचाने के लिये कल्याण जाने वाले विदेशी जहाजों को शकों ने लूटना प्रारम्भ किया होगा। वे उन्हें पकड़ कर भड़ौंच ले जाते होंगे। उस समय भड़ौंच पर शकों का आधिपत्य था। पेरिप्लस के अनुसार यह स्थिति **सरगनेस** (**शातकर्णि**) के पश्चात् की थी।[४] इस व्यापार-निषेध के कारण कल्याण की व्यापारिक महत्ता क्रमशः क्षीण होने लगी।

यही कारण है कि द्वितीय शताब्दी के लेखक टालमी के विवरण में पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों में कल्याण का नाम नहीं मिलता। द्वितीय शताब्दी के भारतीय अभिलेखों में भी इस नगर का नामोल्लेख नहीं है। इस समय के कार्ले के अभिलेख से निष्कर्ष निकलता है कि इस नगर के स्थान पर धेनुकाकटक महत्त्वपूर्ण व्यापार-केन्द्र बन गया था। इस लेख के अनुसार धेनुकाकटक में छह यूनानी

---

१. पेरिप्लस, पृष्ठ ४३।
२. वही, पृष्ठ ४३।
३. सार्थवाह, पृष्ठ १०३।
४. वही, पृष्ठ १०३।

सौदागर रहते थे। इसमें इस पुर के गान्धिकों का उल्लेख हुआ है। लगता है कि यूनानी सौदागर इस समय यहाँ से गन्ध-द्रवों को स्वदेश ले जाते थे। इस समय वहाँ उनकी माँग विशेष थी।[१]

यज्ञश्री के समय में कोंकण को जीत कर सातवाहन शक्ति का पुनरुद्धार किया गया। फलतः कल्याण का व्यापार पुनः खुल गया। छठी शताब्दी का लेखक कास्मस इण्डिको प्लाइस्टस लिखता है कि कल्याण उस समय भारतवर्ष के छह प्रसिद्ध व्यापार केन्द्रों में एक था। वहाँ काँसा, लकड़ी और कपड़े का व्यापार होता था।[२] इस नगर की चालुक्यकालीन समृद्धि का वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरित में हुआ है। इसके लेखक बिल्हण ने लिखा है कि इस नगर में हर्म्य-पंक्तियाँ सुशोभित थीं। इसके उत्तुङ्ग प्रासादों के कारण आकाश में अन्धकार छा गया था।[३] उनके किनारे के वृक्षों के प्रतिबिम्ब की शोभा पारिजात-श्री का स्मरण दिला रही थी।[४] नगर के सरोवर खिले हुए कमलों की पंक्तियों के कारण सुशोभित हो उठते थे।[५] पथिकों की प्यास को बुझाने के लिये कूप बने हुए थे (**प्रपा पिपासापरितापशान्तये**)।[६] वहाँ के भवनों पर पताकाएँ फहरा रही थीं (**यदीयसौधध्वजपट्टपट्टिकाः**)।[७] समुद्र के किनारे बसा हुआ यह नगर धनधान्य एवं नाना रत्नों से परिपूर्ण था (**समुद्रवेलारतिरत्नसम्पदा**)।[८]

काञ्ची—यह दक्षिणी भारत का एक विशिष्ट नगर था। इसकी विशेष उन्नति पल्लवों के काल में हुई। प्रयाग की प्रशस्ति में कांची के पल्लव-नरेश विष्णुगोप का उल्लेख हुआ है। समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ-अभियान में वह उसके द्वारा पराजित हुआ था। य्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण में इस नगर का नाम (कन्-चिह-

---

१. सार्थवाह, पृष्ठ १०३।

२. वही, पृष्ठ १०३।

३. "यदुच्चहर्म्यावलिदीपसंपदा विभाव्यते कज्जलसंन्निभं नभः।"
—विक्रमांकदेवचरितम्, पृष्ठ १२।

४. "जलाशया यत्र हसन्ति संततं नवेन्द्रनीलद्रवनिर्मलोदराः।"
—वही, पृष्ठ १२।

५. "तटद्रुमाणां प्रतिबिम्बमालया सपारिजातामिव दर्शयञ्छ्रियम्।"
—वही, पृष्ठ १२।

६. वही, पृष्ठ १३।

७. वही, पृष्ठ १३।

८. वही, पृष्ठ १३।

पु-लो=काञ्चीपुर) आता है। उसके अनुसार इस नगर की परिधि ५ मील (३० ली) थी। इसकी भूमि उर्वरा-शक्ति से संपन्न थी। फल एवं पुष्पादि का इस नगर में बाहुल्य था। इसके नागरिक उत्साहयुक्त, विश्वासपात्र एवं जनसेवक तथा विद्या के अनुरागी थे। उनकी भाषा एवं लिपि मध्य देश की भाषा एवं लिपि से विभिन्न थी।[1]

य्वान् च्वाङ्ग के आगमन के अवसर पर इसमें एक सौ बौद्ध मठ विद्यमान थे। इनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या दस हजार के लगभग थी। वे सभी स्थविर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसमें अन्य धर्मों से सम्बन्धित मन्दिरों की संख्या ८० के लगभग थी। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी उस समय इस नगर में वर्तमान थे। य्वान् च्वाङ्ग लिखता है कि इस नगर में गौतम बुद्ध कई बार आ चुके थे। वहाँ जिन स्थानों पर उन्होंने अपना व्याख्यान दिया था, उनमें अशोक ने स्तूपों का निर्माण किया था। इनमें एक स्तूप लगभग १०० फीट ऊँचा था।[2]

य्वान् च्वाङ्ग की जीवनी के अनुसार काञ्चीपुर दक्षिण भारत का एक बन्दरगाह था। वहाँ से लङ्का की समुद्र-यात्रा तीन दिनों में सम्पादित होती थी। लङ्का में दुर्भिक्ष आने के कारण इस द्वीप के ३०० बौद्ध भिक्षु काञ्ची आये थे। वहाँ पर उनकी भेंट य्वान् च्वाङ्ग से हुई। उसने अपनी शङ्का-समाधान के लिये उनसे योग-शास्त्र पर कुछ प्रश्न पूछे। वह लिखता है कि इनका ज्ञान नालन्दा-विश्वविद्यालय के कुलपति शीलभद्र के ज्ञान से निश्चयात्मक रूप से कम था। उनसे भेंट होने के पहले वह लङ्का जाकर योगशास्त्र का दूरतर अध्ययन करना चाहता था, क्योंकि उसने सुन रखा था कि वहाँ के श्रमण योगशास्त्र के विशेषज्ञ थे। पर अब उसने लङ्का-यात्रा के विचार का परित्याग कर दिया।[3]

इस नगर की प्रशंसा करते हुए पवनदूत के रचयिता धोयी ने लिखा है कि वह अमरावती के गर्व का हरण करने वाला तथा दक्षिणापथ का भूषण था।[4] पेरिय-पुराणम् के अनुसार इसके चतुर्दिक एक सुदृढ़ प्राकार तथा गहरी परिखा विद्यमान थी। नगर की गन्दगी को बड़े नालों के द्वारा परिखा में गिराया जाता था।[5] इसके

---

१. वाटर्स, २, २२६।

२. वही, २, २२६।

३. वाटर्स, २, २२७।

४. "लीलागारैरमरनगरस्यापि गर्व्वं हरन्ति।
गच्छेः काञ्चीपुरमथ दिशो भूषणं दक्षिणस्याः॥"—पवनदूत, १२॥

५. अय्यर, टा० प्लै० एँ० ड० पृष्ठ ७०।

उपकण्ठ पर खुले मैदान में सैनिक शिविर बने हुए थे। इनमें सैनिकों को विभिन्न रण-पद्धतियों की शिक्षा दी जाती थी तथा उन्हें शस्त्राभ्यास में निपुण बनाया जाता था। नगर के सीमाप्रान्त पर गजशाला तथा तुरङ्गशालाएँ बनी थीं। इनके समीप ही कारखाने विद्यमान थे, जिनमें युद्ध के हथियारों का निर्माण किया जाता था। इनमें काम करने वाले कारीगरों के घर भी इसी पुर-भाग में बने थे।[1]

नगर के विभिन्न भाग जाति तथा व्यवसाय के अनुसार बसाये गये थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पृथक् पुर-भागों में रहते थे। राजमार्गों की चौड़ाई इतनी पर्याप्त थी कि उन पर विभिन्न वाहन सरलतापूर्वक आ जा सकते थे। नगर में स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर वर्तमान थे, जिनके जल की शोभा प्रस्फुटित कमलों तथा तैरते हुए हंसों के कारण द्विगुणित हो उठती थी। सरोवरों के चतुर्दिक सुन्दर वृक्ष लगे हुए थे। वहाँ के नागरिक गृह-प्राङ्गण में वृक्ष-वाटिकाएँ लगाते थे। इनमें कदली-वृक्षों एवं आम्र तरुओं का बाहुल्य था। राजमार्गों की शोभा इनके दोनों ओर बने हुए मञ्जिलों से युक्त प्रासादों के कारण निखर उठती थी। पुर-ललनाएँ छत की स्वच्छ वायु का आस्वादन करती थीं। घरों के निर्माण में लाल इंटों का प्रयोग किया गया था।[2] काञ्चीपुराण में कहा गया है कि "इस क्षेत्र में ऐसा कोई भी कवि नहीं है, जो इस नगर के सौन्दर्य से प्रभावित न हो उठा हो। सभी कवियों ने मनोरम शब्दावलियों में इसकी छटा के निरूपण द्वारा अपनी कीर्ति को अक्षुण्ण बना दिया था।"[3]

काञ्ची के पल्लव नरेश वैष्णव तथा शैव धर्म के अनुयायी थे, अतएव उनके काल में इन धर्मों का महान् विकास हुआ। कालान्तर में काञ्ची की गणना भारत की सात मोक्षदायिका पुरियों में होने लगी। 'काञ्चीमाहात्म्यम्' नामक ग्रन्थ में इसे भारत का सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नगर स्वीकार किया गया है।[4] ऐसा प्रतीत होता

---

१. अय्यर, टा० प्लै० ऐं० ड०, पृष्ठ ७१।

२. वही, पृष्ठ ७३।

३. वही, पृष्ठ ७७।

४. "अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता भुक्तिमुक्तिदाः॥
एतान्यन्यानि पुण्यानि क्षेत्राणि वसुधातले।
तेषु पुण्यतमा काञ्ची कलिकल्मषनाशिनी॥"

—काञ्चीमाहात्म्यम्, अध्याय १, ५९-६०।

है कि इस ग्रन्थ की रचना दक्षिणी भारतवर्ष में हुई थी। सम्भवतः इस प्रादेशिक भावना के कारण ही इसके लेखक ने भारत के धार्मिक नगरों में काञ्ची को प्रथम स्थान प्रदान किया है।

यह नगर विद्या का भी केन्द्र था। दक्षिण भारत के नागरिक शिक्षार्थ काञ्ची आया करते थे। सुप्रसिद्ध विद्वान दिङनाग के जीवन का अधिकांश भाग विद्याध्ययन के निमित्त काञ्ची में ही व्यतीत हुआ था।[1] कदम्ब-वंश के संस्थापक मयूरशर्मा की शिक्षा काञ्ची में सम्पादित हुई थी।[2] पल्लव नरेशों के राज्यकाल में नगर के बौद्धिक विकास में दूरतर अभिवृद्धि हुई। इस राजवंश के शासक विद्वान् थे। 'मत्तविलासप्रहसन' का रचयिता महेन्द्रवर्मा प्रथम इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पल्लव नरेशों के विद्याप्रेमी होने के कारण काञ्ची में बौद्धिक वायु-मण्डल का वर्तमान रहना नितान्त स्वाभाविक ही था।

यह नगर कला का भी एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। कला-प्रेमी काञ्ची नरेशों में महेन्द्रवर्मा, नरसिंहवर्मा प्रथम (मामल्ल), नरसिंहवर्मा द्वितीय (राजसिंह) तथा नन्दिवर्मा उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रत्येक वास्तुकला की स्वतन्त्र शैली का जन्मदाता था; उदाहरणार्थ महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली तथा नन्दिवर्मा शैली। इनमें प्रथम दो शैलियों के भवनों को एक ही विशाल चट्टान को काट कर बनाया गया है तथा अन्तिम दो शैलियों के भवनों के निर्माण में ईंटें भी प्रयोग में लाई गई थीं। इन शैलियों में बने हुए मन्दिरों के उदाहरण मामल्लपुरम् तथा काञ्जीवरम् से उपलब्ध हुए हैं। काञ्जीवरम् के मन्दिरों में कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठ पेरुमल के मन्दिर प्रधान हैं। ये दोनों मन्दिर राजसिंह शैली के अन्तर्गत आते हैं। कैलाशनाथ के मन्दिर के तीन भाग हैं; **गर्भगृह, मण्डप** तथा **अन्तराल**। इन तीन भागों के निर्माण में सुन्दर सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है। वैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर विशाल पैमाने पर बना हुआ है। इसके भी तीन भाग हैं—गर्भगृह, मण्डप एवं अन्तराल। इन भागों में स्थापत्य-एकता का पुट मिलता है। इस मन्दिर का शिखर द्राविड़ शिखर का ज्वलन्त प्रतीक माना जाता है।

कावेरीपत्तन—यह दक्षिणी भारतवर्ष के उन नगरों की कोटि में आता था, जो पूर्वनिर्धारित सुव्यवस्थित योजना के अनुसार बसाये गये थे। तामिल ग्रन्थों में इसे **'कावेरीप्पुमपट्टीनम्'** तथा **'कावेरीपट्टीनम्'** कहा गया है। यह समुद्रतट के समीप कावेरी के मुहाने पर स्थित था। इसका 'पट्टीनम्' नामांश इसका समुद्री

---

१. गोपालन, ए० हि० द० प०, पृष्ठ १५९।

२. वही, पृष्ठ १५९।

बन्दरगाह होना प्रमाणित करता है। यह १० मील लम्बा तथा १० मील चौड़ा एक वर्गाकार नगर था।[1]

यह दक्षिणी भारत का एक विशिष्ट राजनीतिक, व्यावसायिक तथा व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ पर चोल-नरेशों की राजधानी थी। इसकी भूमि प्राकृतिक साधनों से युक्त एवं उर्वराशक्ति से संपन्न थी। नदी एवं समुद्र-तट की सुविधा को देखकर चोलों ने इसे अपना प्रधान नगर बनाया होगा। एक तामिल-कवि ने इस नगर की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "यह एक ऐसा भू-भाग था, जिसके शान्तिमय इतिहास के पृष्ठों में दुर्भिक्ष, रोग एवं शत्रु आदि के भय के उदाहरण नहीं उपलब्ध होते।"[2] एक दूसरे तामिल-कवि ने इसकी प्रशंसा में कहा है कि "यदि समृद्ध एव वैभवशाली कावेरीपत्तन का सम्पूर्ण आधिपत्य मुझे सर्मापित कर दिया जाय, तब भी मैं अपनी प्रियतमा के वियोग में एक क्षण भी जीने को प्रस्तुत नहीं हूँ।"[3] शिलप्पदिकारम् में इस नगर का एक दूसरा नाम **'पुहार'** दिया गया है।[4]

इस नगर के दो भाग थे—(१) **पट्टिनपाक्कम** तथा (२) **मरुवरपाक्कम**। पाक्कम शब्द से तात्पर्य उस स्थान से है, जो समुद्र-तट के समीप स्थित होता है, उदाहरणार्थ **तुङ्गमपाक्कम** तथा **ईजमपाक्कम**। मरुवरपाक्कम समुद्रतट के समीप वाले भाग को कहते थे। पट्टिनपाक्कम वाला भाग इसके पश्चिम में स्थित था। इन दोनों भागों के बीच एक खुली चौड़ी जमीन थी, जिसमें बाज़ार लगती थी। यह नगर की केन्द्रीय बाज़ार थी। इसकी दूकानों में विविध वस्तुओं का विक्रय किया जाता था। प्रत्येक दूकान के सामने एक पताका फहराती थी, जिसके ऊपर विक्रय के निमित्त सुसज्जित वस्तुओं के नाम लिखे रहते थे। इस भाग की दूकानों के सम्मुख छायेदार वृक्ष आरोपित किये गये थे। गर्मी के दिनों में ग्राहकों को इनकी छाया के नीचे विश्राम मिलता था। इन वृक्षों के कारण बाज़ार की वायु स्वच्छ एवं स्वस्थ थी। इस हाट के केन्द्रीय भाग में एक मन्दिर बना हुआ था। इसे लोग नगर की शक्ति-देवी का मन्दिर मानते थे।[5]

पट्टिनपाक्कम में राजप्रासाद बना हुआ था। राजमहल के समीप राजकीय कर्मचारी, राजभृत्य तथा अमात्यों के घर वर्तमान थे। सम्राट् की प्रशंसा करने

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ८१।
२. वही, पृष्ठ ८२।
३. वही, पृष्ठ ९७।
४. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृष्ठ १५७।
५. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ९०।

वाले सूत एवं चारण भी इसी पुर-भाग में रहते थे। मनोविनोद करने वाले नर्तक, सङ्गीतज्ञ तथा नाटकों का अभिनय करने वाले अपनी वृत्ति एवं सामाजिक स्थिति के अनुसार इसमें निवास करते थे। राजप्रासाद से हट कर उसके चतुर्दिक सभ्य, प्रतिष्ठित एवं धनिक नागरिकों के घर बने हुए थे। सैनिक शिविर एवं सैनिक पदाधिकारियों के निवासस्थान का निर्माण इस क्षेत्र में सुन्दर ढङ्ग से किया गया था।[1]

मरुवरपाक्कम में व्यावसायिकों एवं व्यापारियों के घर बने हुए थे। इसके समुद्र-तट वाले भाग में ऊँचे चबूतरे बने हुए थे, जिन पर जहाजों से माल उतारा जाता था। राजकीय शुल्क-सम्बन्धी पदाधिकारी विदेशी माल पर चुङ्गी वसूल कर उन पर सिंह के पञ्जे से अङ्कित चोल-राजमुद्रा के द्वारा छाप लगा देते थे। तदनन्तर गोदामों में माल भरा जाता था। इसके पास ही यवनों एवं विदेशी व्यापारियों की बस्तियाँ बनी थीं। इसके अनन्तर शङ्ख, मोती एवं बहुमूल्य आभूषणों को बेचने वाले व्यापारियों के घर बने थे। तत्पश्चात् चन्दन एवं स्नानचूर्ण बेचने वालों तथा रेशमी और सूती कपड़ा बेचने वाले जुलाहों की बस्तियाँ वर्तमान थीं। इसके समीप ही गल्ले की बाज़ार थी। तदुपरान्त मिठाई, मछली, तेल, नमक, पान तथा रस्सी का व्यापार करने वालों के घर बने थे। व्यावसायिकों की प्रयोगशालाएँ प्रायः उनके घर के पास बनी होती थीं। इस नगर के व्यावसायिकों में लौहकार, ताम्रकार, बढ़ई, मूर्तिकार, चित्रकार, सुवर्णकार, बर्तन बनाने वाले तथा दर्जी आदि उल्लेखनीय हैं। प्रयोगशालाओं के घर के समीप वर्तमान होने के कारण व्यावसायिकों को पर्याप्त सुविधा थी।[2]

शिलप्पदिकारम् में इस नगर के सांस्कृतिक वातावरण का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें सार्वजनिक शिक्षागृह (पट्टिमण्डपम्) तथा न्यायालय (पावइ मनरम्) बने हुए थे। इसके विविध केन्द्रों में शिव, सुब्रमण्य, बलदेव, विष्णु तथा इन्द्र के मन्दिर वर्तमान थे। इन मन्दिरों के प्राङ्गण में पुष्प एवं वृक्षवाटिकाएँ लगी हुई थीं, जिनके कारण इनकी शोभा अन्वेक्षणीय थी। इस नगर के राजमार्ग चौड़े एवं विशाल थे।[3]

इस नगर के भवन कई मञ्जिलों से युक्त थे। इनमें रहने वाली पुर-ललनाएँ वातायनों में बैठकर मेष, लावक एवं कुक्कुट-युद्ध देखतीं एवं इस प्रकार अपना

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ८८।

२. वही, पृष्ठ ८६।

३. वही, पृष्ठ ९२।

मनोविनोद करती थीं। भवनों को पताकाओं से अलंकृत किया जाता था। वहाँ के विद्वान् पण्डित अपने घरों पर पताका लगा कर प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे।[१]

शिलप्पदिकारम् में कावेरीपट्टीनम् के समुद्र-तट का रोचक वर्णन मिलता है। इसमें जलपोत की सुरक्षा के निमित्त पक्के दीपगृह बने थे। इनमें रात को तेज प्रकाश किया जाता था।[२] वहाँ पर रहने वाले विदेशी व्यापारियों के घरों पर फहराती हुई झण्डियों को देखने से आभास होता था, मानों वे उनके माल की सुरक्षा कर रही हों। मिठाई, चन्दन, फल, फूल एवं रंग आदि की दूकानों पर दीपक जगमगाते थे। मालगोदाम के रक्षकों के घरों में भी दीपकों के प्रकाश की व्यवस्था की गई थी। समुद्र तट पर माल से लदे हुए विविध देशों के जहाज लगे हुए थे। भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले विदेशी सौदागर इन जहाजों से स्वदेशी माल को उतारते तथा भारतीय माल को भरते हुए दृष्टिगोचर होते थे।[३] इस नगर के समुद्र-तट पर मछुओं के घर भी बने हुए थे। वे मछली मारते तथा नौका सञ्चालन के द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। अवकाश के दिनों में वे भेड़ों की लड़ाई तथा नृत्य आदि के द्वारा अपना सामूहिक मनोविनोद करते थे।[४]

शिलप्पदिकारम् के अनुसार वहाँ के व्यापारियों की अतुल धनराशि महान् सम्राटों के लिये भी आकर्षण का स्रोत सिद्ध होती थी। विविध प्रकार के सुसज्जित माल देखने पर लगता था, मानों समस्त जगत् का ऐश्वर्य इस नगर में केन्द्रीभूत हो उठा हो। लोग यवनों की सम्पति को देखकर ललच उठते थे। बन्दरगाहों में नाना देशों के नाविक सर्वदा दृष्टिगोचर होते थे। उनका व्यवहार उत्तम कोटि का था। समुद्र-तट के एक भाग में राजकीय गृह भी बने थे, जिनमें राजकुल के सदस्य अपने दलबल के साथ अपना मनोविनोद करते थे।[५] शिलप्पदिकारम् में इस नगर के एक **समुद्री सार्थवाह (मानायिकन्)** तथा एक **स्थल-सार्थवाह (मासात्तुवान्)** का उल्लेख मिलता है।[६]

इस नगर के प्रधान द्वार का परिमाण विशाल था। इससे राजप्रासाद की

---

१. मोतीचन्द, सार्थवाह, पृष्ठ १५९।
२. वही, पृष्ठ १५९।
३. वही, पृष्ठ १५८।
४. वही, पृष्ठ १५९।
५. वही, पृष्ठ १५८।
६. वही, पृष्ठ १५६।

ओर एक सीधा राजमार्ग जाता था। इसके दोनों ओर वृक्ष आरोपित किये गये थे। स्थान-स्थान पर उपवन एवं सरोवर बने हुए थे, जिनका उपयोग केवल राजकुल के सदस्यों के द्वारा किया जाता था। राजप्रासाद की दीवालों पर चूना-कारी की गई थी। इसके प्राङ्गण में देशीय एवं विदेशी वृक्ष आरोपित किये गये थे।[1] इस राजप्रासाद में यवनों की नियुक्ति राजा के अङ्गरक्षक के रूप में की गई थी। किले के दरवाजों के पहरेदार भी सशस्त्र यवन थे। टालमी के ख़ाबेरी के बन्दरगाह से तात्पर्य कावेरीपत्तन से है।[2]

वञ्जी—चेरों की राजधानी वञ्जी की गणना दक्षिणी भारत की उन प्राचीन पुरियों में होती है, जो पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार बसाये गये थे। इसके चतुर्दिक एक उदक-परिखा विद्यमान थी, जिसमें मछलियाँ पाली गईं थीं तथा कमल एवं विविध जलपुष्प खिले हुए थे। इन पुष्पों के नाना रंगों के सम्मिलित प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप परिखा के जल में इन्द्र-धनुष की छटा आभासित हो रही थी। इस प्रकार की खाई के कारण नगर-सौन्दर्य निखर उठता था।[3] इस नगर का प्राकार शास्त्रीय नियमों के अनुसार निर्मित किया गया था। इसकी नींव काफी गहराई तक दी गयी थी। अपनी अधिक चौड़ाई तथा प्रस्तर-निर्मित होने के कारण यह शत्रुओं के द्वारा अभेद्य था। यह इतना ऊँचा था कि इसे पार करना एक कठिन समस्या थी।[4] प्राकार की चोटी पर युद्ध-यन्त्र एकत्र किये गये थे। नगर पर जब बाहरी आक्रमण होता था, उस समय सैनिक ऊपर से ही इन यंत्रों के द्वारा नीचे की शत्रु-सेना पर आघात करते थे।[5] इस प्रकार की प्रथा उत्तरी भारतवर्ष में भी प्रचलित थी। अन्यत्र इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं महा-भारत में इस प्रकार की व्यवस्था के वर्णन मिलते हैं। नगर की अधिक सुरक्षा की दृष्टि से प्राकार एवं परिखा के बाहर चतुर्दिक वन लगाया गया था। प्राचीन तमिल साहित्य में कृत्रिम वन के आरोपण द्वारा नगर की सुरक्षा का विधान मिलता है। इस प्रकार के वन को 'मिड़इ' कहा जाता था।[6] इसके तरुओं का काटना दण्डनीय था। इस वन में स्थान-स्थान पर सैनिक शिविर बने हुए थे।[7]

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन एंशेण्ट डकन, पृष्ठ ९५।
२. ह्वीलर, रोम बियांड इम्पीरियल फ्रण्टियर्स, पृष्ठ १६०।
३. अय्यर टाउन प्लैनिङ्ग इन एंशेण्ट डकन, पृष्ठ ६३।
४. वही, पृष्ठ ६३।
५. वही, पृष्ठ ६३।
६. वही, पृष्ठ ६५।
७. वही, पृष्ठ ६५।

नगर-प्राकार द्वारों से युक्त था। उनके समीप प्रहरी नियुक्त किये गये थे, जो पहरेदारी का काम कड़ाई के साथ करते थे। प्राकार के समीप वाले भाग को 'पुड़नकर' कहा जाता था।[१] इसमें मिश्रित जनसंख्या रहती थी। राजप्रासाद नगर के बीचोबीच वर्तमान था। राजमहल के समीप कुछ जलाशय बने हुए थे, जिनका प्रयोग एकमात्र राजकुल के ही सदस्य कर सकते थे। राजप्रासाद के पास विश्रामगृह, सभाभवन, पुष्पवाटिकाएँ एवं वृक्षवाटिकाएँ आरोपित की गई थीं। इन उद्यानों के कारण राजगृह का वातावरण स्वस्थ एवं शान्तिमय था। शासन-कार्यों से श्रान्त सम्राट् अपने मनोविनोद तथा राजकुल के सदस्य विहारार्थ इन वाटिकाओं में आते थे। राजमहल के आसपास चार प्रधान सड़कें थीं, जिनके दोनों ओर ब्राह्मण, मन्त्री, सैनिक पदाधिकारी एवं राजकीय परिचारकों के घर वर्तमान थे।[२] राजप्रासाद के पीछे गजशालाएँ तथा अश्वशालाएँ बनी थीं। वहाँ पर प्रांगण बने हुये थे, जिनमें हाथियों एवं घोड़ों को विभिन्न गतिविधियों तथा रणपद्धतियों की शिक्षा दी जाती थी।[३]

नगर के भीतर स्वच्छता की पर्याप्त व्यवस्था की जाती थी। इसमें कई ढके नाले बने हुए थे, जिनका मुख परिखा से लगा होता था। घरों का गन्दा पानी इन नालों (तुम्बु) के द्वारा परिखा में बहा दिया जाता था।[४] इस प्रकार स्वच्छता-व्यवस्था की दिशा में नगर-परिखा उपयोगी सिद्ध होती थी। नगर के भीतर एक केन्द्रीय बाजार थी, जिसे 'अकनकर' कहा जाता था।[५] इसमें ऊनी एवं सूती वस्त्र तथा इत्र, अनुलेप, आभूषण और दैनिक जीवन में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं की दूकाने थीं। मणिमेखलै में इस नगर के व्यावसायिकों के नाम आते हैं; उदाहरणार्थ रस्सी बनाने वाले, कुम्भकार, लौहकार, बढ़ई, पत्थर की मूर्तियाँ बनाने वाले, चमड़े पर काम करने वाले, सुवर्णकार तथा बाजा बनाने वाले। इस नगर में खुले मैदान थे, जहाँ पर नागरिक स्वच्छ वायु का सेवन करते थे।[६]

मदुरा—इस नगर में पाण्ड्यों की राजधानी वर्तमान थी। इस नगर के स्थान पर आरम्भ में कदम्ब वृक्षों का एक सघन वन विद्यमान था। इस अरण्य के पूर्व में

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन एंशेण्ट डकन, पृष्ठ ६०।
२. वही, पृष्ठ ६७।
३. वही, पृष्ठ ६७।
४. वही, पृष्ठ ६१।
५. वही, पृष्ठ ६६।
६. वही, पृष्ठ ६९।

स्थित मणवूर नामक नगर को राजधानी बना कर पाण्ड्य नरेश पहले राज्य कर रहे थे। कालान्तर में इस वन को काट कर पाण्ड्यों ने एक सुरम्य नगर स्थापित किया तथा अपनी नवीन राजधानी मणवूर से यहाँ पर स्थानान्तरित की। यही नगर मदुरा के नाम से विख्यात हुआ।[१] इस नगर का दूसरा नाम कदम्ब वन भी था। इसका यह नाम पड़ने का कारण कदम्ब वन के स्थान पर इसका निर्मित होना था।[२]

तिरुविड़ैयाड़ल पुराण में इस नगर की स्थापना के विषय में एक सुन्दर कथा मिलती है। इस कथा के अनुसार मणवूर का एक धनिक व्यापारी विदेश में अपने माल के विक्रय के उपरान्त घर वापस आ रहा था। जिस समय वह कदम्ब वन पहुँचा, काफी रात्रि हो गई। अतएव उसने अपने अनुयायियों एवं परिचारकों के साथ वहाँ पड़ाव डाल दिया। इस वन में उसने खिले हुए कमलों से युक्त एक सरोवर तथा उसके तट पर निर्मित एक भव्य मन्दिर देखा। इस स्थान की प्राकृतिक छटा पर वह मुग्ध हो उठा। दूसरे दिन मणवूर पहुँचने पर उसने सम्राट् से इस प्रदेश के नैसर्गिक सौन्दर्य की पर्याप्त प्रशंसा की।[३]

सम्राट् वणिक से कदम्ब वन में स्थित सरोवर एवं उसके दुकूल पर निर्मित देवालय के विषय में सुनकर प्रसन्न हुआ। उसने अपने सचिवों तथा महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों के साथ उस प्रदेश का निरीक्षण किया। उसकी सुस्थिति से प्रभावित होने के कारण उसने देवकुल एवं तटाक् के चतुर्दिक एक नगर की स्थापना के निमित्त राजकीय कारीगरों को आज्ञा दी। विशेषज्ञों की सहायता से पुर-निर्माण की एक सुन्दर योजना बनाई गई तथा शुभ मुहूर्त में कार्यारम्भ किया गया।[४]

सर्वप्रथम वन के वृक्षों को धराशायी कर सम्पूर्ण प्रदेश की भली-भांति सफाई की गई तथा उसे अच्छी तरह समतल बनाया गया। देवालय के चतुर्दिक क्रमशः **पद्ममण्डपम्**, **अर्द्धमण्डपम्** तथा **नृत्तमण्डपम्** का निर्माण किया गया। पद्ममण्डपम् में मन्दिर के पुरोहित वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते थे। अर्द्धमण्डपम् एक सुविशाल कमरा था, जिसमें धार्मिक उत्सव समारोह के साथ मनाये जाते थे। नृत्तमण्डपम् में देवदासियाँ विशेष अवसरों पर नृत्य करती थीं एवं उनकी नृत्यकला के दर्शनार्थ लोग वहाँ एकत्र होते थे।[५]

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ २५।

२. वही, पृष्ठ २५।

३. वही, पृष्ठ २७।

४. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ २८।

५. वही, पृष्ठ २८।

मन्दिर के चतुर्दिक एक दीवाल बनाई गई, जिसमें प्रत्येक दिशा में सुन्दर द्वार (गोपुर) निर्मित किये गये। नगर-भूमि में चौड़े एवं विशाल राजमार्ग पृथक् प्रयोजन के निमित्त बनाये गये; उदाहरणार्थ गजमार्ग, रथमार्ग एवं पदातिमार्ग। चत्वरों के समीप सभा-भवन एवं देवालयों का निर्माण किया गया। नगर-रक्षा के निमित्त प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग किया गया। पुर-सौन्दर्य में अभिवृद्धि तथा नागरिकों के जल एवं स्नान की सुविधा के निमित्त यथास्थान नवीन सरोवर बनाये गये। सुरक्षा के हेतु इसे प्राकार एवं परिखा के द्वारा परि-वेष्ठित किया गया। राजप्रासाद नगर के दक्षिण-पूर्व भाग में बना हुआ था। यह पुर नागरिकों के स्वास्थ्य एवं सर्वांगीण उन्नति में सहायक था, अतएव तिरु-विड़ैयाल पुराण में इसे अनुकूल नगर की संज्ञा दी गई है।[1]

इस प्रकार निर्मित मदुरा में पुरवासी सुखपूर्वक निवास करने लगे। पर कालान्तर में जलप्लावन के कारण सरोवर एवं देवालय को छोड़ कर नगर के अन्य भाग बहा दिये गये। बाढ़ के प्रकोप से बची हुई जनसंख्या अब मन्दिर के आस-पास की भूमि में रहने लगी तथा यह प्रदेश नड़वूर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ समय के उपरान्त नड़वूर का पर्याप्त विकास हुआ। यह लघु क्षेत्र बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये कम पड़ने लगा, अतएव नगर का विस्तार आवश्यक हो गया।[2]

विशेषज्ञों की सहायता से पुर की प्राचीन सीमाओं का पता लगाकर इसके नवनिर्माण की एक विशद योजना बनाई गई। इस निर्माण-योजना का केन्द्रबिन्दु प्राचीन शैव मन्दिर था। नवनिर्मित नगर वलयाकार था (अर्थात् वह आकार जो सर्प के द्वारा किसी पदार्थ के चतुर्दिक् अपने फन और पूँछ के सटा लेने पर बनता है)। यह नगर आलवाय नामक नवीन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका क्षेत्रफल ८ वर्ग मील के लगभग था। इस नगर की उत्तरी सीमा वैकड़ नदी को छूती थी। यह नदी इस पुर की सुरक्षा के प्राकृतिक साधन का निर्माण करती थी। सुदूर दक्षिण का नगर होने के कारण इसके ऊपर उत्तर की ओर से आक्रमण का भय था। अतएव इसका उत्तरी द्वार आकार में छोटा रखा गया। इसकी समता में दक्षिणी द्वार विशाल था। इसका कारण यह है कि यह नगर दक्षिण की ओर से बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित था।[3]

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ २८।

२. वही, पृष्ठ ३१।

३. वही, पृष्ठ ३२।

तमिल ग्रन्थों में मदुरा के उत्तरी द्वार के विषय में एक मनोरञ्जक कथा मिलती है। इसके अनुसार चोल नरेश काडुवेट्टि मदुरा के सुन्दरेश्वर के मन्दिर में पूजा चढ़ाने के निमित्त अपनी यात्रा में सबसे पहले वैकइ नदी के उत्तरी तट पर पहुँचा। उस समय नदी में काफी बाढ़ थी। बड़ी कठिनाई के साथ वह इस नदी को पार करने में सफलीभूत हुआ। नदी के दक्षिणी तट पर उतरते ही मदुरा का उत्तरी द्वार पड़ता था। द्वार-रक्षकों ने चोल-नरेश को वहीं पर रोक दिया। जब उसने अपने आगमन का उद्देश्य उनसे स्पष्ट किया, उस समय उन्होंने उसे प्रवेश-आज्ञा दी। उसकी सवारियाँ इतनी बड़ी थीं तथा उसके अनुचर संख्या में इतने अधिक थे कि वे किसी प्रकार भीतर आ सके थे। नगर-प्राकार अपनी ऊँचाई के कारण दुर्लंघ्य था।[1]

परिखा एवं प्राकार के निर्माण के अनन्तर नगर के भीतर चौड़े राजमार्गों का निर्माण किया गया। इनके विन्यास के कारण पुर-भूमि कई भागों में विभक्त हो गई। सबसे सुरक्षित पुर-भाग में राजप्रासाद बनाया गया। राजमार्गों के दोनों ओर नागरिक शालाएँ सुन्दर ढङ्ग से सुशोभित थीं। मदुरैक्काञ्ची के अनुसार नगर की चौड़ी सड़कें सरिता की भाँति तथा उनके दोनों किनारों पर बने हुए भवन नदी के तट पर विद्यमान वृक्षों के तुल्य सुशोभित थे। पृथक् जातियों के लोग पृथक् भागों में रहते थे। नागरिकों के लाभ के हेतु इसमें राजकीय जनता-स्नान-गृह, शिक्षालय, बाज़ारें, खेल के मैदान तथा व्यायामगृह बने हुये थे।[2]

नगर के भीतर दो प्रधान बाज़ारें थीं। एक बाज़ार दिन में तथा दूसरी रात में लगती थी। दिन में लगने वाली बाज़ार विभिन्न दूकानों से सुसज्जित थी। इनमें लकड़ी के हल्के तख्तों के पल्ले लगाये गये थे, जो धूप के तेज होने पर निकाल कर बाँस के लट्ठों के सहारे ऊपर लटका दिये जाते थे। इस प्रकार दूकानों के बाहर छाया बनी रहती थी। शाम होने पर इन तख्तों को उतार कर दरवाजों में लगा दिया जाता था। छोटे सौदागर और जुलाहे अपने माल को सड़कों की पटरियों पर फैला देते थे। राजप्रासाद के चतुर्दिक् अमात्यों, महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों, पुरोहितों तथा धनिक सेठों के घर बने थे।[3]

प्रधान राजमार्गों पर स्वच्छता की पर्याप्त व्यवस्था की गई थी। उनके दोनों ओर कूड़ाखाने बने हुए थे। नेडनलवाडुइ में इन्हें 'पूरिमम' कहा गया है। सड़कों

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३५।

२. वही, पृष्ठ ३७।

३. वही, पृष्ठ ४२।

के किनारों पर ढके नाले बने हुये थे, जिनके द्वारा घरों की गन्दगी नगर की परिखा में गिराई जाती थी। नगर-सीमाओं के समाप्त होते ही ग्रामीण दृश्य प्रारम्भ हो जाता था।[१] शिलप्पदिकारम् में नगर के सीमान्त प्रदेश के बाहर वर्तमान ग्रामीण वातावरण का रमणीक वर्णन उपलब्ध होता है। नगर की भीड़ तथा वहाँ के व्यस्त जीवन से ऊबे हुए व्यक्ति दिलबहलाव के लिये ग्राम के नैसर्गिक दृश्य का आश्रय लेते थे। उनके सरोवर, लहलहाते खेत, वृक्ष-वाटिकाएँ तथा चतुर्दिक छाई हुई हरियाली नगर के बुद्धिजीवी वर्ग तथा कवियों के प्रेरणा के स्रोत सिद्ध होते थे। ग्रामीण जनसंख्या को खाद्यान्न के विक्रय के निमित्त नगर की समीपस्थ बाज़ारें मिल जाती थीं।[२] इस प्रकार नगर-ग्राम सम्बन्ध अन्योन्याश्रित तथा सुमधुर था।

नगर-परिखा को पार करने के निमित्त उस पर यथास्थान पुल बने हुए थे। उनके निर्माण में लम्बे, चौड़े तथा वजनदार पत्थरों का प्रयोग किया गया था। इन पर हाथियों का झुण्ड चल सकता था एवं इनके टूटने का किसी प्रकार का भय नहीं था। नगर के दक्षिणी द्वार से प्रवेश करते ही इसका जो भाग पड़ता था, उसे 'अकनकर' कहा जाता था। पुर-प्राकार के बाहर का समीपवर्ती क्षेत्र 'पुड़नकर' नाम से प्रसिद्ध था। वेश्याओं एवं व्यभिचारिणी स्त्रियों को नगर के बाहर (पुड़नकर में) रहना पड़ता था। नागरिकों का आचार-स्तर उच्च था। व्यभिचार के अपराध में पकड़े हुए व्यक्तियों को अपमानित कर नगर के बाहर रहने के लिए बाध्य किया जाता था।[३]

नगर के पूर्वी द्वार के सामने बाहर की ओर उद्यान बने हुए थे, जिनमें साधु, संन्यासी एवं धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति चिन्तन में संलग्न रहते थे। कभी-कभी इनका प्रवचन भी हुआ करता था, जिनको सुनने के निमित्त नागरिक एकत्र होते थे। नगर में पारङ्गत आचार्य रहते थे। वे अपने घर पर ही विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। वहाँ पर कुछ राजकीय शिक्षालय भी विद्यमान थे, जिनमें छात्रों को लौकिक विषयों पर शिक्षा दी जाती थी।[४]

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ४३।
२. वही, पृष्ठ ४३-४४।
३. वही, पृष्ठ ४४।
४. वही, पृष्ठ ५९।

अध्याय ९

नगर-मापन

नगर-मापन—प्राचीन काल में नगर-निर्माण वास्तुकला का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना जाता था। **दीघनिकाय**[1] में नगर-सन्निवेश के लिये नगर-मापन शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का उल्लेख कतिपय अन्य ग्रन्थों में भी आता है; उदाहरणार्थ **महाउम्मग**[2] **जातक, महाभारत**[3] **तथा मिलिन्दपञ्हो**।[4] नगर-मापन के लिये कतिपय अन्य शब्दों का भी प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है; उदाहरणार्थ **नगर-निवेशन,**[5] **नगर-स्थापन,**[6] **नगर-विन्यास,**[7] **नगर-विनिवेश,**[8] **पुर-निवेशन,**[9] **पुरस्थापन**[10] **तथा नगर-करण**।[11]

---

१. "पाटलिग्रामे नगरं मापेन्ति।"—दीघनिकाय, २, १६, १, २६।
"मिथिला च विदेहानम् चप्पा अङ्गेसु मापिता
वाराणसी च कासीनम् एते गोविन्द-मापितेति।"
—वही, १९, ३६।

२. "नगरं वेदेहेन सुमापितम्।"—महाउम्मग जातक, ६, ४४८।

३. "नगरं मापयामासुः।"—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९।

४. "नगरं मापेतुकामो।"—मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३२।

५. "निवेश्य च पञ्चभिर्वर्षैर्भरतो राघवानुजः।"—रामायण, उत्तर काण्ड, सर्ग १०१, पंक्ति ३१।
"वातविहित-गोपुर-प्राकार-निवेसनं पटिसंखारयति।"—हाथीगुम्फा का लेख (सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २०७)।

६. "स्थापयेन्नगरं रम्यं पुण्यारामजनाकुलम्।"—युगपुराण, पृष्ठ ३०।

७. "नगरादीनां विन्यासं।" मयमत, पृष्ठ ३८।

८. "पुरस्य विनिवेशस्तु।" समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ २३७।

९. वही, पृष्ठ ४४।

१०. वही, पृष्ठ ४४।

११. "नगरं कारयेन्नृपः।" युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २२।

शिल्पिसंघ—जिस व्यक्ति की संरक्षता में नगर के निर्माण का काम सम्पन्न होता था, उसे पालिसाहित्य में **"वत्थुविज्जाचरिय"** (**वास्तुविद्याचार्य**) कहा गया है।[१] महाभारत में नगर-मापन-सम्बन्धी प्रधान शिल्पी को **विश्वकर्मा** कहा गया है। इस ग्रन्थ में जहाँ द्वारका का वर्णन आता है, वहाँ स्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख मिलता है कि इस नगर का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था।[२] हरिवंश में विश्वकर्मा को शिल्पियों में श्रेष्ठ(**शिल्पमतां वर**) कहा गया है।[३] इस ग्रन्थ से भी विदित होता है कि द्वारका का निर्माण विश्वकर्मा के ही पर्यवेक्षण में संपन्न हुआ था।[४] इसको कार्य में सहायता पहुँचाने के लिये कई सहायक शिल्पकार भी रहते थे। रघुवंश में नगरमापन-संबन्धी प्रधान एवं गौण शिल्पकारों के समुदाय के लिये "शिल्पिसङ्घ" शब्द का प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि नाना शिल्पियों के समूह (शिल्पिसङ्घ) ने अयोध्या का पुनर्निर्माण किया था।[५]

शुक्रनीति में नगर-मापन सम्बन्धी शिल्पकारों का विभाजन तीन वर्गों में किया गया है:—(१) **आराम-कृत्रिम-वनकारिणः**—इस वर्ग के शिल्पकार तड़ाग तथा उद्यान के निर्माण में दक्ष थे, (२) **दुर्गकारिणः**—इस वर्ग के शिल्पकार दुर्गविन्यास में निपुण थे तथा (३) **मार्गकाराः**—इस वर्ग के शिल्पकार राजमार्गों के निर्माण में दक्ष थे।[६] विश्वकर्मा के सहायक शिल्पकारों के पारिभाषिक नाम शिल्पशास्त्रों में मिलते हैं। इनमें चार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—(१) स्थपति (२) सूत्रग्राही (३) वर्धकि तथा (४) तक्षक। स्थपति के विषय में मानसार के लेखक का कहना है कि यह विश्वकर्मा का पुत्र (**विश्वकर्माख्य-नाम्नोऽस्य पुत्रः स्थपतिरुच्यते**) तथा नगर के निर्माणकार्य में दक्ष (**स्थापनार्हः**) था।[७]

---

१. जातक, १, २९७।

२. "द्वारकामावृतां रम्यां सुकृतां विश्वकर्मणा।"—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ६।

३. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८।

४. "विश्वकर्मा च तां कृत्वा पुरीं शक्रपुरीमिव।"—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ६८, पंक्ति १११।

५. "तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृत्साधनत्वात्।
पुरीं नवीचक्रुरपां विसर्गात् मेघाः निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥"
—रघुवंश, १६, ३८।

६. शुक्रनीतिसार, अध्याय २, पंक्ति ३९०-९६।

७. मानसार, अध्याय २।

मयमत में भी इसे निर्माण के कार्य में प्रवीण (स्थापनार्हः) तथा वास्तुविद्या का पण्डित (**वास्तुविद्याब्धिपारगः**) कहा गया है।[१] आधुनिक 'थबई' शब्द इसी 'स्थपति' शब्द का अपभ्रंश है।

स्थपति का उल्लेख भोज के ग्रन्थों में भी हुआ है। उनके अनुसार वह धीमान् (सुधीः), शास्त्रों का मर्मज्ञ (शास्त्रज्ञः), राजमार्गों के निर्माण में प्रवीण (रथ्या-विभाग) तथा नगर-दीवाल (प्राकारनिवेशः), बुर्ज (अट्टालक), दुर्ग (दुर्गकर्म), योजना के अनुसार पुरभूमि-वितरण (विभागस्थानकानि), राजप्रासाद (नृपते-र्वेश्म), अलग वर्णों को पृथक् पुरभागों में बसाने की क्रिया (चातुर्वर्णविभागः) तथा नगर-द्वार के निर्माण (विनिवेशः प्रतोलीनाम्) आदि वास्तुविषयों में दक्ष हुआ करता था।[२] अपराजितपृच्छा में भी स्थपति के विषय में इनसे साम्य रखने वाले गुणों का वर्णन मिलता है; उदाहरणार्थ वास्तुविद्या में मर्मज्ञता (वास्तुविद्याविवोधकः), पुर-निर्माण के लिये उचित पुर-भूमि का सङ्कलन (भूपरीक्षा), नाप-जोख के लिये यथास्थान कीलों को गाड़ना (कीलिकारोपणादिकम्), विभिन्न प्रकार के महलों का निर्माण (प्रासादा विविधाकाराः), नगर-योजना बनाने में कुशलता (**चित्र दिकुशलः**) तथा बुद्धिमत्ता (महाप्राज्ञः)।[३]

सूत्रग्राही का काम नाप-जोख करना था। उसके मान के साधन सूत तथा दण्ड थे (**सूत्रदण्डप्रपातज्ञः**)[४]। सम्भवतः नापने की डोरी को धारण करने के कारण ही उसे सूत्रग्राही कहा जाता था (सूत्रग्राहीति सूत्रधृत्)।[५] तक्षक वस्तुओं को मनोवांच्छित ढङ्ग से काटने में कुशल माना जाता था (**तक्षणात्तक्षकः स्मृतः**)।[६]

---

१. मयमत, अध्याय ५।

२. "एतान्यङ्गानि जानीयाद्वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्।
शास्त्रानुसारेणाभ्युदयं लक्षणानि च लक्षयेत्॥"
—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ २३५, श्लोक ४।

३. "पुरप्राकारपरिखाप्रतोलीमार्गगोपुरम्।
गृहं च राजवेश्माद्यं ज्ञायते सूत्रकर्मणा॥"—अराजितपृच्छा, पृष्ठ ११८।
तुलनार्ह—
"पुरप्राकारपरिखाप्रतोलीमार्गगोपुरम्।
वेश्मानि च राज वेश्मानि सभां शालां राजाश्वयोः॥"—वही पृष्ठ ६।

४. मयमत, अध्याय ५।

५. मानसार, अध्याय २।

६. वही, अध्याय २।

वर्धकि जोड़ने के काम में निपुण था (**वृद्धिकृत् वर्द्धकिः प्रोक्तः**)।[१] अपराजित-पृच्छा में कहा गया है कि ये कारीगर पर्याप्त धन तथा समाज में प्रभूत आदर एवं सम्मान पाते थे।[२] इन शिल्पियों के द्वारा नगरमापन का कार्य पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार किया जाता था। महाभारत से विदित होता है कि इन्द्रप्रस्थ नगर की योजना उसके निर्माण-कार्य के पूर्व ही अच्छी प्रकार बना ली गई थी।[३] हरिवंश के अनुसार नगर की योजना विश्वकर्मा के द्वारा तैयार की जाती थी। इस ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि द्वारका की योजना विश्वकर्मा ने बनाई थी।[४]

भूपरीक्षा—नगर-मापन के लिये सर्वप्रथम उपयुक्त भूमि का सङ्कलन अनिवार्य था। **अपराजितपृच्छा**,[५] **मानसार**[६] **तथा मयमत**[७] में भूमि के चुनाव के लिये 'भूपरीक्षा' शब्द आता है। प्राचीन ग्रन्थों में पुरसन्निवेश के निमित्त प्रशस्त भूमि के विविध लक्षणों का निर्देश किया गया है। कौटिल्य का कथन है कि भरसक नदियों के सङ्गम पर नगर का निर्माण किया जाय (**वास्तुकप्रशस्ते देशे नदीसङ्गमे**)।[८] अपराजितपृच्छा में भी कहा गया है कि नदियों का सङ्गम पुर-मापन के हेतु सबसे प्रशस्त भूमि है (**नदीनां सङ्गमेषु**)।[९] कौटिल्य के अनुसार यदि नदियों का सङ्गम प्राप्त न हो सके, तो पुरनिर्माण या तो नदी के तट पर अथवा पर्वत के किनारे किया जाय।[१०] अपराजितपृच्छा में भी गिरि के पास

---

१. **मयमत, अध्याय ५।**
२. **"सर्वेषां कर्मकराणां धनं दद्याच्च सर्वतः।"—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२०। द्रष्टव्य, मेरा लेख, ज० यू० पी० हि० सो०, जिल्द ७, भाग १-२, पृष्ठ ८३।**
३. **महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९।**
४. **हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८।**
५. **अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२०।**
६. **मानसार, अध्याय ४।**
७. **मयमत, अध्याय ३।**
८. **अर्थशास्त्र, प्रकरण २१, पृष्ठ ३१ (यौली-संस्करण)।**
९. **अपराजितपृच्छा, पृष्ठ ११३।**
१०. **अर्थशास्त्र, प्रकरण २१, पृष्ठ ३१।**
तुलनार्ह—
"नदीभिः पुलिनप्रान्तैर्विचित्रद्रुमशालिभिः।"
—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ३०।

पुर का बसाना सम्मत माना गया है (**गिरिमाश्रिते**)।[१] महाभारत के अनुसार नदी-तट अथवा पर्वत् के उपकण्ठ पर बसे हुए पुर नागरिकों के स्वास्थ्य तथा मङ्गल के कारक सिद्ध होते हैं (**सर्वसम्पत्प्रधानं च बाहुल्यं चाभिसम्भवेत्**)[२]।

शुक्रनीति में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित लक्षण गिनाये गये हैं:—(१) वह नाना प्रकार के वृक्षों, लताओं, पशुओं तथा पक्षियों से परिपूर्ण हो, (२) उसमें जल तथा अन्न प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, (३) वह पर्वत के समीप ही स्थित हो, (४) उसके सन्निकट नदी तथा समुद्र वर्तमान हों तथा (५) वह सुरम्य हो।[३] समराङ्गणसूत्रधार में भूमि के इन गुणों के अतिरिक्त खनिजपदार्थों की प्राप्ति को भी महत्ता प्रदान की गई है।[४] शुक्रनीति के उपर्युक्त निर्देशों का आधार वैज्ञानिक माना जा सकता है, क्योंकि सम्पन्न एवं रमणीय प्रदेश में रहने वाले ही सुखी हो सकते हैं, पर्वत के समीप स्थित होने के कारण ही पुर की अधिक रक्षा हो सकती है, नदी तथा समुद्र के पास होने पर ही वाणिज्य का विकास हो सकता है तथा वृक्षों की अधिकता के कारण ही वायुमण्डल की स्वच्छता सम्भव है। मानसार के रचयिता ने भी पुरसन्निवेश के लिये सङ्कलित भूमि में तरुओं की बहुलता को अधिक महत्त्व दिया है। इसके अनुसार ऐसे स्थल पर निम्ब, अशोक

---

१. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ ११३।

२. शान्तिपर्व, अध्याय ८७, पंक्ति ८।
—अधिक सूचना के लिए द्रष्टव्य, मेरा लेख, उत्तर-भारती, पृष्ठ ६४, जिल्द ८, संख्या २, १९६१।

३. "नानावृक्षलताकीर्णे पशुपक्षिगणावृते।
सुबहूदकधान्ये च तृणकाष्ठमुखे सदा॥
आसिन्धुनौगमाकुले नातिदूरे महीधरे।
सुरम्यसमभूदेशे राजधानीं प्रकल्पयेत्॥"
—शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति २१३—१४।

४. "वनोपवनवत्यद्रिसरित्कुञ्जमनोहरा।
देहिनो रमत्युर्वी या सा कान्तेति कीर्तिता॥
यस्यां सदैव जायन्ते कलधौतादिधातवः।
लक्षणानि च भूयांसि प्राहुः खनिमतीति ताम्॥"
—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ २९, श्लोक १४—१५।

तथा आमलक आदि उन वृक्षों की स्थिति स्पृहणीय है, जो वायु को शुद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।[१]

कभी कभी भूमि का चुनाव शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार किया जाता था। युक्तिकल्पतरु तथा अपराजितपृच्छा में इस विषय में कुछ शास्त्रीय निर्देश उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार विभिन्न जातियों के द्वारा भूमि वर्ण, गन्ध, स्वाद तथा प्लवन (झुकाव) के आधार पर चुनी जाती थी। श्वेतवर्ण वाली भूमि ब्राह्मण के लिये उपयुक्त मानी जाती थी। इसी प्रकार रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण की भूमि क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिये उचित समझी जाती थी।[२]

जिस भूमि से घी के तुल्य गन्ध आती थी, वह ब्राह्मण के लिये प्रशस्त थी। रक्तानुगन्धिनी, क्षारगन्धा तथा विष्टानुगन्धिनी भूमि क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिये शुभकर मानी जाती थी।[३] मधुरा, कषाया, क्षारस्वादा तथा कटुका भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के निवासस्थान के हेतु श्रेष्ठ थी।[४]

---

१. मानसार, अध्याय ४।

२. "सिता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमात्मही।
विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषामथवा हि ता।।"

—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४८।

तुलनार्ह:—

"श्वेता च ब्राह्मणी भूमी रक्ता वै क्षत्रिया स्मृता।
पीतवर्णा भवेद्वैश्या शूद्री च कृष्णवर्णिनी।।"

—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२३।

३. "घृतगन्धा भवेद्विप्री राज्ञी रक्तानगन्धिनी।
क्षारगन्धा भवेद्वैश्या शूद्री विष्टानुगन्धिनी।।"

—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२३।

४. "स्वादुः कषाया तिक्ता च कटुका चेत्यनुक्रमात्।
वर्णानां स्वादतः शस्ता सर्वेषां मधुरायवा।।"

—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ३२।

तुलनार्ह :—

"ब्राह्मणी मधुरास्वादा कषाया क्षत्रिया तथा।
क्षारस्वादा भवेद्वैश्या शूद्री स्यात्कटुका तथा।।"

—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२८।

जहाँ तक भूमि के झुकाव का प्रश्न है, अधिकतर लोग पूर्वी झुकाव पसन्द करते थे। युक्तिकल्पतरु,[1] समराङ्गणसूत्रधार[2] तथा अपराजितपृच्छा[3] में भूमि के पूर्वी झुकाव को महत्त्व प्रदान किया गया है। इस प्रकार के निर्देश का वैज्ञानिक आधार स्पष्ट है। ऐसी दशा में सूर्य की प्रातःकालीन स्वास्थ्यवर्द्धक किरणें सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सकती हैं।

कतिपय ग्रन्थों में दुर्गविधान के लिये अनुपयुक्त भूमि के लक्षणों का भी निरूपण किया गया है। मानसार के अनुसार जिस भूमि से दुर्गन्ध आती हो (**दुर्गन्धिनी**), जहाँ श्मशानभूमि रही हो (**शवगन्धा**), जहाँ पर कटीली झाड़ियाँ विद्यमान हों (**सकण्टतकरुणा**) तथा जो सर्पीली हो (**महासर्पाश्रिता**), वह त्याज्य है।[4] मानसार का यह निर्देश भी तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

बलिकर्मविधान--जातकों से विदित होता है कि वास्तुविद्याचार्य (विश्वकर्मा) नगरसन्निवेश की क्रिया के आरम्भ के पूर्व भूमि को शुद्ध करता था।[5] मत्स्य पुराण में इसके लिये '**वास्तुपूजा**' अथवा '**वास्तुशान्ति**' शब्द आते हैं (अध्याय २५२, श्लोक १७)। इस क्रिया का उल्लेख शिल्पशास्त्रों में भी प्रायः मिलता है। मानसार से विदित होता है कि भूमिशोधन के लिये पूजा चढ़ाई जाती थी, जिसे '**बलिकर्मविधान**' कहा जाता था।[6] अपराजितपृच्छा में इस पूजा को '**बलिविधान**' कहा गया है।[7] इसका प्रारम्भ किसी शुभ मुहूर्त में किया जाता था (**शुभे काले दिने चैव नगरं कारयेन्नृपः**)।।[8] युक्तिकल्पतरु में कहा गया है कि नगर-मापन कराने वाले

---

१. युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २७।

२. "प्रागीशानप्लवा।"

—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ३३।

३. "नीरोगा दानशीला च विशिष्टजनसेविता।
पूर्वप्लवा तु या भूमिः शोभना स प्रकीर्तिता॥"

—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२३।

तुलनार्हः—

"पूर्वप्लवा धरा श्रेष्ठा ह्यायुः श्रीबलवर्द्धिनी।"—वही, पृष्ठ १२२।

४. "वास्तुशास्त्रविदां विधानं तदेवं स्याद्वर्जितम्।"—मानसार, अध्याय ४।

५. जातक १, २९७।

६. मानसार, अध्याय ८।

७. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ ११३।

८. युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २२।

सम्राट को अपने जन्म-लग्न में यह कार्य प्रारम्भ कराना चाहिये।[१] समराङ्गण-सूत्रधार तथा अपराजितपृच्छा के अनुसार भी यह कार्य प्रधानतः विश्वकर्मा अथवा स्थपति को ही सम्पन्न करना पड़ता था (**स्थपतिश्च बलिं दद्यात् योजयेदिति शान्ति-कम्**)।[२] वह इस अवसर पर शास्त्रों में पारङ्गत आचार्य की सहायता ले सकता था (आचार्ये चागममैर्युक्ते)।[३] विश्वकर्मा श्वेत माला तथा श्वेत वस्त्र धारण करता था (**शुक्लाम्बरधरो नित्यं शुक्लमाल्यानुलेपनः**)।[४] वह विघ्नविनाश, भूतप्रेतों के निवारण तथा निवासियों के स्वास्थ्यलाभ एवं मङ्गल के लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, क्षेत्रपाल, दिग्पाल आदि देवताओं तथा योगिनी एवं कुमारी आदि देवियों की पूजा करता था। इसके पश्चात् सम्राट् के द्वारा भूमि, गाय, महिष, अश्व, गज, सुवर्ण तथा भोजन एवं वस्त्र आदि का दान किया जाता था।[५] इस अनुष्ठान के उपरान्त स्थान पवित्र समझा जाता था तथा दुर्गविधान की क्रिया प्रारम्भ होती थी।[६]

नगर-चिह्न—भूमि-संस्कार के पश्चात् प्रधान शिल्पकार अपनी बनाई हुई योजना के अनुसार समस्त पुर-भूमि में धातुनिर्मित कीलों को गाड़ देता था।[७] वह मज़बूत धागों के द्वारा कीलों को एक दूसरे से मिलाता था। इन धागों के सहारे वह नगर-भूमि को रेखाङ्कित कर देता था। इस प्रकार खींची गई हुई रेखाओं को अपराजितपृच्छा में '**नगर-चिह्नानि**' कहा गया है।[८] इस प्रकार विभिन्न पुर-भाग जहाँ परिखा, प्राकार, प्रासाद, राजमार्ग तथा नागरिकों के घरों का निर्माण करना होता था, शिल्पियों के द्वारा निर्दिष्ट कर दिये जाते थे।

सुरक्षा के साधन—नगर-सन्निवेश करने वाले नगर को सर्वप्रथम सुरक्षा के साधनों से युक्त करते थे। सुरक्षा के दो साधन थे (१) प्राकृतिक तथा

---

१. **"यस्मिन् लग्ने भवेज्जन्म महीभर्तुर्महीतले।
तद्दण्ड-राजक्षेत्रेण राजा पत्तनमारभेत्।।"—युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २५।**

२. **समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४४।**

३. **अपराजितपृच्छा, पृष्ठ ११३।**

४. **वही, पृष्ठ १२३।**

५. **"भूमिदानं ततो दद्यात् गोमहिष्यश्वसंयुतम्।"—वही, पृष्ठ ११४।**

६. **"निर्विघ्नं च भवेत्तत्र हेतुकादिः समर्चने।"—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ ११४।**

७. **"आनीय कीलकं सूत्रं रोपयेच्च चतुर्दिशम्।"
—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १२३।**

८. **वही, पृष्ठ १२४।**

(२) कृत्रिम। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि नदी, जल, पर्वत्, प्रस्तरसमूह, मरु-भूमि तथा अरण्य इसकी रक्षा के प्राकृतिक साधन थे।[१] इन साधनों में नदी एवं पर्वत् का स्थान महत्त्वपूर्ण था।[२] यही कारण है कि बहुधा अनेक प्राचीन नगर जलकूल पर स्थित थे। उदाहरणार्थ प्राचीन अयोध्या का नगर सरयू के तट पर वर्तमान था,[३] मथुरा पुरी यमुना के किनारे स्थित थी[४] तथा द्वारका समुद्र के तट पर।[५] पर्वत् के द्वारा रक्षित नगरों में गिरिव्रज का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। महाभारत के अनुसार यह नगर **वैराह, वाराह, वृषभ, ऋषिगिरि तथा चैत्य**[६] नामक पाँच महाशृङ्गों के द्वारा परिवेष्टित था।[७] इस कथन का समर्थन फाहियान के यात्रा विवरण से होता है। उसने लिखा है कि गिरिव्रज पाँच पर्वतमालाओं के द्वारा सुरक्षित था।[८] प्राचीन ग्रन्थों में पर्वतमालाओं के द्वारा सुरक्षित नगर को गिरिदुर्ग कहा गया है; उदाहरणार्थ महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय ८७) तथा मत्स्य पुराण (अध्याय २१७)। इस ग्रन्थ में गिरिदुर्ग को सबसे श्रेष्ठ दुर्ग कहा गया है (**सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते; अध्याय २१७, श्लोक ७**)। सुरक्षा के कृत्रिम साधनों में परिखा, प्राकार तथा अरण्य उल्लेखनीय हैं।

परिखा—इनमें सर्वप्रथम परिखा का निर्माण किया जाता था। अर्थशास्त्र[९] तथा महाभारत[१०] की पंक्तियों के द्वारा इसका समर्थन हो जाता है। परिखा के बनाने के पूर्व जितनी भूमि में इसे बनाना होता था, उस पर चिह्न लगा लिया जाता

---

१. अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय ३, पृष्ठ ५४ (शास्त्री-अनूदित)।
२. शुक्रनीतिसार, अध्याय ४, पंक्ति ११-१२।
३. रामायण, बाल कांड, सर्ग ५, पंक्ति १०।
४. "यमुनातीरशोभिता" हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, पंक्ति १२०।
५. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति १०२।
६. "वैराहो विपुलो शैलो वाराहो वृषभस्तथा।
ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः॥"
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय २१, २।
७. "एते पञ्चाः महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः।
रक्षंतीवाभिसंहृत्य संहताङ्गाः गिरिव्रजम्॥"
—वही, सभापर्व, अध्याय २१, ३।
८. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ४९।
९. अर्थशास्त्र, (यौली), खण्ड १, पृष्ठ ३१।
१०. महाभारत, आदिपर्व, १९९, २९-३१।

था। इसको 'पारिखेयी भूमि' कहते थे।[१] भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध नगरों के चतुर्दिक परिखा के विद्यमान होने की सूचना मिलती है। अयोध्या,[२] लङ्का,[३] इन्द्रप्रस्थ,[४] मथुरा,[५] द्वारका,[६] पाटलिपुत्र,[७] अवन्ति,[८] मदुरा,[९] तथा वञ्जी[१०] परिखा के द्वारा परिवेष्टित किये गये थे। परिखा की संख्या कभी एक और कभी-कभी एक से अधिक भी हुआ करती थी। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र के चतुर्दिक केवल एक ही परिखा थी।[११] अर्थशास्त्र में परिखाओं की संख्या तीन बताई गई है। इस ग्रन्थ के अनुसार ये परिखाएँ एक दूसरे से एक दण्ड अर्थात् ६ फुट की दूरी पर बनी होती थीं।[१२] महाउम्मग जातक में भी मिथिला की परिखाओं की संख्या तीन बताई गई है।[१३] समराङ्गणसूत्रधार में भी कहा गया है कि नगर के चतुर्दिक

---

१. द्रष्टव्य, अष्टाध्यायी, ३, १, १७।

२. "दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।"

—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति २५।

"प्राकारपरिखोपेता सरयूतीरशोभिता"।

—विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, अध्याय १३, पंक्ति २।

३. सुन्दरकाण्ड, सर्ग २, पंक्ति २६।

४. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ५७।

५. "प्रांशुप्राकारवसना परिखाकुलमेखला।"

—हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, पंक्ति ११६।

६. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, पंक्ति २२।

—ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय ७२, पंक्ति १३।

७. मेक्रिण्डिल, खण्ड २६, पृष्ठ ६८।

८. "दृढ़यन्त्रार्गलद्वारा परिखाभिरलंकृता।"

—ब्रह्म पुराण, अध्याय ४१, पंक्ति ५०।

"आभाति यस्याः परिखा नितम्बे।"

—नवसाहसांकचरितम्, सर्ग १, पंक्ति २५।

९. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन एंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३८।

१०. वही, पृष्ठ ६०।

११. मेक्रिण्डिल, खण्ड २६, पृष्ठ ६८।

१२. "तस्य परिखास्तिस्त्रो दण्डान्तराः कारयेत्।"

—अर्थशास्त्र (यौली), भाग १, पृष्ठ ३१।

१३. जातक, संख्या ५४६।

तीन परिखाएँ बनाई जायँ।[१] ब्रह्मवैवर्त पुराण में सात परिखाओं का उल्लेख एक ही नगर के सम्बन्ध में किया गया है।[२] अधिक दृढ़ता लाने के लिये परिखा के भीतर किनारे-किनारे ईंटों की चुनाई की जाती थी। मेगस्थनीज़ ने अपने यात्राविवरण में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि पाटलिपुत्र की परिखा में पकी ईंटें लगाई गई थीं।[३] अर्थशास्त्र में कहा गया है कि परिखा के मूल (अर्थात् निचले भाग) तथा उसकी दीवालों में या तो ईंटों की चुनाई की जाय अथवा पाषाणखण्ड लगा दिये जायँ।[४] समराङ्गणसूत्रधार में भी इस प्रकार का निर्देश मिलता है।[५]

परिखा का परिमाण--परिखा का परिमाण इस स्थल पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र की परिखा ६०० फीट चौड़ी थी।[६] अर्थशास्त्र में भी परिखा के परिमाण का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार पहली परिखा १४ दण्ड, दूसरी १२ दण्ड तथा तीसरी १० दण्ड विस्तीर्ण हो।[७] यदि इन तीनों परिखाओं की चौड़ाई उनके एक दण्ड के अन्तर वाली भूमि के साथ जोड़ दी जाय, तो जिस भूमि में परिखाओं का निर्माण किया जाता था (अर्थात् पारिखेयी भूमि), उसकी दूरी (१४+१+१२+१+१०) ३८ दण्ड यानी २२८ फुट निकलती है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी अधिक चौड़ी परिखाओं का उल्लेख आता है, उदाहरणार्थ महाभारत,[८] हरिवंश[९] तथा

---

१. 'विधेयं परिखात्रयम्'--समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४०।
द्रष्टव्य--मेरा लेख, उत्तर-भारती, पृष्ठ ६७, १९३१।

२. ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय ७२, पंक्ति १५।

३. मेक्रिण्डिल, खण्ड २६, पृष्ठ ६८।

४. "पाषाणेष्टकाबद्धपार्श्वा वा"--अर्थशास्त्र, (शास्त्री-सम्पादित), पृष्ठ ५१।

५. "एवं संशोध्य परिखात्रितयं परितोऽश्मभिः।
विधेयमिष्टकाभिर्वा सम्यग्बद्धतलं भवेत्॥"
--समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४०, श्लोक २१।

६. मेक्रिण्डिल, खण्ड २६, पृष्ठ ६४।

७. "चतुर्दश द्वादश दशेति दण्डानुविस्तीर्णा।"
--अर्थशास्त्र (शास्त्री-सम्पादित), पृष्ठ ५१।

८. "सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृताम्।"
--महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ५७।

९. "गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिर्वृतां पुरीम्।"
--हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय ९८, पंक्ति २२।

नवसाहसाङ्कचरित।[१] परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई से कम होती थी। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई से चतुर्थांश कम हो।[२] शुक्रनीति में कहा गया है कि परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई की केवल आधी हो।[३] परिखा की गहराई का जो माप अन्य स्थलों पर मिलता है, उससे यह ज्ञात होता है कि यह परीखा की चौड़ाई के माप से बहुत ही कम थां। उदाहरणार्थ मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र की परिखा को जहाँ ६०० फुट चौड़ी बताया है, वहाँ उसकी गहराई केवल १५ फुट ही कहा है।[४] ऐसा प्रतीत होता है। कि परिखा की आदर्श गहराई १५ फुट ही मानी जाती थी, क्योंकि पाणिनि के एक सूत्र के उदाहरण में काशिका में परिखा की गहराई (**त्रिपुरुषी**) तीन पुरुसा बताई गई है। इससे स्पष्ट है कि परिखा की गहराई को नापने में पुरुष अर्थात् पुरुसा का प्रयोग किया जाता था। अर्थशास्त्र में परिखा की गहराई को नापने वाले इसी माप को खातपौरुष कहा गया है। इस खातपौरुष को अर्थशास्त्र में ८४ अंगुल यानी ५ फुट ३ इञ्च चौड़ा माना गया है। इस प्रकार त्रिपुरुषी परिखा की गहराई १५ फुट ९ इञ्च आती है।[५] हो सकता है कि यही परिखा की प्रामाणिक गहराई रही हो।

परिखा के भेद—परिखा तीन प्रकार की होती थी (१) जल परिखा, (२) पङ्क-परिखा तथा (३) रिक्त-परिखा। जलपरिखा को जातकों में "**उदकपरिखा**" अर्थात् पानी से भरी हुई परिखा कहा गया है।[६] अर्थशास्त्र में इस परिखा को "**तोयपूर्णा परिखा**" कहा गया है।[७] परिखा का जल कभी-कभी स्थिर तथा कभी-कभी प्रवाहपूर्ण हुआ करता था। इसका जल प्रवाहपूर्ण उस दशा में होता था, जब कि इसके अग्रभाग को नदी से मिला दिया जाता था। वायु पुराण में कहा गया है कि परिखा के मुख को नदी से मिला दिया जाय।[८] ऐसी परिखा नदी के जल से ही परिपूर्ण हुआ करती थी। इस प्रकार के जल से भरी हुई परिखा को अर्थशास्त्र में

---

१. "सशब्दजाम्बूनदमेखलेव", नवसाहसाङ्कचरितम्, सर्ग १, पंक्ति ३६।
२. अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय ३, पृष्ठ ५५।
३. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, श्लोक २४०।
४. मेक्रिण्डिल, खण्ड २६, पृष्ठ ६४।
५. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४।
६. वही, पृष्ठ १४४।
७. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।
८. "स्रोतसीसहतद्द्वारं निखातं पुनरेव च।"
—वायु पुराण, अध्याय ८, पंक्ति २०९।

"सपरिवाहा" परिखा कहा गया है।[१] दूसरे वर्ग की परिखा को जातकों में "कद्दम (कर्दम) परिखा" (दलदल से भरी हुई) कहा गया है।[२] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण शत्रुओं के लिये परिखा को पार करना असम्भव था। तीसरे वर्ग की परिखा को जातकों में 'सुक्खपरिखा' (सूखी हुई) कहा गया है।[३] महाउम्मग जातक से विदित होता है कि मिथिला में तीनों प्रकार की परिखाएँ विद्यमान थीं।[४]

परिखा-सम्बन्धी अन्य सूचनाएँ—परिखा के जल में कभी-कभी भयङ्कर जल-जन्तु भी छोड़ दिये जाते थे, जिससे शत्रु परिखा को पार नहीं कर सकें। कौटिल्य ने परिखा के जल में घड़ियालों के छोड़ने का उल्लेख किया है। इस प्रकार की परिखा को उन्होंने "ग्राहवती" परिखा कहा है।[५] महाभारत में भी कहा गया है कि परिखा के जल में घड़ियाल तथा नाक (नक्र) आदि भयङ्कर जलजन्तु छोड़ दिये जायँ।[६] तमिल ग्रन्थों के अनुसार वञ्जी की जलपरिखा में मगर बहुत संख्या में छोड़े गये थे।[७] सुन्दरता के हेतु परिखा के जल में कमल तथा कुमुद आदि जलपुष्प लगाये जाते थे। यही कारण है कि कौटिल्य ने जलपरिखा को "पद्मवती परिखा" कहा है।[८] रामायण में पद्म तथा उत्पल आदि से अलंकृत परिखाओं का उल्लेख किया गया है।[९] कभी-कभी जलपरिखा में हंस तथा कारण्डव आदि पक्षी भी सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिये छोड़े जाते थे। हरिवंश के अनुसार द्वारका की परिखा में सौन्दर्य के प्राण कमल तथा हंस दोनों ही सुशोभित थे।[१०] नवसाहसाङ्कचरितम् के अनुसार उज्जयिनी की परिखा में कमल की पंक्तियों के साथ-साथ हंसों के समूह भी सुशोभित

---

१. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।
२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४।
३. वही, पृष्ठ १४४।
४. जातक, संख्या ५४६। दत्त, टा. प्लै. एं. इं., पृष्ठ ९२।
५. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।
६. "आपूरयेच्च परिखां स्थानुनक्रझषाकुलाम्।"
—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ६९, पंक्ति ६८।
७. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन एंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३३।
८. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।
९. "परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलंकृताम्।"
—सुन्दर काण्ड, सर्ग २, पंक्ति २६।
१०. "पद्मखंडाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः।"
—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, पंक्ति २१।

थे।[1] तमिल-ग्रन्थों के लेखकों ने मदुरा की परिखा को इसी रूप में चित्रित किया है।[2] नगर-परिखाओं में कभी-कभी नालों (परिवाहों) का अशुद्ध जल भी गिराया जाता था। तमिल ग्रन्थों के अनुसार वञ्जी की परिखा में परिवाहों की गन्दगी गिराई जाती थी।[3]

वप्र—परिखा के निर्माण के उपरान्त वप्र (रैम्पर्ट) का निर्माण किया जाता था। परिखा को बनाते समय जो मिट्टी खोदी जाती थी, उसी के द्वारा वप्र का निर्माण किया जाता था। इसकी सूचना अर्थशास्त्र के द्वारा मिलती है।[4] समराङ्गण-सूत्रधार में भी कहा गया है कि जो मिट्टी परिखा को बनाने के लिये खोद निकाली जाय, उसी के द्वारा वप्र का निर्माण हो (**परिखोत्खातया मृदा**)[5]। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि वप्र-निर्माण के लिये यह मिट्टी परिखा से ४ दण्ड (२४ फुट) की दूरी पर इकट्ठी की जाती थी।[6] इस ग्रन्थ में कहा गया है कि मिट्टी को चौकोर बनाकर हाथियों एवं बैलों के द्वारा खुदवाकर भली-भाँति दबा दिया जाय।[7] समराङ्गणसूत्रधार में भी कहा गया है कि वप्र की मिट्टी को हाथियों एवं बैलों के द्वारा अच्छी तरह कुचलवा लिया जाय।[8] इस ग्रन्थ के अनुसार वप्र की ऊपरी सतह को ऐसी क्रिया के द्वारा भली-भाँति बराबर कर देना बहुत ही आवश्यक है।[9] वप्र के ऊपर कटीली तथा विषैली झाड़ियाँ लगाकर उसे शत्रुओं के लिये अगम्य बना दिया जाता था।[10] इस प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख समराङ्गणसूत्रधार में भी प्राप्त

---

१. "आमंजुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिर्विकस्वरांभोजरजःपिशंगाः।"
—नवसाहसाङ्कचरितम्, सर्ग १, श्लोक २८।

२. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३४।

३. वही, पृष्ठ ६२।

४. "खाताद्वप्रं कारयेत्।"—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।

५. समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४०।

६. "चतुर्दण्डावकृष्टं परिखायाः. . .वप्रं कारयेत्।"—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।

७. "हस्तिभिर्गोभिश्च क्षुण्णम्।" वही, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।—द्रष्टव्य, मेरा लेख, सम्मेलन-पत्रिका, कला-अङ्क, १९५८, पृष्ठ २७३।

८. "सोत्सङ्गं गजपृष्ठं वा गोत्रीयपदताड़ितम्।"—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४०।

९. "भूप्रदेशान् पुरा निम्नानापूर्य समतां नयेत्।"—वही, पृष्ठ ४०।

१०. "कंटकगुल्मविषवल्लीप्रतानवन्तम्।"—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)।

होता है।[1] वप्र बनाते समय बाँस-बल्ली आदि की पाड़ बाँधने से जो छेद **(वास्तुच्छिद्र)** होते थे, उन्हें अलग मिट्टी से भर दिया जाता था।[2] इस प्रकार जो **वप्र** तैयार होता था, वह अर्थशास्त्र के अनुसार ६ दण्ड (३६ फुट) ऊँचा तथा १२ दण्ड (७२) फुट चौड़ा होता था।[3]

प्राकार——वप्र के ऊपर प्राकार अर्थात् परकोटे का निर्माण किया जाता था।[4] काशिका से विदित होता है कि वप्र के ऊपर जितनी भूमि में प्राकार बनाना होता था, उसे **'प्राकारीय देश'** कहा जाता था।[5] प्राकार नगर की सुरक्षा का अभिन्न साधन समझा जाता था। यही कारण है कि **इन्द्रप्रस्थ,**[6] **द्वारका,**[7] **मथुरा,**[8] **अवन्ति,**[9] **मदुरा**[10] **तथा कांची**[11] आदि सभी विशिष्ट भारतीय नगर प्राकारपरिवेष्टित थे। प्राकार तीन प्रकार के होते थे: (१) **पांसुप्राकार,** (२) **इष्टकाप्राकार** तथा (३) **प्रस्तरप्राकार**। पांसुप्राकार मिट्टी के द्वारा बना होता था।[12] महाभारत में इसी को **मृद्दुर्ग** कहा गया है।[13] शिल्पशास्त्रों में भी पांसुप्राकार के द्वारा परिवेष्टित नगर के लिये मृद्दुर्ग शब्द आता है। बाद में **पांसुप्राकार** अथवा **मृद्दुर्ग** को ही **धूलकोट** कहने

---

१. "बाह्यभागं पुनस्तस्य विदध्यात् सर्वतोदिशम्।
द्रुममूलैर्लताजालैः कण्टकैरपि संवृतम्।।"
——समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४०।

२. "पांसुविशेषेण वास्तुच्छिद्रं वा पूरयेत्।" वही, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

३. "षड्दण्डोच्छ्रितमवरुद्धं तद्द्विगुणविषकम्भम्।"——वही, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

४. "वप्रस्योपरि प्राकारम्।"——अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

५. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४३।

६. "प्राकारेण च सम्पन्ना दिवमावृत्य तिष्ठता।"——महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ५९।

७. "प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डुरेण विराजिताम्।"——वही, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ९।

८. "सा पुरी परमोदारा साट्टप्राकारतोरणा।"
हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, पंक्ति ११५।

९. "दृढ़प्राकारतोरणा।" ब्रह्म पुराण, अध्याय ४१, पंक्ति ५९।

१०. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३८।

११. वही, पृष्ठ ७०।

१२. हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, पंक्ति ११६।

१३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८७।

लगे।[१] इष्टकाप्राकार में ईंटों की चुनाई की जाती थी। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के प्राकार को 'ऐष्टक प्राकार' कहा गया है।[२] समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि प्राकार के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया जाय।[३] जो ईंटें इस प्रकार के प्राकार में चुनी जाने के लिये बनाई जाती थीं, उन्हीं को पाणिनि ने 'प्राकारीया इष्टकाः' कहा है।[४] तीसरे प्रकार के प्राकार में पत्थर लगाये जाते थे। रुमिनदेई के स्तम्भलेख में पत्थर की दीवाल (शिला-भित्तिका) का उल्लेख मिलता है।[५] तामिल ग्रन्थों से विदित होता है कि पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा की दीवाल में पत्थर चुने गये थे।[६] तक्षशिला में प्रस्तरप्राकार के भी वर्तमान् होने के प्रमाण मिलते हैं।

एक नगर में प्राकार की संख्या बहुधा एक ही होती थी पर बड़े नगरों में कई हुआ करती थी। इसका प्रमाण मेगस्थनीज़ है। पाटलिपुत्र के वर्णन के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि यह नगर तीन प्राकारों के द्वारा परिवेष्टित था। जातकों के अनुसार वैशाली के चतुर्दिक तीन प्राकार विद्यमान थे (तिहि पाकारेहि परिक्खितम्)।[७] अर्थशास्त्र में कई प्राकारों के बनाने का निर्देश किया गया है।[८] अर्थशास्त्र में दो प्राकारों के बीच की दूरी १२ से लेकर २४ हस्त (१८ फुट से लेकर ३६ फुट) तक दी गई है।[९] ये प्राकार बहुत ऊँचे हुआ करते थे। जातकों में प्राकार की ऊँचाई १८ हाथ (अट्ठारस हत्थ) दी गई है।[१०] बाद के ग्रन्थों में भी प्राकार की अधिक उच्चता अनिवार्य मानी गई है। शुक्रनीति में कहा गया है कि नगर-प्राकार इतने ऊँचे बनाये जायँ कि शत्रु उन्हें पार न कर सकें।[११] ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार नगर-

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४।

२. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२।

३. "कुर्यात् प्राकारमुद्दामं यद्वा पक्वेष्टकामयम्।"
समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४१।

४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४३।

५. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ७०।

६. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३७।

७. जातक, १, ५०४।

८. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

९. "द्वादशहस्ताद...चतुर्विंशति हस्तादिति कारयेत्।"—वही, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

१०. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५।

११. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ७४४। दत्त, टा. प्लै., ८७।

प्राकार को २० हाथ (३० फुट) ऊँचा उठाया जाय।[१] कहीं-कहीं प्राकार की ऊँचाई केवल ९ हाथ रखी जाती थी।[२]

कौटिल्य का मत है कि प्राकार के बाहर की भूमि में लोगों के आने जाने को रोकने के लिये गहरे गड्ढे बनाये जायँ, लताजाल एवं कटीली झाड़ियों का आरोपण किया जाय तथा ऊँचे टीले उठा दिये जायँ।[३] समराङ्गणसूत्रधार में भी कहा गया है कि प्राकार के सामने वाली भूमि में लताजाल, द्रुममूल तथा काँटे लगा दिये जायँ ताकि वहाँ कोई आ-जा न सके।[४] अर्थशास्त्र से विदित होता है कि प्राकार की चोटी पर नगर की रक्षा के लिये आक्रमणकारी यन्त्र रखे जाते थे। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के यन्त्रों की तालिका मिलती है, उदाहरणार्थः—पाषाण (पत्थरों के टुकड़े), कुद्दाल (कुदार), कुठारी (कुठार), मुसृष्ठि (मूसर), मुद्गर (मुगदड़), दण्ड (डण्डा), शतघ्नी (सैकड़ों को मारनेवाला यन्त्र) तथा अग्निसंयोग (अग्नि फेंकने वाला यन्त्र)।[५] रामायण से विदित होता है कि अयोध्या का नगर शतघ्नी के द्वारा रक्षित था।[६] हस्तिनापुर की रक्षा शतघ्नी के द्वारा होती थी।[७] इन्द्रप्रस्थ नगर की दीवालों के ऊपर तरह तरह के आक्रमणकारी यंत्र रखे गये थे तथा इनके

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय १०३, पंक्ति १२०।

२. "प्राकार उत्तमः कार्यो नवहस्तैः समुच्छ्रितः।"—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १७३।

३. "बहिर्जानुभञ्जिनीं त्रिशूलकूटवयातकण्टकम्प्रतिसराहिपृष्ठतालपत्रशृंगाटक-श्वदंष्ट्रार्गलोपस्कन्दपादुकाम्बरीषोदयानकैः छन्नपथं कारयेत्।"—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

४. "बाह्यभागं पुनस्तस्य विदध्यात् सर्वतोदिशम्।
द्रुममूलैर्लताजालैः कण्टकैरपि संवृतम्।"
समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४०, श्लोक २४।

५. "तासुपाषाणकुद्दालकुठारीकाण्डकल्पनाः।
मुसृष्ठिमुद्गरा दण्डचक्रयन्त्रशतघ्नयः॥
कार्या कार्मारिकाश्शूलावेधनाग्राश्चवेणकः।
उष्ट्रग्रीव्याऽग्निसंयोगाः कुप्यकुल्पे च योऽवधिः॥"
अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५४ (शास्त्री-सम्पादित)।

६. "शतघ्नीशतसंकुलाम्।" रामायण, बाल कांड, सर्ग ५।

७. "शतघ्नीचक्रयन्त्रैश्च गुप्तामन्यैर्दुरासदाम्।" महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ९६, पंक्ति १०८।

प्रयोग में निपुण योद्धाओं की नियुक्ति की गई थी।[1] अपराजितपृच्छा में नगर की दीवाल के ऊपर इकट्ठा किये जाने वाले कुछ शस्त्रों के नाम आते हैं; उदाहरणार्थ भैरव यन्त्र, भास्कर यन्त्र, महिषासुर यन्त्र तथा वाराह यन्त्र।[2]

अट्टालक—प्राकारों में बुर्जों का निर्माण किया जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें 'अट्टालक' कहा गया है। ये अट्टालक नगर-प्राकार की चारो दिशाओं में विद्यमान होते थे। समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि प्रत्येक दिशा के नगर-प्राकार में बुर्ज़ बनाये जायँ।[3] अर्थशास्त्र के अनुसार दो अट्टालकों के बीच तीस दण्ड (१८० फुट) की दूरी होती थी।[4] अट्टालकों की संख्या के विषय में मेगस्थनीज़ के यात्राविवरण से सूचना मिलती है। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र के प्राकार में ५७० बुर्जों का निर्माण किया गया था।[5] हरिवंश[6] तथा मत्स्य पुराण[7] से भी विदित होता है कि अट्टालकों की संख्या अधिक हुआ करती थी। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि बुर्ज़ के ऊपर पहुँचने के लिये सीढ़ी (सोपान) का निर्माण किया जाता था। इसकी ऊँचाई बुर्ज़ की ऊँचाई के बराबर होती थी (**अट्टालकमुत्सेध... सोपानं कारयेत्**)।[8] बुर्ज़ की चोटी पर सैनिक नियुक्त किये जाते थे। जब दुर्ग पर शत्रु आक्रमण करता था, उस समय उनका संहार इन सैनिकों का प्रधान कर्त्तव्य था।

गोपुर—नगर के प्राकार द्वारयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र में नगरद्वार को गोपुर

---

१. "विविधरपि निविद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः।
शक्तिभिश्चावृतं विद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः॥
तल्पैश्चाभ्यसिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
आयासैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत्पुरोत्तमम्॥"
—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, श्लोक ३२-३३।

२. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १८०।

३. "प्राकारेऽट्टालकास्तस्मिन् दिक्षु दिक्षु चतुर्दिशम्।"
—समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४१, श्लोक ३१।

४. "त्रिंशद्दण्डान्तरं च द्वयोरट्टालकयोर्मध्ये।"
—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२, (शास्त्री)।

५. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, खण्ड २६, पृष्ठ ६८।

६. हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, पंक्ति ११५।

७. मत्स्य पुराण, अध्याय २१७, श्लोक ८।

८. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)।

कहा गया है।[१] अमरकोष में भी नगरद्वार के लिये गोपुर शब्द आता है।[२] शिशुपाल-वध में भी पुरद्वार को गोपुर कहा गया है।[३] प्रधान नगरद्वारों की संख्या चार होती थी।[४] इनमें से प्रत्येक अलग-अलग चारो दिशाओं में वर्तमान होता था। पाणिनि के अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि नगरद्वार का नाम उस दूसरे नगर के नाम पर पड़ता था, जो कि इसके समक्ष वर्तमान् होता था (**अभिनिष्क्रामति द्वारम्**), उदाहरणार्थ:—**"माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्"** अर्थात् कन्नौज का वह दरवाज़ा जो मथुरा की ओर पड़ता था।[५] नगरद्वार के नामकरण का यह सिद्धान्त कालान्तर में भी विद्यमान था। मुगलों के काल तक नगरद्वार का नाम इसी सिद्धान्त पर पड़ता था, उदाहरणार्थ दिल्ली का **'अजमेरी दरवाजा'**।[६]

अर्थशास्त्र में नगरद्वार के नामकरण के विषय में एक दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसमें देवताओं के नाम पर पुर के चारो द्वारों को **ब्राह्मद्वार, ऐन्द्रद्वार, याम्यद्वार तथा सेनापत्यद्वार** कहा गया है।[७] यहाँ पर याम्यद्वार सम्भवतः दक्षिण द्वार को कहा गया है, क्योंकि यम दक्षिणी दिशा का देवता माना जाता है। ऐन्द्रद्वार का प्रयोग सम्भवतः पूर्व द्वार के लिये किया गया है, क्योंकि इन्द्र पूर्व दिशा के देवता माने जाते हैं। अर्थशास्त्र में ब्राह्मद्वार से तात्पर्य उत्तर द्वार से है, क्योंकि लेखक ने ब्राह्मणों का निवासस्थान तथा ब्रह्मा के मन्दिर की स्थापना उत्तर दिशा में मानी है। अर्थशास्त्र में सेनापत्यद्वार का नाम उस कार्तिकेय के नाम पर रखा हुआ प्रतीत होता है, जो देवताओं के सेनापति माने जाते हैं। सेनापत्यद्वार का तात्पर्य पश्चिम द्वार से हो सकता है पर यह निश्चयात्मक रूप से तभी कहा जा सकता है, जब कि कार्तिकेय का पश्चिम दिशा के साथ संबन्ध स्पष्ट रूप से दिखाया जा सके।

प्रतोली—मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि पाटलिपुत्र के प्राकार में ६४ द्वार वर्तमान थे।[८] इससे विदित होता है कि प्राकार में चार प्रधान द्वारों के अतिरिक्त

---

१. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५३ (शास्त्री)।
२. "पुरद्वारं तु गोपुरम्।"—अमरकोष, पृष्ठ ७७।
३. शिशुपालवध, सर्ग १३, २७।
४. "नगरस्य चतुसु द्वारेसु।"—जातक, १, २६२।
५. डॉक्टर अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५।
६. डॉक्टर अग्रवाल, इ० नो० पा०, पृष्ठ १४०।
७. "ब्राह्मैन्द्रयाम्यसेनापत्यानि द्वाराणि।"—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५६, (शास्त्री)।
८. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, पृष्ठ ६६।

गौण द्वार भी होते थे। अर्थशास्त्र में गौण नगरद्वार को प्रतोली कहा गया है।[१] महाभाष्य के अनुसार पाटलिपुत्र के परकोटे में "प्रतोली-द्वार" बने हुए थे।[२] प्रतोली का उल्लेख कुमारगुप्त प्रथमकालीन बिलसद के लेख में भी हुआ है।[३] इसके बनाने की परम्परा मध्यकाल तक चली आ रही थी, क्योंकि पृथ्वीचन्द्रचरित (जो १५वीं शताब्दी का ग्रन्थ है) में "प्रतोली-द्वार" का उल्लेख हुआ है।[४] प्रधान द्वार की चौड़ाई प्रतोली से अधिक हुआ करती थी। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि प्रधान नगर-द्वार (गोपुर) की चौड़ाई प्रतोली की छह गनी हो (प्रतोली षट्तुलान्तरं द्वारं कारयेत्)।[५] नगरद्वार की ऊँचाई उतनी ही रहती थी जितनी कि प्राकार की, क्योंकि वे प्राकार में ही खोले जाते थे।

इन दरवाज़ों में कपाट लगे होते थे **(कपाटाः सर्वद्वारेषु)**।[६] नगर-द्वार के ऊपर बुर्ज़ बनाया जाता था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि नगरद्वार के ऊपर एक बुर्ज़ बनाया जाय, जो कि आकार में गोधा (घड़ियाल) के मुख के समान हो।[७] मेगस्थनीज़ के यात्राविवरण से भी विदित होता है कि पाटलिपुत्र के नगरद्वारों के उपर बुर्ज़ बने हुए थे।[८] इस प्रकार की प्रथा दक्षिणी भारत में भी विद्यमान थी। पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा के नगरद्वारों में बुर्ज़ बने हुए थे।[९] मत्स्य पुराण में पुर-द्वार के ऊपर निर्मित बुर्ज़ के लिये **'अट्टालक-द्वार'** शब्द का उल्लेख मिलता है (अध्याय १३०)। इनमें सैनिक रहते थे। इनका काम आक्रमण के समय नगर की रक्षा करना था। मदुरा के नगरद्वारों के बुर्ज़ों में इस प्रकार के सैनिक रहते थे।[१०] नगर-द्वार निश्चित समय पर खुलते तथा बन्द होते थे।[११] रक्षा के निमित्त पुरद्वारों

---

१. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५३, शास्त्री।
२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५।
३. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २७९।
४. प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह (पृथ्वीचन्द्रचरित), पृष्ठ ९४।
५. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५३ (शास्त्री)।
६. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १७३।
७. "प्राकारसमं मुखमवस्थाप्य त्रिभागगोधामुखं गोपुरं कारयेत्।"
—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५३, (शास्त्री)।
८. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, पृष्ठ ६६।
९. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ २६।
१०. वही, पृष्ठ २६।
११. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, पृष्ठ ६६।

के समीप सैनिक नियुक्त किये जाते थे।[१] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण पुरद्वार के बीच से नगर के भीतर शत्रु का कोई भी व्यक्ति नहीं जा सकता था।

इन्द्रकोश तथा देवपथ—कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक दो अट्टालकों (बुर्जों) के बीच एक इन्द्रकोश हुआ करता था। यह एक प्रकार का कमरा था, जिसमें तीन धनुषधारी पहरेदारों के बैठने के लिये आसन बने होते थे (**त्रिधानुष्काधिष्ठानं... इन्द्रकोशं कारयेत्**)।[२] इन्द्रकोश के पीछे देवताओं के लिये एक मार्ग बनाया जाता था, जिसे अर्थशास्त्र में 'देवपथ' कहा गया है। यह आठ हाथ चौड़ा हुआ करता था (अष्टहस्तायतं देवपथं कारयेत्)।[३] प्राकार के विषय में कौटिल्य के पहले ही पाणिनि ने अष्टाध्यायी में देवपथ का उल्लेख किया है (**देवपथादिभ्यश्च**)।[४] रघुवंश में कालिदास ने देवपथ को सुरपथ कहा है (**क्वचित् पथा संचरते सुराणाम्**)।[५] पतञ्जलि ने महाभाष्य में पाटलिपुत्र के प्राकार के चार अङ्गों का उल्लेख किया है; उदाहरणार्थ प्रतोली, अट्टालक, इन्द्रकोश तथा देवपथ।[६] पतञ्जलि के अनुसार अयोध्या के प्राकार में भी **प्रतोली** (गौण द्वार), **अट्टालक** (बुर्ज), **इन्द्रकोश** तथा **देव-पथ** बने हुए थे। उनके शब्दों में ये विभिन्न भाग पाटलिपुत्र के प्राकार के विविध अङ्गों के दृष्टान्त थे (**पाटलिपुत्रस्य व्याख्यायिनी सुकोशला पाटलिपुत्रं चाप्यवयवश आचष्ट ईदृशा अस्य प्राकारा इति**)।[७]

तरुओं का आरोपण—परिखा के बाहर नगर के चतुर्दिक कभी-कभी तरु-समूह आरोपित किये जाते थे। रामायण से विदित होता है कि अयोध्या के चतुर्दिक साल वृक्षों का वन (**सालमेखला**) था।[८] इस ग्रन्थ में कहा गया है कि लङ्का के चारो ओर तरुओं का एक वन था।[९] तामिल ग्रन्थों में मथुरा के चारो ओर घने

---

१. हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४।
२. अर्थशास्त्र, प्रकरण २१, पृष्ठ ३३ (यौली)।
३. वही, पृष्ठ ३३।
४. पाणिनि, ५, ३, १००।
५. रघुवंश, १३, १९।
६. पतञ्जलि, ३, ४, ६६।
७. वही, ४, ३, ६६।
८. "उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम्।"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति २४।
९. "शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्ति वनानि च।"
—सुन्दरकाण्ड, सर्ग २, पंक्ति ११।

वन के वर्तमान होने का उल्लेख मिलता है।[१] लगता है कि अयोध्या की भाँति पाटलिपुत्र के चतुर्दिक भी कोई सालमेखला थी तथा मेगस्थनीज़ ने इसी को भूल से लकड़ी की चहारदीवारी कहा है।

नगरों का आकार—नगर-मापन की क्रिया में नगर के आकार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि नगरों के सात प्रामाणिक आकार माने जाते थे :—(१) **चौकोर** (२) **आयताकार** (३) **वृत्ताकार** (४) **समानान्तर चतुर्भुज का आकार** (५) **अर्धचन्द्राकार** (६) **भुजङ्गाकार** तथा (७) **त्रिभुजाकार**। ह्वान् च्वांग के यात्राविवरण से विदित होता है कि उसके आगमन के समय भारतवर्ष में चौकोर नगर वर्तमान थे।[२] युक्तिकल्पतरु में इसे नगर का श्रेष्ठ आकार माना गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार जो राजा चौकोर नगर बनवाता है, उसे चारो वर्गों की फल-प्राप्ति होती है।[३] मत्स्य-पुराण में इसे शुभ आकार माना गया है।[४] आयताकार नगरों के विषय में सूचना प्राचीन महाकाव्यों (महाभारत तथा रामायण) से मिलती है। इनमें द्वारका[५] तथा अयोध्या[६] का जो वर्णन मिलता है, उनसे विदित होता है कि ये नगर आयताकार थे। मत्स्य पुराण में आयताकार नगर को नागरिकों के लिये मङ्गलदायक माना गया है।[७] ब्रह्माण्ड पुराण में आयताकार नगर को प्रशस्त नगर कहा गया है।[८] वृत्ताकार नगर का उल्लेख मत्स्य पुराण[९] तथा मयमतम् में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार वृत्ताकार पुर का श्रेष्ठ आकार है।[१०]

---

१. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेंट डकन, पृष्ठ २५।

२. वाटर्स, १, १४७।

३. "चतुरस्त्रं चतुर्वर्गफलाय पृथिवीपते।"

—युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २३।

४. मत्स्य पुराण, अध्याय २१७, पंक्ति २४।

५. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७।

६. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, ७।

७. "आयतं . . . वा कारयेत्पुरम्"।

—मत्स्य पुराण, अध्याय २१७, पंक्ति २४।

८. "आयतं दिव्यं प्रशस्तं तैः पुरं कृतम्।"

—ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय ७, पंक्ति २१६।

९. मत्स्य पुराण, अध्याय २१७, पंक्ति २४।

१०. मयमतम्, अध्याय १०, श्लोक १३।

भारतीय नगरों का आकार कभी-कभी समानान्तर चतुर्भुजतुल्य भी हुआ करता था। इसकी सूचना मेगस्थनीज़ के यात्राविवरण के द्वारा मिलती है। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र का आकार समानान्तर चतुर्भुज के समान था।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धचन्द्राकार नगर बहुसंख्या में वर्तमान थे। बहुधा अनेक प्राचीन ग्रन्थों में अर्धचन्द्राकार नगरों के उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ हरिवंश में मथुरा को अर्धचन्द्राकार कहा गया है।[२] मत्स्य पुराण में इस प्रकार के नगर की बहुत ही प्रशंसा की गई है। इसमें कहा गया है कि जो नगर नदी के तट पर स्थित होता है तथा जिसका आकार अर्धचन्द्र के समान होता है, वह सब प्रकार से श्रेष्ठ है।[३] अग्निपुराण[४] तथा समरांगणसूत्रधार[५] में धनुषाकार नगर का उल्लेख मिलता है। लगता है कि इन ग्रन्थों में अर्धचन्द्राकार को ही **धनुषाकार** नगर कहा गया है। अग्निपुराण में कहा गया है कि धनुषाकार नगर पुरवासियों के लिये सुखमूलक तथा शान्तिप्रद होता है।[६]

अपराजितपृच्छा में भी धनुषाकार को नगर का शुभ आकार माना गया है।[७] नगरों का आकार कभी-कभी कुटिल भुजङ्ग (वह भुजङ्ग जो अपने शरीर को मंडल के समान बना लेता है) के समान भी होता था। मदुरा का आकार इसी प्रकार का था।[८] समराङ्गणसूत्रधार में इस प्रकार के नगर को **भुजङ्गकुटिल** कहा गया है।[९] युक्तिकल्पतरु में इसे **वर्तुल** तथा **वलयाकृत** कहा गया है।[१०] विश्वकर्मप्रकाश में

---

१. मेक्रिण्डिल, खण्ड २६, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, पृष्ठ ६८।

२. "अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा" हरिवंश पर्व, अध्याय ५४, पंक्ति १२०।

३. "अर्द्धचन्द्रं प्रशंसन्ति नदीतीरेषु तद्वसन्।"
—मत्स्य पुराण, अध्याय २१७, पंक्ति २७।

४. अग्नि पुराण, अध्याय १०८, पंक्ति ९।

५. "चापाकारे पुरे लोके निवसन् भवति ध्रुवम्।"
—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४४, पंक्ति १२२।

६. "चापाभं...पुरारम्भे हि शान्तिकृत्।"
—अग्नि पुराण, अध्याय १०८, पंक्ति १०।

७. "वृद्धिदं पार्श्वदण्डं च श्रीपदं श्रीपुरं तथा।
रिपुमर्द्दनं रिप्वन्तं स्नाहं चैवाभयप्रदम्॥"—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १८१।

८. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३३।

९. समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४४।

१०. युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २३।

भी इसे वर्तुल कहा गया है।[१] त्रिभुजाकार नगर को शास्त्रों में **त्र्यस्त्र**[२] तथा **त्रिकोण**[३] कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिकोण नगर बहुत अधिक नहीं होते थे, क्योंकि नगरों का जिन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है वहाँ त्रिकोण नगर का उल्लेख नहीं मिलता। केवल शिल्पशास्त्रों तथा पारिभाषिक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। दूसरे, जिन पारिभाषिक ग्रन्थों में त्रिकोण नगर का वर्णन आता है, उनमें से कुछ इस आकार के प्रतिकूल हैं। उदाहरणार्थ:—युक्तिकल्पतरु में कहा गया है कि त्र्यस्त्र नगर तीनों वर्गों **(अर्थ, धर्म तथा काम)** के विनाश का कारण होता है।[४]

राजमार्गों का निर्माण—परिखा एवं प्राकार के निर्माण तथा नगर के आकार-निर्धारण के उपरान्त राजमार्ग के निर्माण की क्रिया प्रारम्भ होती थी। राजमार्ग के लिये प्राचीन ग्रन्थों में कभी-कभी राजपथ[५] तथा महारथ्या[६] शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनकी संख्या नगर के विस्तार को देखकर निर्धारित की जाती थी। शुक्रनीति में कहा गया है कि पुर के परिमाण को देखकर ही राजा राजमार्गों की संख्या को निश्चित करे।[७] बड़े नगरों में बहुधा कई राजमार्ग होते थे। इसकी सूचना हरिवंश की पंक्तियों से मिलती है। इसमें कहा गया है कि द्वारका के मार्गों की संख्या आठ थी।[८] अपराजितपृच्छा में नव बड़े राजमार्गों के निर्माण का निर्देश मिलता है।[९] राजमार्गों को काफी चौड़ा बनाया जाता था। इसके दो उद्देश्य थे। पहला उद्देश्य तो यह था कि अधिक चौड़े होने पर ही राजमार्ग पर प्रकाश तथा वायु अच्छी तरह मिल सकता था। विष्णुसंहिता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों तथा वायु की प्राप्ति के लिये राजमार्ग चौड़े बनाये

---

१. विश्वकर्मप्रकाश, अध्याय ११, पृष्ठ १८७।
२. युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २३।
३. विश्वकर्मप्रकाश, अध्याय ११, पृष्ठ १८७।
४. "त्र्यस्त्रं त्रिशक्तिनाशाय।"—युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २३।
५. विष्णुसंहिता, अध्याय ७२ पंक्ति ७८।
६. समरांगणसूत्रधार, पृष्ठ ३९।
७. "पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् सुबहून् कल्पयेन्नृपः।"—शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ५३६। दत्त, टा० प्लै० एं० इं०, पृष्ठ ११६।
८. "अष्टमार्गमहारथ्याम्।" हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८।
९. "नवमार्गकृता संख्या निर्मिता विश्वकर्मणा।"—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १७२।

जायँ।[१] दूसरा उद्देश्य यह था कि राजमार्ग के अधिक चौड़े होने पर ही यातायात की सुविधा हो सकती थी।

कतिपय ग्रन्थों से राजमार्ग की चौड़ाई के विषय में सूचना मिलती है। अर्थ-शास्त्र में कहा गया है कि पुर का प्रधान राजमार्ग ४ दण्ड अर्थात् २४ फुट चौड़ा रखा जाय।[२] शुक्रनीति में नगर के प्रधान राजमार्गों की चौड़ाई ३० हस्त (४५ फुट) बताई गई है।[३] ब्रह्माण्ड पुराण में राजमार्ग की चौड़ाई इससे भी अधिक बताई गई है। इस ग्रंथ के अनुसार प्रधान राजमार्ग दस धनुष अर्थात् ४० हस्त (६० फुट) चौड़े बनाये जायँ।[४] इन राजमार्गों का बीच वाला हिस्सा ऊपर उठा होता था। शुक्र-नीति में कहा गया है कि राजमार्ग का मध्य भाग कछुये की पीठ की भाँति ऊपर उठा हुआ हो।[५] इस प्रकार के निर्माण के कारण राजमार्ग के ऊपर जल का सञ्चय नहीं हो सकता था। कभी-कभी राजमार्गों के दोनों ओर परिवाह (नाले) बनाये जाते थे, जिनके द्वारा नगर की गन्दगी बहा दी जाती थी।[६] तमिल ग्रन्थों के अनुसार मदुरा के राजमार्गों के दोनों ओर नाले बनाये गये थे। इनके द्वारा नगर की गन्दगी बाहर निकाल दी जाती थी।[७]

कभी-कभी एक ही नगर में रथ, तुरंग, कुञ्जर तथा मनुष्यों के सञ्चरण के लिये पृथक् मार्ग हुआ करते थे। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के मार्गों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में **हस्तिपथ, रथपथ** तथा **पशुपथ** आदि विभिन्न प्रकार के मार्गों का वर्णन मिलता है।[८] ब्रह्माण्ड पुराण में भी **मनुष्यपथ, वाजिपथ** तथा **रथ-पथ** का पृथक् उल्लेख मिलता है।[९] हरिवंश में भी **रथमार्ग** तथा **मनुष्य-मार्ग** का

---

१. "पन्थानश्च विशुध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः।"—विष्णुसंहिता, अध्याय २३, पंक्ति ४०। दत्त बि० बि०, टा० प्लै० ऐं० इं०, पृष्ठ १११।

२. "चतुर्दण्डान्तरा रथ्या।" अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५४ (शास्त्री)।

३. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ५२०।

४. "धनूंषि दशविस्तीर्णः श्रीमान् राजपथः कृतः।"
ब्रह्माण्ड पुराण, (पूर्व भाग, अनुषंगपाद), अध्याय ७, पंक्ति २२५।

५. "कूर्म्मपृष्ठामार्गभूमिः।"—शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ५४१।

६. "कुर्यान्मार्गान् पार्श्वखातान्निर्गमार्थं जलस्य च।" वही, अध्याय १, पंक्ति ५३२।

७ अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेंट डकन, पृष्ठ ६१।

८. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५४ (शास्त्री)।

९. "नृवाजिरथनागानामसम्बाधस्तुसंचरः।"
ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग, अनुषंगपाद) २, अध्याय ७, पंक्ति २२६।

अलग-अलग उल्लेख हुआ है।[१] इस प्रकार की व्यवस्था का कारण मार्गों पर भीड़ का रोकना था। शुक्रनीति से विदित होता है कि प्रतिवर्ष मार्गों की मरम्मत होती थी। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि जहाँ कहीं मार्ग टूटे-फूटे हों, वहाँ पत्थरों के टुकड़ों को कूटकर अच्छी तरह भर दिया जाय।[२]

उपरथ्या तथा रथ्या—प्राचीन ग्रन्थों में **उपरथ्या** तथा **रथ्या** नामक मार्गों के भी उल्लेख मिलते हैं। ये मार्ग महारथ्या (राजमार्ग) से छोटे होते थे। समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि उपरथ्या आकार में महारथ्या का आधा होता था।[३] रथ्या नामक मार्ग उपरथ्या से भी छोटा होता था। इसकी चौड़ाई उपरथ्या की आधी होती थी।[४] बाद के ग्रन्थों में रथ्या शब्द रथमार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मयमतम्[५] तथा शिल्परत्न[६] में रथ्या शब्द का प्रयोग मिलता है। इनसे रथमार्ग का ही बोध होता है। अष्टाध्यायी में विभिन्न प्रकार के मार्गों के नामकरण के विषय में एक बहुत ही विशिष्ट सूचना मिलती है। इसमें **"तद् गच्छति पथिदूतयोः"**[७] नामक एक सूत्र मिलता है। इसका भाव यह है कि मार्ग का नाम उस नगर का रखा जाय, जिस ओर यह जाता हो; उदाहरणार्थः—मथुरा की ओर जाने वाले पथ को **माथुरपथ** कहा जाता था।[८]

चत्वर—राजमार्ग एक दूसरे को समकोण पर काटते थे। इनकी कटान से चौराहे बनते थे। प्राचीन ग्रन्थों में चौराहों के लिये **चत्वर**,[९] **चतुष्पथ**[१०] तथा **शृङ्गाटक**[११] शब्द आते हैं। हरिवंश में कहा गया है कि द्वारका में सुन्दर चौराहे बने हुए थे

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ३८, पंक्ति ३८।
२. "मार्गान् सुधाशर्करैर्वा घटितान् प्रतिवत्सरम्।" शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ५८६। दत्त बि० बि०, टा० प्लै० एं० इं०, पृष्ठ १३८।
३. "उपरथ्या महामार्गस्यार्धम्।"—समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ३९।
४. "रथ्यास्तदर्धेन विधातव्याः।"
—वही, पृष्ठ ३९।
५. मयमतम्, अध्याय ९, पंक्ति ७९।
६. शिल्परत्न, अध्याय ५, पंक्ति १३७।
७. अष्टाध्यायी, ४, ३, ८५।
८. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५।
९. मृच्छकटिक, अङ्क १।
१०. अर्थशास्त्र, पृष्ठ १४५ (शास्त्री)।
११. "शृङ्गाटकचतुष्पथे"—अमरकोष, द्वितीय काण्ड।

(समृद्धचत्वरवती)।[१] इस ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि द्वारका में १६ चौराहे बने हुए थे (महाषोडशचत्वराम्)।[२] मृच्छकटिक में नगर के चौराहों को **'नगरचत्वर'** कहा गया है।[३] इस ग्रन्थ से विदित होता है कि नगर के चौराहे के पास बड़े-बड़े सेठ रहते थे। वहाँ उनकी दूकानें होती थीं। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में नगरचत्वर को **'श्रेष्ठिचत्वर'** कहा गया है। चारुदत्त श्रेष्ठिचत्वर पर रहता था।[४] मृच्छकटिक से विदित होता है कि नगर के चौराहों पर देवी-देवताओं को पूजा चढ़ायी जाती थी।[५] यहाँ पर लोगों के द्वारा उपहार की सामग्रियाँ लायी जाती थीं।[६] कभी-कभी इन चत्वरों पर सभागृह बना रहता था, जहाँ नागरिक मनोविनोद के लिये एकत्र होते थे।[७] आज ही के समान प्राचीनकाल में भी चौराहे के दाहिने किनारे से होकर चलना वर्जित समझा जाता था, क्योंकि सवारियों से कुचल जाने का भय बना रहता था। दूसरी बात यह थी कि प्राचीन काल में चत्वर पूज्य समझा जाता था। शास्त्रों में पूज्य को बाईं ओर रखकर (अर्थात् उनके दायें से जाना) वर्जित माना गया है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार देवालय, माङ्गलिक द्रव्य तथा पूज्य व्यक्तियों को बाईं ओर रखकर न निकले, उसी प्रकार चौराहे को भी बाईं ओर रखकर न निकले (अर्थात् चौराहे के दाहिने किनारे से न चले)।[८]

हट्ट—नगर के प्रसिद्ध राजमार्गों तथा चत्वरों के किनारे-किनारे बाज़ारें होती थीं, जिन्हें हट्ट कहा जाता था। बड़े नगरों में बाज़ारों की संख्या बहुत अधिक हुआ करती थी। जिनमण्डव (जिनका समय १४३६ ई० है) के कुमारपालचरित के अनुसार अणहिलपट्टण नामक नगर में बाज़ारों की संख्या ८४ थी।[९] पृथ्वीचन्द्रचरित

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८।

२. वही, अध्याय ९८।

३. मृच्छकटिक, अङ्क १।

४. "स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति।"—मृच्छकटिक, अङ्क २।

५. "गच्छ, त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।"—मृच्छकटिक, अङ्क १।

६. "जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः।" वही, अङ्क १, अध्याय ६५, पंक्ति ४।

७. "चतुष्पथे...कारयेत्सभाम्।" अग्निपुराण, अध्याय ६५, पंक्ति ४।

८. "अपसव्यं न गच्छेच्च देवागारचतुष्पथान्।
माङ्गल्यपूज्यांश्च तथा विपरीतान्न दक्षिणम्॥"
—विष्णु पुराण, अंश ३, अध्याय १२, श्लोक २६।

९. आर्क्यालॉजिकल सर्वे...नारदर्न गुजरात, (बर्गेस कजेंस), १९०३, लन्दन, पृष्ठ ३४।

में भी (जिसकी रचना १४२१ ई० में हुई थी) चौरासी (चउरासी) हट्ट के उल्लेख मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं:—(१) नाणावटहटी, (२) जवहरीहटी, (३), सौगन्धीयाहटी, (४) फोफलिया, (५) सूत्रिया, (६) षडसूत्रिया, (७) घीया, (८) तेलहरा, (९) दन्तारा, (१०) वलीयार, (११) मणीयारहटी, (१२) दोसी, (१३) नेस्ती, (१४) गान्धी, (१५) कपासी, (१६) फडीया, (१७) फडीहटी, (१८) एरण्डिया, (१९) रसणीया, (२०) प्रवालीया, (२१) त्राम्ब-हटा, (२२) सोषहडा, (२३) पीतलगरा, (२४) सोनार, (२५) सीसाहडा, (२६) मोतीप्रोयाँ, (२७) सालवी, (२८) मीणारा, (२९) कुंआरा, (३०) चूनारा, (३१) तूनारा, (३२) कूटारा, (३३) गुलीयारा, (३४) परीयटा, (३५) घाञ्ची, (३६) मोची, (३७) सुई, (३८) लोहटिया, (३९) लोटारा, (४०) चीत्राहरा, (४१) सतूआरा, (४२) कागलीया, (४३) मद्यपहटी, (४४) वेश्या, (४५) पणगोला, (४६) गाञ्छा, (४७) भाडभुञ्जा, (४८) बीबाहडा, (४९) त्राम्बडीया, (५०) भइंसायत, (५१) मलिन नापित, (५२) चोषा-नापित, (५३) पाटीवणा, (५४) त्राङ्गडीया, (५५) वाहीत्रा, (५६) काठवी-ठीया, (५७) चोषावीठीया, (५८) सूषडीया, (५९) साथरीया, (६०) तेरमा, (६१) वेगडीया, (६२) वसाह, (६३) सान्थूआ, (६४) पेरूआ, (६५) आटीआ, (६६) दालीआ, (६७) दउढीआ, (६८) मुञ्जकूटा, (६९) सरगरा, (७०) भरथारा, (७१) पीतलहडा, (७२) कंसारा, (७३) पत्रसागीआ, (७४) षासरीआ, (७५) मञ्जीठीया, (७६) साकरीया, (७७) साबूगर, (७८) लोहार, (७९) सूत्रहार, (८०) वणकर, (८१) तम्बोली, (८२) कन्दोई, (८३) बुद्धिहटी तथा (८४) कुत्रिकापणहटी।[१] इन नामों से स्पष्ट है कि पृथक् वस्तुएँ पृथक् बाज़ारों में बेची जाती थीं।

वास्तुविभाग (पुरभूमि का वितरण)—राजमार्गों के निर्माण के उपरान्त नगर की भूमि विभिन्न भागों में इस दृष्टिकोण से विभाजित की जाती थी कि किस भाग में राजप्रासाद का निर्माण किया जाय, किस भाग में मन्त्रियों एवं पदाधिकारियों के गृहों का सन्निवेश हो, कौन सा भाग ब्राह्मणों के निवास के लिये छोड़ा जाय, किस भाग में क्षत्रिय बसाये जायँ तथा किस भाग में वैश्यों, शूद्रों एवं चण्डालों के घर वर्तमान हों। इस विषय को अर्थशास्त्र में **'वास्तुविभाग'** कहा गया है।[२] इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, अग्निपुराण, युक्तिकल्पतरु,

---

१. प्राचीनगुर्जरकाव्यसंग्रह, (पृथ्वीचन्द्रचरित), पृष्ठ ९५।

२. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५५ (शास्त्री)।

समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा तथा मयमत में अलग-अलग युक्तियाँ मिलती है।

अर्थशास्त्र की युक्ति—नगर-सन्निवेश में राजप्रासाद की स्थिति पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। पुर के जिस भाग में राजप्रासाद का निर्माण किया जाता था, उसे पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "**प्रासादीया भूमि**" कहा है (अर्थात् वह भूमि जहाँ राजमहल का निर्माण होगा "प्रासादोऽस्यां भूमौ स्यादिति)"।[१] अर्थ-शास्त्र में नगर के केन्द्रीय भाग को प्रासाद के निर्माण के लिये सबसे उपयुक्त स्थान माना गया है। इसमें कहा गया है कि यह भाग पूरी भूमि का नवांश हो।[२] यह निर्देश ठीक ही मालूम होता है, क्योंकि राजप्रासाद का प्राङ्गण बहुत अधिक भूमि घेरता था। कौटिल्य का कहना है कि राजप्रासाद की भूमि में ही **अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण तथा आश्विन** आदि विभिन्न देवताओं के मन्दिर भी बनाये जायँ।[३] सम्भवत: राजा के मङ्गल को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार का निर्देश किया गया है।

अन्य भागों के विषय में कौटिल्य का मत इस प्रकार है:—(१) केन्द्रीय भाग के ठीक उत्तर वाले पुर-भाग में राजदेवता एवं नगरदेवता के मन्दिर तथा ब्राह्मणों, मणिकारों एवं लोहारों के घर बने हों, (२) उसके उत्तर वाले भाग में श्मशान-भूमि बनाई जाय,[४] (३) केन्द्रीय भाग के दक्षिण वाले भाग में नगर के विशिष्ट पदाधिकारियों एवं सैनिक कर्मचारियों के घर, मदिरा तथा मांस की दूकाने, वेश्याओं, गायकों तथा वैश्यों के गृह विद्यमान हों,[५] (४) केन्द्रीय भाग के पूर्व के भाग में गन्ध, फूलों की माला, विभिन्न प्रकार के धान्य तथा रस आदि के बेचने वाले व्यापारियों, प्रधान कारीगरों एवं क्षत्रियों के घर बने हों,[६] (५) उसके और पूर्व वाले भाग में श्मशान का निर्माण किया जाय, (६) राजप्रासाद के पश्चिम वाले भाग में जुलाहे, वंशकार एवं शस्त्र बनाने वाले कारीगरों एवं शूद्रों के घर बने हों,[७] (७) केन्द्रीय भाग के उत्तरपूर्व वाले भाग में आचार्यों, पुरोहितों एवं मन्त्रियों

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४३।

२. "नवभागे. . .वा कारयेत्।" अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५५ (शास्त्री)।

३. वही, पृष्ठ ५५।

४. वही, पृष्ठ ५५।

५. वही, पृष्ठ ५५।

६. वही, पृष्ठ ५५।

७. वही, पृष्ठ ५५।

के घर बनाये जायँ,[१] (८) उसके और उत्तरपूर्व वाले भाग में कोश, अश्वशाला तथा गोशाला बनी हो, (९) केन्द्रीय भाग के दक्षिणपूर्व वाले भाग में महानस (भोजन-गृह), हस्तिशाला तथा कोष्ठागार आदि वर्तमान हों, (१०) उसके और दक्षिण-पूर्व वाले भाग में कुप्यगृह (जङ्गली वस्तुओं के सञ्चय के लिये बनाया हुआ घर) तथा आयुधागार वर्तमान हों, (११) केन्द्रीय भाग के दक्षिण-पश्चिम वाले भाग में खर (गधे) एवं उष्ट्र (ऊँट) के रहने के लिये घर तथा प्रयोगशालाएँ (कर्मगृह) विद्यमान हों, (१२) केन्द्रीय भाग के उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित भाग में यान-शाला तथा रथशाला बनाई जाय[२], (१३) उसके और उत्तर-पश्चिम वाले भाग में दूकानें (पण्यगृह) एवं औषधालय (भैषज्यगृह) बने हों,[३] (१४) पाषण्डियों तथा चण्डालों के घर श्मशान के बाहर बनाये जायँ।[४]

शुक्रनीति की युक्ति—इस सम्बन्ध में शुक्रनीति में जो युक्ति मिलती है, वह कौटिल्य की युक्ति से कुछ अंशों में समान तथा कुछ अंशों में विभिन्न है। इन दोनों युक्तियों में समानताएँ इस प्रकार हैं:—(१) जिस प्रकार कौटिल्य ने पुर के मध्य भाग में राजगृह का निर्माण उपयुक्त माना है, उसी प्रकार शुक्रनीति के रचयिता ने भी राजभवन का निर्माण नगर के बीच वाले भाग में श्रेष्ठ माना है।[५] (२) कौटिल्य के समान ही शुक्रनीति के लेखक ने भी एक जाति के लोगों को पुर के एक ही भाग में रखा है।[६] दोनों युक्तियों में विभिन्नताएँ इस प्रकार हैं:—(१) अर्थ-शास्त्र में कई प्रकार के व्यावसायिकों को नगर के एक ही भाग में रखा गया है पर शुक्रनीति में कहा गया है कि यथाशक्ति एक प्रकार के ही व्यावसायिक नगर के एक भाग में अपने घर बनायँ।[७] (२) शुक्रनीति में गोशाला, अश्वशाला, गजशाला तथा सभागृह को पुर के मध्यभाग में रखा गया है[८] पर अर्थशास्त्र में पुर के दूसरे भागों में इनका निर्माण वांछनीय माना गया है। (३) अर्थशास्त्र की युक्ति

---

१. "तस्य पूर्वोत्तरं भागमाचार्यपुरोहितेज्यातोयस्थानं मन्त्रिणश्चावसेयुः।"
—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५५।

२. "पश्चिमोत्तरं भागं यानरथशालाः।"—वही, पृष्ठ ५५।

३. "उत्तरपश्चिमं भागं पण्यभैषज्यगृहम्।"—वही, पृष्ठ ५५।

४. "पाषण्डचण्डालानां श्मशानान्ते वासः।"—वही, पृष्ठ ५६।

५. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ४३४।

६. "सजातीयगृहाणां हि समुदायेनपंक्तितः।"—वही, अध्याय १, पंक्ति ५१४।

७. वही, अध्याय १, पंक्ति ५१५।

८. वही, अध्याय १, श्लोक २१८।

बड़ी है। उसके द्वारा एक समग्र चित्र खिच उठता है। पर शुक्रनीति की युक्ति अपेक्षाकृत छोटी है। (४) शुक्रनीति में विशिष्ट लोगों (प्रकृतयः), अधिकारियों (अधिकारिगणः), सेनापतियों (सेनाधिपाः), राजपुरुषों (गौल्मिकगणो) एवं जङ्गलों के अधिकारियों (आरण्यगणः) के घरों तथा पैदल सैनिकों (पदातीनाम्), अश्वारोहिणी सेना (साश्वः) तथा गजारोहिणी सेना (सगजः) के शिविरों को जहाँ राजमहल के पास क्रमानुसार स्थित माना गया है,[१] वहाँ अर्थशास्त्र में वे सभी राजगृह के पास नहीं रखे गये हैं।

अग्निपुराण की युक्ति—अग्निपुराण में कहा गया है कि पहले विष्णु तथा शिव आदि देवताओं को भली-भाँति पूजा चढ़ायी जाय[२] तथा उसके उपरान्त विभिन्न वर्गों एवं वर्णों के निवासियों के रहने के लिये युक्ति बनाई जाय। अग्निपुराण की युक्ति इस प्रकार है:—(१) पुर के उत्तर में ब्राह्मण, संन्यासी, सिद्ध तथा महात्माओं के घर बनाये जायँ।[३] (२) नगर के पूर्व में क्षत्रिय (पूर्वतः क्षत्रियान्), दक्षिण में वैश्य (दक्षिणे वैश्यान्) तथा पश्चिम में शूद्र (शूद्रांश्च पश्चिमे) बसाये जायँ। (३) नैर्ऋत (दक्षिण-पश्चिम) में नट, जुलाहे तथा कला आदि की शिक्षा देने वाले अपने निवासस्थान बनायँ। (४) वारुण (पश्चिम) दिशा में रथशाला तथा आयुधागार का निर्माण किया जाय।[४] (५) ईशान (उत्तर-पूर्व) में फल आदि के बेचने वाले वणिक अपने निवासस्थान बनायँ।[५] (६) पुर की आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) दिशा में स्वर्णकारों एवं कर्मकारों के घर तथा सैनिक शिविर बनाये जायँ।[६] (७) पश्चिम दिशा में महामात्य, कोषपाल तथा शिल्पियों के घरों का भी निर्माण किया जाय।[७] (८) वैद्यों के घर नगर के प्रत्येक भाग में बने हों।[८]

---

१. शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक २५४-५६। दत्त, टा. प्लै., १५२।

२. "प्राच्य विष्णुहरार्कादीन्नत्वा दद्याद् बलिं बली।"
—अग्निपुराण, अध्याय १०६, पंक्ति ११।

३. "ब्राह्मणाः यतयः सिद्धा पुण्यवन्तश्च चोत्तरे।"
—अग्निपुराण, अध्याय १०६, पंक्ति १६।

४. अग्निपुराण, अध्याय १०६।

५. "फलाद्यादिविक्रयिणः ईशाने च वणिग्जनाः।"
—वही, अध्याय १०६, पंक्ति १७।

६. "पश्चिमे च महामात्यान्कोषपालांश्च कारुकान्।"
—वही, अध्याय १०६, पंक्ति २०।

७. वही, अध्याय १०६।

८. "दिक्षुवैद्यान्...चतुर्दिशम्।"—वही, अध्याय १०६।

युक्तिकल्पतरु की युक्ति—भोज की युक्ति (जो उनके युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में मिलती है) भी अन्य युक्तियों से किञ्चित् विभिन्न है। कुछ प्रमुख विभिन्नताएँ इस प्रकार हैं:—(१) पहले दी गयी हुई युक्तियों में जहाँ मन्त्रियों के घरों को राजभवन के पास रखा गया है, वहाँ भोज के ग्रन्थ (युक्तिकल्पतरु) में मन्त्रियों के घरों का निर्माण राजप्रासाद से बहुत दूर श्रेयस्कर माना गया है। उनका कहना है कि राजमहल के समीप रहने पर मन्त्री राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र रच सकते हैं।[1] (२) जहाँ पूर्वकथित युक्तियों में विशिष्ट पदाधिकारियों के भवनों को नगर के प्रायः एक ही भाग में रखा गया है, वहाँ युक्तिकल्पतरु में उन्हें पृथक् पुरभागों में रखा गया है। भोज का कहना है कि एक ही भाग में स्थित होने पर वे राजा के विरुद्ध सङ्गठन बना सकते हैं।[2] (३) भोज के अनुसार नगर के भीतर नृत्यशालाएँ तथा अध्ययनशालाएँ न बनायी जायँ, क्योंकि ऐसी दशा में शत्रु के दूत नगर के भीतर गुप्त (विद्यार्थी तथा कलाकार के) रूप में प्रवेश पा जाते हैं और इस प्रकार उन्हें राजा की शक्ति तथा दुर्बलताओं का अनुमान लगाने के लिये अवसर मिल जाता है,[3] पर कौटिल्य आदि ने राजधानी के भीतर नृत्यशाला अथवा अध्ययनशाला के निर्माण का विरोध नहीं किया है।

इस युक्ति में अन्य युक्तियों से जो समानताएँ मिलती हैं, वे इस प्रकार हैं:-(१) म्लेच्छों एवं अन्त्यजों (निम्न वृत्ति वालों) को नगर के भीतर न बसाया जाय। उन्हें पुर के सीमाप्रान्त पर घर बनाने की आज्ञा दी जाय।[4] (२) नगर के मध्यभाग में (जहाँ कि राजप्रासाद स्थित होता है) बहुधा उन्हीं लोगों को रखा जाय, जिनके राजा के प्रतिकूल नहीं जाने की आशा रहती है; उदाहरणार्थ:——सज्जन, मृदुभाषी तथा ज्योतिषी।[5] (३) पुर के मध्य भाग में हस्तिशाला का निर्माण न किया जाय।

---

१. "मन्त्रिणः प्रतिवेशत्वं कदाचिदपि नाचरेत्।
तयोर्हि प्रतिवेशत्वे दुर्मन्त्रोऽपि जायते।।"

——युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २४, ६१।

२. वही, पृष्ठ २४।

३. "न नृत्यशालास्तु पुरे न वाध्ययनशालिका।
तत्र शत्रुचरः स्थित्वा सर्व्वं वेत्ति वलावलम्।।"

——वही, पृष्ठ २४, श्लोक १६७।

४. "प्रान्तेम्लेच्छान्त्यज"—वही, पृष्ठ २४।

५. "मध्ये साधुमृदुभिषक् दैवज्ञान् वासयेदथ।"

——वही, पृष्ठ २४।

(४) पुर के सीमाप्रान्तों पर तुरङ्गशालाएँ न बनाई जायँ।[१] (५) सम्राट् को विदेशियों (देशान्तरगतान्) से सर्वदा सतर्क रहना चाहिये। उसे अपने हित की रक्षा के लिये अपनी राजधानी में उन्हें न रहने देना चाहिये (स्वपुरं रक्षयेद्राजा यदीच्छेदात्मनः श्रियम्)।[२] इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने भी विदेशियों (बाहरीकान्) को नगर के बाहर बसाने के लिये निर्देश किया है। उनके अनुसार ये पुर तथा राष्ट्र के लिये घातक सिद्ध होते हैं।[३] (६) युक्तिकल्पतरु के अनुसार संक्रामक तथा कठिन रोग से पीड़ित व्यक्तियों (महाव्याधिपीड़ितान्) को नगर के भीतर नहीं रहने देना चाहिये।[४] (७) नगर के दरवाज़ों के पास पुर-रक्षा के निमित्त सैनिकों को नियुक्त करना चाहिये (गोपुरे सैनिकान् वीरान्)।[५] (८) सम्राट् को अपनी राजधानी की शोभा सभा-गृह (मण्डप), तालाब (कासार) तथा उद्यान (कानन) आदि के निर्माण के द्वारा बढ़ानी चाहिये।[६]

समराङ्गणसूत्रधार की युक्ति—इस युक्ति में नव दिशाओं का नाम लिया गया है:—(१) आग्नेय (दक्षिण-पूर्व), (२) दक्षिण, (३) ईशान (उत्तर-पूर्व), (४) पूर्व, (५) नैर्ऋत (दक्षिण-पूर्व), (६) वारुणी (पश्चिम), (७) वायु (उत्तर-पश्चिम), (८) कुबेर तथा (९) सौम्य। इनमें से प्रथम चार दिशाओं के सम्बन्ध में जो निर्देश अग्निपुराण में मिलता है, ठीक वही समराङ्गणसूत्रधार में भी प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से दोनों ग्रन्थों की युक्तियों में बहुत बड़ी समानता मिलती है। अग्निपुराण के समान ही इस ग्रन्थ में भी कहा गया है कि (१) आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) में प्रधानतः सुवर्णकारों एवं कर्मकारों के भवनों का विन्यास किया जाय।[७]

---

१. "न मध्ये हस्तिनां वासो न प्रान्ते वाजिनस्तथा।"
—युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २४, पंक्ति ३२८।

२. वही, पृष्ठ २५, पंक्ति ३३२।

३. "न च बाहरीकान्कुर्यात्पुरराष्ट्रोपघातकान्।
क्षिपेज्जनपदे चैतान्सर्वान्वा दापयेत्करान्॥"
—अर्थशास्त्र, प्रकरण २२, पृष्ठ ३४ (यौली)।

४. युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २५।

५. वही, पृष्ठ २४, पंक्ति ३२०।

६. "प्रपामण्डपकासार-काननाद्युपशोभितः।" वही, पंक्ति २३।

७. "सुवर्णकारानाग्नेय्यां तथा बहून्युपजीविनः।
निवेशयेत् कर्मकारानन्यापि विधानवित्॥"
—समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४६।

(२) दक्षिण में वैश्यों के घर बनाये जायँ (वैश्यानां च दक्षिणे)[१]। (३) ईशान (उत्तर-पूर्व) में घी तथा फलादि के विक्रेताओं के घर बनाये जायँ[२] तथा (४) पूर्व में क्षत्रियों के घर वर्तमान हों।[३] अग्निपुराण के समान समराङ्गणसूत्रधार में भी कहा गया है कि वैद्यों के घर नगर की चारो दिशाओं में बनाये जायँ।[४] अन्तिम पाँच दिशाओं (नैर्ऋत, वारुणी, वायु, कुबेर तथा सौम्य) के सम्बन्ध में समराङ्गण-सूत्रधार के जो निर्देश हैं, वे अग्निपुराण के निर्देश से पृथक् हैं। (१) नैर्ऋत (दक्षिण-पश्चिम) के सम्बन्ध में समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि इसमें प्रधानतः मछुए बसाये जायँ,[५] (२) वारुणी (पश्चिम) में सैनिकों के गृह बने हों, (३) वायु (उत्तर-पश्चिम) में यतियों के गृह बनाये जायँ, (४) कुबेर में सभागृह तथा पुण्यशालाएँ बनी हों[६] तथा (५) सौम्य में विप्रों के घर वर्तमान हों।[७]

अपराजितपृच्छा की युक्ति—यह युक्ति अन्य युक्तियों की समता में छोटी है। इसके अनुसार ब्राह्मण अपने घरों को पूर्व की दिशा में बनायँ (ब्राह्मणाः पूर्व-वास्तव्याः)। इसी प्रकार क्षत्रिय लोग दक्षिण में (क्षत्रियाश्चैव दक्षिणे), शूद्र उत्तर में (प्रशस्ताश्चोत्तरे शूद्राः) तथा वैश्य लोग पुर-मध्य में (वैश्या मध्ये च संकुलाः) अपने घर बनायँ।[८] सुवर्णकार, गन्धकार तथा दन्तकार एवं अन्य व्यावसायिक पृथक् पुर-भागों में बसाये जायँ।[९] इसका सम्बन्ध व्यवसाय के केन्द्रीकरण के साथ है। इस ग्रन्थ के अनुसार भरसक चारो ही वर्णों के लोग नगर के भीतर बसाये जायँ, क्योंकि इससे पुर के भीतर सुख का वातावरण विद्यमान रहता है।[१०] अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की भाँति अपराजितपृच्छा का भी कथन है कि राजप्रासाद

---

१. समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४६।
२. "घृतविक्रयिणो ये च फलविक्रयिणश्च ये।
निवेशिता प्रशस्यन्ते पुरस्येशानदिग्गताः॥"—वही, भाग १, पृष्ठ ४६।
३. वही, भाग १, पृष्ठ ४६।
४. "निधेया...वैद्या मख्याश्चापि चतुर्दिशम्।"—वही, भाग १, पृष्ठ ४६।
५. "कैवर्तान् नैर्ऋताशायाम्।"—समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४६।
६. वही, भाग १, पृष्ठ ४६।
७. वही, भाग १, पृष्ठ ४६।
८. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ १७९।
९. वही, पृष्ठ १७९।
१०. "चतुर्वर्णाश्च प्रकृतीरेकैकेषु पुरेषु च।
सर्वत्र वासयेच्च नागरांश्च सुखावहान्॥"—वही, पृष्ठ १७९।

नगर के केन्द्रीय भाग में स्थित हो। इसके लेखक के अनुसार ताम्बूल, फल, पुष्प तथा माला आदि के विक्रेता विक्रय की सुविधा के हेतु या तो राजप्रासाद के प्राङ्गण के समीप अपनी दूकानें रखें अथवा जनाकीर्ण भागों में।[१] देवालयों का निर्माण चौराहों के पास (**देवस्थानानि चत्वरे**) किया जाय।[२]

मयमत की युक्ति—मयमत की युक्ति के कुछ निर्देश कौटिल्य की युक्ति के निर्देशों से मिलते जुलते हैं। वे इस प्रकार हैं:—(१) राजप्रासाद का निर्माण पुर के मध्य भाग में किया जाय। जितनी भूमि में राजप्रासाद का निर्माण किया जाय, वह विस्तार में समस्त भूमि का सप्तांश हो।[३] (२) चण्डालों के घर नगर से दूर बनाये जायँ। वे लोग पुर की पूर्वी दिशा में एक कोस की दूरी पर अपने कुटीरों का निर्माण करें।[४] इस युक्ति के अन्य निर्देश इस प्रकार हैं:—(अ) राजप्रासाद के पास ही आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) में अथवा ईशान (उत्तर-पूर्व) में सभागृह का निर्माण किया जाय। राजप्रासाद के उत्तर-पश्चिम अथवा दक्षिण में विष्णुमन्दिर का निर्माण किया जाय। सभागृह, राजप्रासाद तथा विष्णुमन्दिर के चारो ओर एक घेरा बनाया जाय, जिसे ब्राह्ममण्डल की संज्ञा दी जाय।[५] (ब) ब्राह्ममण्डल के बाहर चारो ओर की पुरभूमि को क्रमशः तीन और मण्डलों में बाँट दिया जाय (१) दैव (२) मानुष तथा (३) पैशाच। दैव एवं मानुष-मण्डलों में प्रधानतः विप्रों के घर बनाये जायँ।[६] (स) पुर के अधिकांश भवन पैशाच-मण्डल में ही बनाये जायँ। इसमें सबसे पहले क्षत्रियों तथा वैश्यों के घरों का निर्माण चारो ओर किया जाय। उसके उपरान्त इस मण्डल की दक्षिण दिशा में गोशाला का निर्माण किया जाय तथा शूद्रों को बसाया जाय।[७] उत्तर की दिशा में बाटिका बनाई जाय तथा तेल बेंचने वालों के घरों का निर्माण किया जाय।[८] पूर्व में कुम्भकारों एवं नापितों के

---

१. **"ताम्बूलफलसङ्कीर्णं पुष्पमालादिसंकुलम्।**
राजद्वाराग्रतश्चैव यतः स्याच्च जनाकुलम्॥"—अपराजितपृच्छा पृष्ठ १७९।

२. **वही, पृष्ठ १७८।**

३. **"त्रिचतुर्भागे नगरे।"—मयमतम्, अध्याय ९।**

४. **"चण्डालकुटीराणि पूर्वायां क्रोशमात्रे तु।"—वही, अध्याय ९।**

५. **वही, अध्याय ९।**

६. **"दैविकमानुषभागे विप्राणां स्याद् गृहश्रेणी।"—वही, अध्याय ९।**

७. **मयमतम्, अध्याय ९।**

८. **"तैलोपजीविनां चैवोत्तरदेशे गृहश्रेणिः तु।"**
—वही, अध्याय ९, पंक्ति १८१।

घर बनाये जायँ। वायव्य (उत्तर-पश्चिम) में मछली मारने वाले अपने घर बनायँ।[१] मयमत में पैशाच, दैव तथा मानुष-मण्डलों के विस्तार का कोई पारस्परिक अनुपात नहीं दिया गया है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि पैशाच मण्डल अन्य दो मण्डलों (दैव एवं मानुष) से बड़ा था; यही कारण है कि इस ग्रन्थ की योजना में पैशाच मण्डलों में अन्य मण्डलों की अपेक्षा अधिक लोगों को रखा गया है।

शिल्परत्न की युक्ति—अपराजितपृच्छा की युक्ति की भाँति यह युक्ति भी अन्य ग्रन्थों की योजनाओं की समता में छोटी है। इसके अनुसार नगर के प्रत्येक भाग में तालाब का निर्माण किया जाय (शस्तं सर्वत्र वाप्यादि)। उत्तर में पुष्प-वाटिका (उत्तरे पुष्पवाटिका), दक्षिण में गणिकाओं के घर (दक्षिणे गणिकावाटं) तथा पूर्व में वणिकों के गृह वर्तमान हों (वैश्यानां वणिजां प्राच्यां)। पुर के बीचो-बीच राजमहल का निर्माण करना चाहिये।[२] कुलालों का घर उत्तर-पूर्व[३] तथा मछुओं का घर वायव्य (उत्तर-पश्चिम)[४] में होना श्रेयस्कर है। तेल बेचने वालों का घर सौम्य में (तैलविक्रयिणां सौम्ये), धोबियों का घर पश्चिम में (रजकानां तु पश्चिमे) तथा कारीगरों का घर वायव्य में (वायव्ये कारुकादीनां) वर्तमान होना चाहिये।[५] चण्डाल नगर के बाहर कोस अथवा दो कोस की दूरी पर बसाये जायँ।[६]

पुरवर्धन—कभी-कभी नगरों का आकारवर्धन भी किया जाता था। इसकी आवश्यकता उस समय पड़ती थी, जब जनसंख्या की विशालता के कारण नगर छोटा पड़ने लगता था। हरिवंश से विदित होता है कि द्वारका का आकारवर्धन इन्हीं परिस्थितियों में किया गया था।[७] तामिल ग्रन्थों के द्वारा सूचना मिलती है कि मदुरा का विस्तार जनसंख्या की अधिकता के कारण किया गया था।[८] नगर का विस्तार तीन प्रकार से किया जाता था:—(१) छोटा पड़ने वाले नगर को तोड़कर उसके स्थान पर एक बड़ा नगर बड़ी योजना के अनुसार बसाया जाता

---

१. "मत्स्योपजीविनां वा स्याद् वासं वायव्यदेशे तु।"
मयमतम्—अध्याय ८, पंक्ति १७९।

२. शिल्परत्न, अध्याय ५।

३. "प्रागुदीच्यां कुलालानां।"—वही, अध्याय ५।

४. "जालिकानां तु वायव्ये।"—वही, अध्याय ५।

५. वही, अध्याय ५।

६. "क्रोशद्वये वा तस्यार्द्धे बहिश्चण्डालपक्कणम्।"—वही, अध्याय ५।

७. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८।

८. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३४।

था, (२) पुराने नगर को ही चारो दिशाओं में बढ़ा दिया जाता था तथा (३) छोटा पड़ने वाले नगर की किसी सीमा पर एक उपनगर बसा दिया जाता था। इसमें उन लोगों को स्थान दिया जाता था, जो कि नगर में अधिक पड़ते थे। इस प्रकार के उपनगर को **'प्रत्यन्त नगर'** अथवा **'शाखानगर'** कहते थे। धम्मपद में इसका उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार सीमान्तपुर (प्रत्यन्त नगर) भीतर तथा बाहर से खूब सुरक्षित हुआ करता है (नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरम्)।[१] कादम्बरी में शाखानगर का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार उज्जयिनी का नगर शाखानगर से युक्त था (**सशाखानगरेव**)।[२] क्षीरस्वामी की अमरकोष-टीका में कहा गया है कि मूल नगर के उपकण्ठ पर स्थित नगर शाखानगर कहलाता है।[३] शिल्परत्न के अनुसार शाखानगर उस सन्निवेश को कहते हैं जो नगर की सीमा (**नगरोपान्ते**) पर स्थित हो।[४] शब्दकल्पद्रुम में कहा गया है कि बढ़ी हुई जनसंख्या को स्थान देने के लिये मूलनगर के उपकण्ठ पर जो उपनगर (मूलनगरादन्यत् पुरम्) बसाया जाता है, वही शाखानगर है।[५] तरु की शाखा की भाँति शाखानगर भी मूल नगर की एक शाखा था (**मूलनगरस्य तरुस्थानीयस्य शाखेव**)।[६] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि शाखानगर की भाँति ग्रामों की सीमा के पास भी छोटे-छोटे पुरवे हुआ करते थे। राजपूतों के लेखों में **"ग्रामैकदेश"** का उल्लेख मिलता है। इससे तात्पर्य उस छोटी बस्ती से है, जो ग्राम के उपकण्ठ पर स्थित हुआ करती थी।[७]

---

१. धम्मपद, २२, १०, पृष्ठ १३९ (राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित)।

२. कादम्बरी, पृष्ठ १०२।

३. अमरकोष (हरदत्त शर्मा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७४।

४. शिल्परत्न, अध्याय ५।

५. "मूलनगरेऽसम्मितस्य जनौघस्य मूलनगरस्य समीपेऽङ्के वा यदन्यत् पुरं क्रियते तत् शाखानगरम्।"—शब्दकल्पद्रुम (देवनागरी-प्रकाशन), भाग ५, पृष्ठ ४४।

तुलनार्ह :—

"आरभ्य मूलनगरादपरं नगरं हि यत्।
तदभिष्यन्दि रमणं शाखानगरमित्यपि॥"—वही, भाग ५, पृष्ठ ४४।

६. वही, भाग ५, पृष्ठ ४४।

७. इण्डियन ऐण्टीक्वैरी, १८, पृष्ठ १३५। द्रष्टव्य—त्रिपाठी रमाशङ्कर, हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, पृष्ठ ३४५।

पहले प्रकार के आकारवर्धन का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हरिवंश में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार द्वारकापुरी की योजना इस नगर के संस्थापक श्रीकृष्ण ने स्वयं बनाई थी। विश्वकर्मा को यह योजना छोटी दीख पड़ी। उसने श्रीकृष्ण से पहले ही कहा था कि एक बड़ी योजना के अनुसार नगर का निर्माण किया जाय, नहीं तो कालान्तर में पुरवासियों की संख्या के बढ़ जाने पर उसके छोटी पड़ जाने का भय है।[1] पर श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा की बात न मानी। कुछ काल के उपरान्त विश्वकर्मा की बात सही निकली। जनसंख्या के अधिक हो जाने पर सभी लोगों का उसमें अटना दुष्कर हो गया। फलतः द्वारका का विस्तार आवश्यक हो गया। इसके लिये नगर को गिराकर भूमि को समतल कर दिया गया तथा एक बड़ी योजना के अनुसार नवीन नगर का निर्माण प्रारम्भ किया गया। इस बार नगर की लम्बाई तथा चौड़ाई द्विगुण कर दी गयी।[2] जहाँ पहली योजना में केवल चार राजमार्ग रखे गये थे, वहाँ नई योजना में आठ राजमार्ग रखे गये। जहाँ पूर्वनिर्मित पुरी में चत्वरों की संख्या ८ थी, वहाँ नवनिर्मित पुरी में चत्वरों की संख्या १६ थी।[3] इस प्रकार पुर के अधिक विस्तृत हो जाने पर लोग फैलकर सुखपूर्वक रहने लगे।[4]

दूसरे प्रकार के नगर-विस्तार का एक उदाहरण तामिल ग्रन्थों में मिलता है। इनके अनुसार मदुरा के मूल नगर के चतुर्दिक उन पुरवासियों के घर बनाये गये, जिनको नगर के भीतर रहने के लिये स्थान नहीं मिलता था।[5] इस प्रकार का आकारवर्धन अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योंकि यह पहले प्रकार से अधिक सरल तथा व्यावहारिक था। इसमें पुर को केवल बढ़ाने की आवश्यकता थी, न कि उसे गिराकर एक दूसरा नगर बनाने की। तीसरे प्रकार का आकारवर्धन

---

१. "सर्वमेतत् करिष्यामि यत्त्वयाभिहितं प्रभो।
पुरी त्वियं जनस्यास्य न पर्याप्ता भविष्यति॥
भविष्यति च विस्तीर्णा वृद्धिरस्यास्तु शोभना॥"
—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति ६४-६६।

२. "अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम्।
द्विगुणोपविशं च ददर्श द्वारकां पुरीम्॥"
—वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, श्लोक २७।

३. वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८।

४. वही, अध्याय ९८। दत्त बि० बि०, टा० प्लै० ऐं० इं०. पृष्ठ १७१-७२।

५. अय्यर, टाउन प्लैनिङ्ग इन ऐंशेण्ट डकन, पृष्ठ ३४।

भी अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योंकि शास्त्रों में शाखानगर का उल्लेख अधिक हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शाखानगर मूलनगर के उत्तरपूर्व की दिशा में अधिक बनाये जाते होंगे, क्योंकि शिल्पशास्त्रों में कहा गया है कि नगर का विस्तार अधिकतर उत्तरपूर्व की दिशा में किया जाय।[१]

नवीकरण---कभी-कभी उजड़े हुए नगर को नये ढङ्ग से बसाया जाता था। रघुवंश में अयोध्या के उजड़ने तथा उसके पुनः बसाने का मनोरम वर्णन उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में नगर-देवी कुश के समक्ष अवतरित हो कहती हैं:---हे राजन्! भगवान् राम के समय में मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गयी थी कि मेरे सामने कुबेर की अलकापुरी भी फीकी लगती थी। पर आजकल तुम्हारे ऐसे प्रतापी सम्राट् के वर्तमान होने पर भी मेरी दशा अत्यन्त शोचनीय लगती है। जिस प्रकार सूर्यास्तकालीन सन्ध्या के समय बादल इधर-उधर छितराये हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार कोठे-अटारियों के टूट जाने के कारण मेरी निवासभूमि अयोध्या उदास लगती है। जिन राजमार्गों पर पहले रात्रि के समय चमकते हुए सुन्दर आभूषणों से युक्त अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन्हीं पर आजकल सियारने घूमा करती हैं जिनके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकलती हैं। अड्डों के टूट जाने से यहाँ के मोर अब वृक्षों पर जाकर बैठते हैं और मृदङ्ग न बजने के कारण उन्होंने नाचना भी बन्द कर दिया है। अब वे उन जङ्गली मोरों के समान लगते हैं जिनकी पूछें बन की आग से जल गई हों।

नगर की जिन बावलियों का जल पहले जलक्रीड़ा करने वाली सुन्दरियों के हाथ के थपेड़ों से मृदङ्ग के समान गम्भीर शब्द करता था, वह आजकल जङ्गली भैंसों की सींगों की चोटों से कान फोड़े डालता है। अधिक कुछ कहते नहीं बनता। पहले जिन सीढ़ियों पर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल पैर रखती चलती थीं, उन्हीं पर मृग मारने वाले बाघ अपने रक्त से सने लाल पैर रखते चलते हैं। चित्रों की दशा और भी बुरी है। जिन चित्रकारियों में दिखाया गया था कि हाथी कमल के ताल में उतर रहे हैं और हस्तिनियाँ उन्हें सूँड़ से कमल की डण्ठल तोड़ कर दे रही हैं, उन चित्रलिखित हाथियों के मस्तकों को सिंहों ने सच्चे हाथी का मस्तक समझ कर नखों से फाड़ दिया है। जिन विविध स्तम्भों में महिलाओं की आकृतियाँ

---

१. "पौराणां यद्वस्तु वर्द्धितुमिच्छेद्वहिस्तस्मात्।
प्रागुत्तरदिशि वृद्धिः शस्ता पारतस्तु वा न्याय्या॥"
---मयमतम्, अध्याय २९, पंक्ति २२-२३।

२. रघुवंश, सर्ग १६, श्लोक १०-१४।

अङ्कित हो गई थीं, आजकल उनका रङ्ग उड़ गया है। उन खम्भों को चन्दन का वृक्ष समझ कर साँप उनसे लिपट गये हैं। उनकी केचुलें छूट कर उन मूर्तियों से सट गई हैं। उन्हें देखने से लगता है, मानों उन स्त्रियों ने स्तन ढकने के लिये कोई कपड़ा डाल लिया हो।[1]

जिन नागरिक शालाओं पर कभी मोती की माला के समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी उन पर अब चाँदनी के पुनः चमकने का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता क्योंकि बहुत दिनों से मरम्मत न होने के कारण कोठों के चूने का रङ्ग काला पड़ गया है और उन पर जहाँ-तहाँ घास जम आई है। पहले उद्यान की जिन लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दरी स्त्रियाँ फूल उतारा करती थीं, उन्हीं लताओं को अब उत्पाती बन्दर झकझोर डालते हैं। आजकल अटारियों के झरोखों से न तो रात को दीपकों की किरणें निकलती हैं, न दिन में सुन्दरियों का मुख दिखाई देता है और न कहीं से अगरु का धुआँ ही निकलता है। अब वे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गये हैं। यह सब देख कर क्लेश का कोई पारावार नहीं है। अब न तो सरयू के घाटों पर देवताओं के लिये बलि दी जाती है और न स्त्रियों के स्नान करने से उससे अङ्गराग आदि की गन्ध ही निकलती है। सरयू के तट पर बनी हुई बेंत की झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं। अतएव अब आप अपनी कुलराजधानी अयोध्या को पुनः बसावें। इस वर्णन में विनष्ट पुर के समग्र चित्र का प्रतिबिम्ब मिलता है।[2]

कुश ने उसकी प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अयोध्या के पुनर्निर्माण के विषय में उनकी प्रतिज्ञा को सुन लेने के पश्चात् वह अन्तर्धान हो गयीं। कुश ने अपनी राजधानी कुशावती को वेदपाठी ब्राह्मणों को सौंपकर शुभ मुहूर्त में अपने कुल की पुरातन राजधानी अयोध्या की ओर अपने दल बल के साथ प्रस्थान कर दिया। कुछ दिनों की यात्रा के अनन्तर वे सरयू के किनारे पहुँचे। वहाँ उन्हें बड़े यज्ञ करने वाले रघुवंशी राजाओं के द्वारा गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञ-यूप दृष्टिगोचर हुए। अयोध्या की वाटिकाओं में फूले हुए वृक्षों की डालियों को हिलाते हुए तथा सरयू के पवित्र शीतल जल के स्पर्श से ठण्ढे वायु ने आगे बढ़कर कुश का स्वागत किया। उन्होंने अपनी सेना को आस-पास के स्थानों में टिका दिया। वास्तुविद्या के पण्डितों को एकत्र कर उन्होंने इस पुर के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार इन्द्र की आज्ञा से बादल जल बरसा कर निदाघ से तपी पृथ्वी को हरी-भरी कर देते

---

१. **रघुवंश, सर्ग १६, श्लोक १५-१७।**

२. **वही, सर्ग १६, श्लोक १८-२१।**

हैं, उसी प्रकार कुश की राजकीय आज्ञा को प्राप्त कर कारीगरों ने अपने यन्त्रों की सहायता से अयोध्या का कायापलट कर दिया।[१] उन्होंने मन्त्रियों के निवास के लिये बहुत से भवन बनवा दिये। हाट नये ढङ्ग से बना दिये गये। उनमें सुन्दर वस्तुएँ विक्रय के निमित्त सजा दी गयीं। अश्वशालाओं में घोड़े बाँध दिये गये। हथसारों के खम्भों से हाथी बँधे हुए थे। नवीन निर्माण के कारण अयोध्या फिर पहले जैसी सुन्दर प्रतीत होने लगी। लगता था, मानों विभिन्न आभरणों से सुशोभित कोई स्त्री खड़ी हो।[२] कुश इस पुरी में अब सुखपूर्वक रहने लगे। इस अनुपम आनन्द के सामने उन्हें न तो सुन्दर अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गई और न तो असंख्य रत्नोंवाली अलकापुरी की ही।[३]

शास्त्रीय विवेचन की पुरातत्त्वसामग्री के साथ तुलना—जिन अनेक नगरों के वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलते हैं, उनमें से कतिपय के भग्नावशेषों की पहचान पुरातत्त्वसुविज्ञों के द्वारा हो चुकी है। इन अवशेषों पर समय-समय पर उत्खनन हुआ है तथा अब भी हो रहा है। इस क्रिया में जो प्राचीन वस्तुएँ प्रकाश में लाई गयी हैं, वे पुरसन्निवेश पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। उनके द्वारा निम्न साहित्यिक उल्लेखों का समर्थन हो जाता है:—(१) वप्र, प्राकार, अट्टालक तथा परिखा प्राचीन नगर के अभिन्न अङ्ग थे। (२) वप्र मिट्टी का बना होता था। यह आकार में बहुत बड़ा होता था। भीटा के उत्खनन से प्रतिपादित हो जाता है कि पूर्वकाल में यहाँ मिट्टी के द्वारा बना हुआ एक विशाल वप्र वर्तमान था।[४] शिशुपालगढ़ में हाल ही में जो उत्खनन हुआ है, उससे भी यही विदित होता है कि इस स्थान पर बने हुए वप्र में मिट्टी का प्रयोग किया गया था। यह वप्र जमीन की सतह से लगभग २५ फीट ऊँचा था तथा इसकी चौड़ाई आधार पर लगभग ११० फीट थी।[५] (३) वप्र का निर्माण उस मिट्टी के द्वारा किया जाता था, जो पास की

---

१. रघुवंश, सर्ग १६, श्लोक २२।

२. "सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पूर्वाविभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी॥"
—वही, सर्ग १६, श्लोक ४१।

३. "वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम्।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय॥"
—वही, सर्ग १६, श्लोक ४२।

४. आ० स० रि०, १९११-१२ पृष्ठ ३०।

५. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या ५, पृष्ठ ७४।

परिखा को बनाते समय निकाली जाती थी। शिशुपालगढ़ का वप्र इसी प्रकार बनाया गया था।[1] (४) प्राकार मिट्टी, ईंट तथा पत्थर तीनों के द्वारा बनाये जाते थे। मथुरा के चारो ओर मिट्टी के प्राकार (धूलकोट) के चिन्ह अब भी अवशिष्ट रह गये हैं।[2] भीटा के उत्खनन से ज्ञात होता है कि इस स्थान पर बने हुए प्राकार में ईंटों की चुनाई की गई थी। ये ईंटें बहुत ही मजबूत थीं। उनकी लम्बाई २० इञ्च तथा चौड़ाई १२ इञ्च के लगभग थी।[3] पुरातत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि तक्षशिला में प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग जो विशाल भित्तिका वर्तमान थी, उसमें प्रस्तरखण्ड चुने गये थे।[4] (५) प्राकार की संख्या एक से अधिक भी हुआ करती थी। शिशुपालगढ़ की खुदाइयों से ज्ञात होता है कि यहाँ पर दो प्राकार विद्यमान थे।[5] (६) प्राकार बहुत बड़े हुआ करते थे। भीटा के प्राकार की मोटाई १२ फीट थी।[6] श्रावती का प्राकार ३५ फीट से लेकर ५० फीट तक ऊँचा था। हड़प्पा का प्राकार ५०० गज लम्बा तथा ३०० गज चौड़ा था। तक्षशिला का प्राकार तो इससे भी बड़ा था। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार इसकी लम्बाई ६००० गज (३$\frac{१}{२}$ मील) थी।[7] (७) दो प्राकारों के बीच पर्याप्त अन्तर रहता था। शिशुपालगढ़ के प्राकारों के बीच की दूरी २६ फीट थी।[8] (८) शिशुपालगढ़ के प्राकारों में प्रत्येक दो फीट की दूरी पर छिद्र बने हुए थे।[9] ऐसा प्रतीत होता है कि सैनिक किले के भीतर से ही इन छिद्रों के बीच से शत्रु पर बाण छोड़ते थे। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि पाटलिपुत्र की दीवाल में छिद्र बने हुए थे, जिनके द्वारा किले के भीतर से ही बाण बाहर फेंका जाता था।[10] (९) राजगृह के अवशेषों से विदित होता है कि प्राकारों के ऊपर पहुँचने के लिये सोपान बने हुए थे।[11] इस

---

१. ऐंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ७४।
२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४।
३. आ० स० रि०, १९११-१२, पृष्ठ ३०।
४. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ ११३।
५. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या ५, पृष्ठ ७५।
६. आ० स० रि०, १९११-१२, पृष्ठ ४०।
७. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ ११३।
८. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या ५, पृष्ठ ७५।
९. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या ५ पृष्ठ ७५।
१०. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, खण्ड २६।
११. आ० स० रि०, १९०५-०६, पृष्ठ ८९।

पुरातत्त्वसाक्ष्य के द्वारा कौटिल्य के उस निर्देश का समर्थन हो जाता है, जिसके अनुसार नगर के प्राकार के ऊपर पहुँचने के लिये सोपान का निर्माण आवश्यक है। (१०) नगर-प्राचीरों में दरवाज़े खुले होते थे। पुरातत्त्वसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि शिशुपालगढ़[१] तथा तक्षशिला[२] के प्राकार सचमुच ही द्वारयुक्त थे। (११) नगर-द्वार के सामने सैनिक रखे जाते थे। भीटा की खुदाइयों से ज्ञात होता है कि नगर के दरवाज़ों के पास भीतर की ओर सैनिकों के रहने के लिये कमरे बने हुए थे।[३] तक्षशिला की खुदाइयों से भी विदित होता है कि इस प्रकार की व्यवस्था यहाँ पर भी की गयी थी।[४] (१२) सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। तक्षशिला की सड़कें इसी प्रकार बनी हुयी थीं।[५] (१३) राजमार्गों के किनारे नाले बनाये जाते थे। पुरातत्त्वसुविज्ञों का मत है कि तक्षशिला के कुछ मार्गों के किनारे-किनारे पत्थर के नाले बनाये गये थे, जिनके द्वारा नगर का गन्दा पानी बाहर बहाया जाता था। इन नालों का मुँह ऊपर से ढका हुआ था।[६] इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरातत्त्वसामग्री तथा साहित्यिक सामग्री में काफी समानताएँ हैं। यह समानता इस बात का परिचायक है कि नगर-मापन के विषय में साहित्य के द्वारा जो परिचय प्राप्त होता है, वह ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है।

---

१. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या ५, पृष्ठ ७५।
२. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ ११४।
३. आ० स० रि०, १९११-१२, पृष्ठ ३०।
४. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ ११५।
५. वही, पृष्ठ १९८।
६. वही, पृष्ठ ९१।

अध्याय १०

गृह-सन्निवेश

नगर-मापन के उपरान्त गृह-विन्यास की क्रिया प्रारम्भ होती थी। शिल्पशास्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि गृह-विन्यास के पूर्व ही नगर की परिखाओं, प्राकारों तथा विभिन्न मार्गों का निर्माण किया जाय, क्योंकि इस सिद्धान्त के प्रतिकूल कार्य करने पर आदर्श नगर-निर्माण असम्भव है।[1] यह निर्देश समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि घरों के पहले ही बन जाने पर राजमार्गों का निर्माण मनोनुकूल तथा व्यवस्थित रूप में नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उनके टेढ़े-मेढ़े तथा कुरूप हो जाने की सम्भावना होती है। राजमार्गों के बन जाने के उपरान्त ही उनके किनारे-किनारे घर अच्छी तरह बनाये जा सकते हैं।

राजप्रासाद का सन्निवेश——प्राचीन ग्रन्थों में राजमहल के लिये **प्रासाद, राजप्रासाद, राजगृह, राजभवन, राजगेह** तथा **राजनिवेशन** आदि शब्द आते हैं। पुर के भीतर राजमहल का निर्माण बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था, क्योंकि यह सम्पूर्ण नगर का केन्द्रबिन्दु था। राजप्रासाद के निर्माण के निमित्त सबसे पहले भूमि का चुनाव किया जाता था। पूर्व परिच्छेद में इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि पुर के केन्द्रीय भाग को इसके लिये उपयुक्त भूमि माना जाता था। जितनी भूमि में राजप्रासाद बनाना होता था, उसके किनारे-किनारे चिह्न लगा दिया जाता था। इसको काशिका में **'प्रासादीया भूमि'** कहा गया है। यह भूमि बहुत बड़ी हुआ करती थी। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि जो भूमि राजप्रासाद के निर्माण के लिये चुनी जाय, वह विस्तार में नगर का नवांश हो। मयमत में नगर की सप्तांश भूमि इसके लिये उपयुक्त बताई गयी है। राजप्रासाद के निर्माण के लिये काफी तैयारी की जाती थी; उदाहरणार्थ ईंटें पका ली जाती थीं, जिन्हें काशिका में **'प्राकारीयाः इष्टकाः'**

---

१. **"नगरं विन्यसेदादौ पश्चात् गेहानि विन्यसेत्।**
अन्यथा यदि कुर्वाणस्तदा न शुभमादिशेत्॥"

विश्वकर्मप्रकाश, अध्याय १३, पृष्ठ २२२। दत्त बि० बि०, टा० प्लै० एं० इं०, पृष्ठ २४८।

कहा गया है।[१] जङ्गलों से लकड़ियाँ इकट्ठी कर ली जाती थीं, जिन्हें काशिका में **'प्रासादीयं दारु'** कहा गया है।[२] निर्माण के कार्य में उन शिल्पियों की सहायता ली जाती थी, जो वास्तुविद्या के विशेषज्ञ होते थे। राजभवन में अधिक सौन्दर्य लाना तथा सुविकसित कला का रूप दिखाना इनका कर्त्तव्य था। राजमहल के निर्माण में काफी द्रव्य लगता था। खारवेल के हाथीगुम्फा के लेख के अनुसार उसके 'महा-विजयप्रासाद' नामक महल के निर्माण में कई लाख मुद्राओं का व्यय हुआ था (महाविजयपासादं कारयति अठतिसाय सतसहसेहि)।[३] प्राचीन राजप्रासाद को सन्निवेश की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है:—(१) स्कन्धावार (२) राजकुल तथा (३) धवलगृह।[४]

स्कन्धावार—स्कन्धावार सबसे बड़ा भाग था। इसके भीतर राजमहल के अतिरिक्त हस्तिशाला, अश्वशाला, सैनिकगृह तथा अधीनस्थ नरेशों के शिविर भी सम्मिलित थे। हर्षचरित से विदित होता है कि हर्ष के स्कन्धावार के बहिर्भाग में सर्वप्रथम प्रवेश करते ही एक ओर गजशाला तथा दूसरी ओर तुरङ्गशाला थी।[५] उसके उपरान्त और अन्दर के विस्तृत क्षेत्र में यथास्थान राजा से मिलने की इच्छा रखने वाले राजाओं,[६] सम्मानित व्यक्तियों[७] तथा विदेश से आये हुए दूतों के शिविर अलग-अलग पड़े हुए थे।[८] स्कन्धावार के बहिर्भाग में आपण का प्रमुख भाग भी सम्मिलित होता था। हर्षचरित में रुग्ण प्रभाकरवर्धन से मिलने के लिये हर्ष स्कन्धावार के भीतर बाज़ार के प्रधान रास्ते से जाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[९] इस प्रकार विदित होता है कि स्कन्धावार के बहिर्भाग में बाज़ार का भी एक भाग सम्मिलित होता था। इसको देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि स्कन्धावार का बहिर्भाग एक छोटा-मोटा नगर ही था।

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४३।
२. वही, पृष्ठ १४३।
३. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २०८।
४. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०३।
५. वही, पृष्ठ २०३।
६. "प्रतापानुरागतैर्नानादेशजैर्महामहीपालैः।"
—हर्षचरित (फूहरर-सम्पादित), पृष्ठ ९७।
७. वही, पृष्ठ ९७।
८. "सर्वद्वीपान्तरागतैश्च दूतमण्डलैरुपास्यमानम्।"—वही, पृष्ठ ९७।
९. "स्कन्धावारमाससाद। प्रविशन्नेव च विपणि वर्त्मनि।"—वही, पृष्ठ २१४।

राजकुल—स्कन्धावार के अन्तर्भाग में राजकुल का निर्माण किया जाता था।[१] राजकुल सम्राट् का राजभवन था।[२] इसके प्रधान द्वार पर पहरेदार नियुक्त किये जाते थे। इसके अन्दर सबको प्रवेश नहीं मिल सकता था। राजकुल कई कक्ष्याओं से युक्त होते थे। दशरथ के राजकुल में कई कक्ष्याएँ थीं।[३] हर्ष के राजकुल में चार कक्ष्याएँ थीं।[४] ये कक्ष्याएँ बहुत विशाल हुआ करती थीं। सौन्दरनन्द में नन्द के महल की कक्ष्याओं को बहुत ही विशाल बताया गया है। द्वार पर खड़े गौतम बुद्ध से मिलने के लिये राजमहल के भीतर से जब नन्द चलते हैं, उस समय जल्दी बाहर न आ सकने पर वे कक्ष्याओं की विशालता को धिक्कारते हुए इस ग्रन्थ में दिखाये गये हैं।[५] प्रथम कक्ष्या में सम्राट् के व्यक्तिगत वाहन रखे जाते थे। सम्राट् हर्ष के राजकुल की प्रथम कक्ष्या में उनके राजकुञ्जर[६] तथा राजवाजि[७] की शालाएँ बनी हुई थीं। प्रथम कक्ष्या में सम्राट् का वाहन आ सकता था। रामायग में रामचन्द्र दशरथ की प्रथम कक्ष्या में रथ पर चढ़कर तथा बाकी दो में पैदल अन्दर जाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[८]

राजकुल की दूसरी कक्ष्या में राजा का **'आस्थान-मण्डप'** स्थित था।[९] इसको हर्षचरित में **'आस्थान'**, **'राजसभा'** तथा **'सभा'** भी कहा गया है।[१०]

---

१. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०४।

२. वही, पृष्ठ २०४।

३. रामायण, अयोध्याकाण्ड, १७, २०।

४. हर्षचरित (फूहरर), पृष्ठ ११०।

५. "प्रासादसंस्थो भगवन्तमन्तः प्रविष्टमश्रौषमनुग्रहाय।
अतस्त्वरावानहमभ्युपेतो गृहस्यकक्ष्यामहतोऽभ्यसूयन् ॥"
—सौन्दरनन्द, ६, ८।

६. "दूरादव्यक्तमिभधिष्ण्यागारमपश्यत्।"
—हर्षचरित (फूहरर-सम्पादित), पृष्ठ १०२।

७. "भूपालवल्लभैस्तुरङ्गैरारचितां मन्दुराम्।"
—वही, पृष्ठ १०१।

८. "स कक्ष्या धन्वभिर्गुप्तस्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः।
पदातिपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः॥"
—रामायण, अयोध्याकाण्ड, १७, २०।

९. "आस्थानमण्डपो महानदृश्यत।"—हर्षचरित (फूहरर), पृष्ठ १०२।

१०. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०५।

कादम्बरी में इसके लिये "सभामण्डप" शब्द आता है।[१] इस सभा में राजदरबारी एकत्र होकर आवश्यक विषयों पर परामर्श करते थे। राज्यवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त हर्ष ने इसी सभा में अपने प्रमुख कर्मचारियों से मन्त्रणा ली थी।[२] कादम्बरी में चन्द्रापीड़ के दरबारी आवश्यक परामर्श के लिये 'आस्थानमण्डप' में एकत्र होते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[३] इस ग्रन्थ में राजा शूद्रक की सभा भी "आस्थान-मण्डप" में दिखाई गई है।[४] हर्षचरित में इस 'आस्थानमण्डप' को 'बाह्यास्थान-मण्डप' भी कहा गया है।[५]

द्वितीय कक्ष्या में स्थित यह 'बाह्यास्थानमण्डप' उस 'आस्थानमण्डप' से विभिन्न था, जो राजकुल की चौथी कक्ष्या में वर्तमान था। इसको 'हर्षचरित' में 'भुक्तास्थानमण्डप' कहा गया है। इस 'आस्थानमण्डप' में भोजन के उपरान्त राजा अपने इष्ट जनों के साथ वार्तालाप करता था। इसका 'भुक्तास्थानमण्डप' नाम पड़ने का यही कारण था। बाण हर्ष से मिलने के लिये इसी "भुक्तास्थान-मण्डप' में आये थे।[६] 'बाह्यास्थानमण्डप' तथा 'भुक्तास्थानमण्डप' में स्थिति के अतिरिक्त एक और भी दृष्टि से विभेद था। 'बाह्यास्थानमण्डप' में सभी दरबारी एकत्र होते थे, अर्थात् यह सभा दरबारियों की आमसभा थी। पर 'भुक्ता-स्थानमण्डप' में राजा के मन्त्री, इष्ट-जन तथा सामन्त आदि ही आ सकते थे। इस दृष्टि से इस सभा को सम्राट् की खास सभा कहा जा सकता है। इस भेद का निर्देश करते हुए डॉक्टर अग्रवाल ने 'बाह्यास्थानमण्डप' तथा 'भुक्तास्थानमण्डप' की तुलना मुगलों के 'दर्बार-आम' तथा 'दर्बार-खास' से क्रमशः की है।[७]

धवलगृह—धवलगृह राजसभा के अभ्यन्तर भाग में वर्तमान होता था। बाण के अनुसार सम्राट् हर्ष का धवलगृह राजभवन की तीसरी कक्ष्या में विद्यमान था।[८] इसके द्वारपालों को **'अभ्यन्तर-प्रतीहार'** कहा जाता था। धवलगृह के

---

१. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०५।

२. वही, पृष्ठ २०५।

३. वही, पृष्ठ २०५।

४. वही, पृष्ठ २०५

५. वही, पृष्ठ २०५।

६. "त्रीणि कक्ष्यान्तराणि चतुर्थेभुक्तास्थानमण्डपस्य।"
—हर्षचरित (फूहरर), पृष्ठ ११०।

७. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०५-२०६।

८. हर्षचरित (फूहरर), पृष्ठ २१६।

प्रधान द्वार को '**गृहावग्रहणी**' कहते थे।[१] इसका यह नाम पड़ने का कारण यह था कि यहाँ पर द्वारपाल बहुत कड़ा पहरा रखते थे। धवलगृह कई तलों का बना होता था। ऊपर की मञ्जिल पर पहुँचने के लिये सोपान बने होते थे। हर्षचरित से विदित होता है कि सम्राट् ऊपर की मञ्जिल में रहते थे। इस ग्रन्थ में हर्ष अपने पिता प्रभाकरवर्द्धन से मिलने के लिये कई बार ऊपर जाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[२] रामायण में भी ऊपर जाकर राजाओं से मिलने का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार राम[३] तथा वशिष्ठ[४] दशरथ से मिलने के लिये ऊपर गये थे। धवलगृह के भीतर आँगन होता था, जिसके चारो ओर कमरे बने होते थे। इनको चतुश्शाल कहा जाता था।[५]

धवलगृह की ऊपरी मञ्जिल राजभवन में महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिये रखती है कि सम्राट् तथा उनकी रानियों के निवास के कमरे वहीं बने होते थे। ऊपरी तल के एक ओर तीन कमरे होते थे :—(१) प्रग्रीव (२) सौध तथा (३) वासगृह। प्रग्रीव इन तीनों के मध्य में बना होता था तथा सौध एवं वासगृह इसके अगल-बगल बने होते थे। वासगृह की दीवालों पर चित्र बनाये जाते थे। इसी कारण इसे '**चित्रशालिका**' भी कहा जाता था। सौध राजमहिषी के प्रयोग के लिये बना होता था। बीच का कमरा धवलगृह के ग्रीवास्थान पर स्थित होता था। यही कारण है कि इसे '**प्रग्रीवक**' भी कहा जाता था।[६] हर्षचरित में प्रग्रीवक में सम्राट् के बान्धवों की अङ्गनाएँ बैठी हुयी चित्रित की गयी हैं।[७]

---

१. "गृहावग्रहणीग्राहिबहुवेत्रिणि"—हर्षचरित (फूहरर) पृष्ठ २१६।

२. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०५-२०६।

३. "स तं कैलासशृंगाभं प्रासादं रघुनन्दन।
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघव॥"
—रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ३, पंक्ति ७२-७३।

४. "सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य च।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः॥"
—वही, अयोध्याकाण्ड, ५, २२।

५. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०८।

६. वही, पृष्ठ २०८।

७. "वान्धवाङ्गनावर्गगृहीतप्रच्छन्नप्रग्रीवके।"
—हर्षचरित (फूहरर), पृष्ठ २१६।

धवलगृह के ऊपर की मञ्जिल की दूसरी ओर प्रग्रीवक के सामने चन्द्रशालिका नामक कमरा बना होता था।[1] यह कमरा काफी खुला होता था। यह सम्भवतः चन्द्रिकासेवन तथा वायुसेवन के निमित्त बना होता था। हर्षचरित में रानी यशोमती इसमें बैठकर अपना दिलबहलाव करती हुई चित्रित की गई हैं।[2] इस कमरे में अलङ्करण के निमित्त यथास्थान मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। वासगृह तथा सौधगृह के ठीक सम्मुख दो बड़े दालान होते थे, जो चन्द्रशालिका के अगल-बगल होते हुए दूसरी ओर निकल जाते थे। कादम्बरी में इन्हीं को **'प्रासादकुक्षि'** कहा गया है। इनमें बैठकर सम्राट सङ्गीत तथा नृत्य आदि के द्वारा अपना मनोविनोद करते थे।[3]

पददेवताविन्यास--प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र नागरिक शालाओं का भी वर्णन मिलता है। उनके लिये **आगार, अधिवास, वेश्म, गृह, शाला, सदन, हर्म्य** तथा **सौध** शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिस भूमि में भवन बनाना होता था, उसे पहले इक्कासी भागों (पदों) में बाँट लिया जाता था। इस विभाजन को 'पदविन्यास'[4] कहा जाता था। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वास्तुभूमि को कभी-कभी चौसठ **(चतुषष्ठिपाद)** अथवा सौ भागों **(शतपाद)** में भी विभक्त किया जाता था। पर इक्कासी भागों में विभाजन की प्रथा अधिक लोकप्रिय थी। मत्स्य पुराण में वास्तुभूमि को इक्कासी भागों **(एकाशीतिपद)** में बाँटा गया है (अध्याय २५३)। मयमतम् में भी वास्तुभूमि को इक्कासी भागों में विभक्त करने का उल्लेख किया गया है (चतुःषष्ठिपदे **चैकाशीतौ** सकलनिष्कले, अध्याय ७, ३२)। इन पदों में देवताओं को बिठाया जाता था। इसको 'पददेवताविन्यास'[5] कहते थे। इस सम्बन्ध में शिल्पशास्त्रों में जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार किनारे के बत्तीस पदों में बत्तीस देवता उत्तरपूर्व के कोने से क्रमशः बिठाये जाते थे। इनको "द्वात्रिंशद्बाह्यदेवता" कहा जाता था। उनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) ईशान, (२) पर्जन्य, (३) जयन्त, (४) महेन्द्र, (५) आदित्य, (६) सत्य, (७) भृश, (८) अन्तरिक्ष, (९) अग्नि, (१०) पूषा, (११) वितथ, (१२) गहक्षत अथवा राक्षस, (१३) यम, (१४) गन्धर्व, (१५) भृङ्गराज, (१६) मृष, (१७) पितृदेवता अथवा निर्ऋत, (१८) दौवारिक, (१९) सुग्रीव, (२०) पुष्पदन्त,

---

१. हर्षचरित (फूहरर), पृष्ठ २१६।

२. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०९।

३. वही, पृष्ठ २०८।

४. मानसार, अध्याय ६, पृष्ठ १९।

५. मयमत, अध्याय ७।

(२१) जलाधिप अथवा वरुण, (२२) असुर, (२३) शोषण, (२४) रोग, (२५) वायु, (२६) नाग, (२७) मुख्य, (२८) भल्लाट, (२९) सोम, (३०) मृग अथवा अर्गल, (३१) अदिति तथा (३२) उदिति।[१] इनके भीतर की ओर उत्तरपूर्व के चार पदों में आप तथा आपवत्स नामक देवता, दक्षिणपूर्व के चार पदों में सविन्द्र तथा साविन्द्र नामक देवता, दक्षिण-पश्चिम के चार पदों में इन्द्र तथा इन्द्रराज नामक देवता एवं उत्तरपश्चिम के चार पदों में रुद्र तथा रुद्रजय नामक देवता बिठाये जाते थे। बीच के नव पदों को ब्रह्मा का स्थान माना जाता था। ब्रह्मा के उत्तर के ६ पदों में महीधर अथवा भूधर नामक देवता, दक्षिण के ६ पदों में विवस्वान नामक देवता, पश्चिम के ६ पदों में मित्र नामक देवता तथा पूर्व के ६ पदों में अर्यमा नामक देवता बिठाये जाते थे।[२] इस पदविन्यास की सहायता से शिल्पी भवनों की युक्तियाँ बनाते थे।

ब्राह्मणगृह-युक्ति—शिल्पशास्त्रों में कहीं-कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों के घरों के लिये अलग-अलग युक्तियाँ मिलती हैं। शिल्पशास्त्रों में एक स्थान पर **ब्राह्मणगृह की युक्ति** के सम्बन्ध में कहा गया है कि **भल्लाट, सोम, अर्गल** तथा **महीधर** नामक पदों में शयनगृह का निर्माण किया जाय। अन्तरिक्षपद में महानस, वितथपद में अन्नभूमि, असुरपद में कोष्ठागार एवं गान्धर्वपद में स्नान-भूमि का निर्माण किया जाय।[३]

क्षत्रियगृह-युक्ति—इसके सम्बन्ध में शिल्पशास्त्रों का मत है कि अन्तरिक्षपद में पाकशाला, गृहक्षतपद में शयनगृह, वारुणपद में भोजनालय, निर्ऋतपद में अस्त्रशाला, वायुपद में विहारशाला, भल्लाटपद में कोशसञ्चय, सौम्यपद में कोष्ठागार, अर्गलपद में व्यायामगृह, पर्जन्यपद में स्नानभवन, गान्धर्वपद में नृत्यशाला, पूषापद में गजमन्दिर, अदिति तथा उदिति नामक पदों

---

१. मयमत, अध्याय ७।

२. वही, अध्याय ७।

३. "गृहक्षते च माहेन्द्रे ब्राह्मणानां प्रकीर्तितम्।
महीधरे च सोमे च भल्लाटार्गलयोस्तथा॥
शयनीयं तु कर्तव्यं प्रशस्तं पूर्वतः शिखा।
नवद्वारकृतं कुर्यादन्तरिक्षे महानसम्॥
वितथे चान्नभूमिं च कोष्ठागारं तथासुरे।
स्नानभूमिं च गान्धर्वे सद्यः कुर्याद् विशेषतः॥"

—वास्तुविद्या, अध्याय ४, २१-२३।

में तुरङ्गशाला, सौम्यपद में अन्तःपुर तथा मध्य (ब्राह्म) पद में मण्डप का निर्माण किया जाय।[1]

वैश्यगृह-युक्ति—इसके विषय में शिल्पशास्त्रों का मत है कि भल्लाट तथा पुष्पदन्त नामक पदों में द्वार; यम, विवस्वान, गान्धर्व तथा गृहक्षतपदों में शयनगृह, वारुणपद में महानस, गान्धर्वपद में स्नानभूमि, असुरपद में कोष्ठागार तथा पैतृकपद में गर्भभूमि स्थित हो।[2]

शूद्रगृह-युक्ति—शूद्रगृहयुक्ति इससे विभिन्न थी। शिल्पशास्त्रों के अनुसार भल्लाट तथा महेन्द्र भाग में द्वार; सुग्रीव, पुष्पदन्त, मित्र तथा वारुणपद में शयन-गृह, पूषापद में महानस, असुरपद में कोष्ठागार तथा गन्धर्वपद में स्नानभूमि का निर्माण किया जाय।[3]

---

१. "पाकशालान्तरिक्षेऽग्नौशयनं गृहरक्षके।
अस्त्रशाला च निर्ऋतौ वरुणे भोजनालयः॥
विहारशाला वायौ स्यात् भल्लाटे कोशसञ्चयः।
कोष्ठागारं तथा सौम्ये वा याम्येऽप्यर्गलेस्मृतम्॥
पर्जन्ये स्नानभवनमेशे होमार्चना गृहे।
नृत्यशाला तु गन्धर्वे गजशाला तू पूषणि॥
आदित्युदित्योस्तुरङ्गाणां स्त्रीणां सौम्ये च पश्चिमे।
मध्ये प्रपामण्डपं वा युक्तान्यच्चापि कारयेत्॥"
—वास्तुविद्या, अध्याय ४, पृष्ठ १८।

२. "भल्लाटे पुष्पदन्ते च द्वारे वैश्यस्य पूजिते।
यमे विवस्वति प्रोक्तं गन्धर्वे च गृहक्षते॥
शयनीयं प्रकर्तव्यं विद्वद्भिः प्राक्शिरो भवेत्।
पूर्वे च वारुणे पन्थाः पूर्वोक्तं वा महानसम्॥
गन्धर्वे स्नानभूमिः स्याद् कोष्ठागारं तथासुरे।
पैतृके गर्भभूमिः स्याद् वास्तुविद्भिरितीरितम्॥"
—वही, अध्याय ४, २४-२६।

३. "भल्लाटे च माहेन्द्रे च द्वारे शूद्रस्य पूजिते।
सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च मित्रोऽथवरुणस्तथा॥
यस्तत्र शयनीयं स्यात् सर्वेषामिति च स्थितिः।
महानसं च पूष्णि स्याद् कोष्ठागारं तथासुरे॥
स्नानभूमिं तु गन्धर्वे सदा कुर्य्याद् विशेषतः॥"
—वही, अध्याय ४, पंक्ति ५३-५८।

पंक्तिबद्धता—इन युक्तियों के अनुसार जो भवन बनाये जाते थे, उनका निर्माण प्राय: **एक ही पंक्ति** में किया जाता था। मन्दसोर के लेख से ज्ञात होता है कि दशपुर के भवन एक ही पंक्ति में बने हुए थे। उनको देखने से ऐसा ज्ञात होता था कि मानों वे पृथिवी को फाड़कर एक ही साथ ऊपर निकल आये हों।[१] नालन्दा के भवन एक ही पंक्ति में बने हुए थे।[२] इन भवनों का **मुख राजमार्ग की ओर** होता था। शुक्रनीति में कहा गया है कि यथासम्भव भवनों के मुख राजमार्ग की ओर बने हों (राजमार्गमुखानि स्यु:),[३] क्योंकि इस प्रकार के निर्माण के कारण ही नगर में सौन्दर्य का समावेश सम्भव है।

द्विवासगृह—साधारणत: प्रत्येक नागरिकशाला में दो भाग होते थे:—(१) बहिर्भाग तथा (२) अन्त:पुर। वात्स्यायन ने इसीलिये आदर्श नागरिकशाला को '**द्विवासगृह**' कहा है।[४] बहिर्भाग पुरुषों के लिये बना होता था तथा अन्त:पुर स्त्रियों के प्रयोग के लिये। प्रत्येक भाग में कई **कमरे** होते थे (विभक्त-कर्मकक्षम्)।[५] इनमें से प्रत्येक किसी उद्देश्य से बने होते थे। नागरिक शालाओं के सम्बन्ध में स्नान, शयन तथा भोजन के कमरों का प्राय: उल्लेख मिलता है। इन कमरों में **द्वार** बने होते थे। हरिवंश में कहा गया है कि मथुरा के भवनों में जो द्वार बने हुए थे, उनके कारण इस नगर का सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ गया था (सुसंवृतद्वारवती)।[६]

बहिर्द्वार—कमरों के द्वारों के अतिरिक्त भवन का एक **बहिर्द्वार** होता था, जिससे होकर घर के अन्दर प्रवेश किया जाता था। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के भवन के बहिर्द्वार का एक बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह बहिर्द्वार अपने विलक्षण सौन्दर्य के कारण वीतराग का भी मन आकर्षित कर लेता था। उसके ऊपर भरपूर जल का छिड़काव किया गया था। मार्जनी से सफाई कर उसे खूब स्वच्छ कर दिया गया था। हरे रङ्ग के लेप तथा सुगन्धित

---

१. "प्रासादमालाभिरलंकृतानि धरां विदार्यैव समुत्थितानि"।
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९१।

२. "मालेवोर्ध्वविराजिनीविरचिता धात्रा मनोज्ञा भुव:।"
—ए० इं०, २०, पृष्ठ ४३।

३. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, श्लोक २६७।

४. "द्विवासगृहं कारयेत्"—कामसूत्र, पृष्ठ ४२, सूत्र ४।

५. वही, पृष्ठ ४२, सूत्र ४।

६. हरिवंश, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४, पंक्ति ११८।

पुष्पों से सजाने के कारण वह चित्रित-सा प्रतीत हो रहा था। उस पर चमेली की मालाएँ लटकाई गयी थीं।[१] धनिक नागरिक के बहिर्द्वार के सामने एक **द्वारपाल** भी नियुक्त होता था।[२]

ऊँचाई—भवन की औसत **ऊँचाई** आदर्श मानी जाती थी। नारदसंहिता में कहा गया है कि यथासम्भव भवन की ऊँचाई न तो बहुत अधिक हो और न बहुत कम।[३] नगर के एक ही भाग में भवनों की समान उच्चता सौन्दर्य के निमित्त वाञ्छनीय मानी जाती थी।[४] भवनों में कभी-कभी शिखर बने होते थे। प्राचीन ग्रन्थों में शिखर के लिये **शृङ्ग, अट्ट तथा आश्रय** शब्द आते हैं। महाभारत के लेखक ने भवनों के वर्णन के सम्बन्ध में ऐसे शिखरों का उल्लेख किया है, जो सुधालेप के कारण पाण्डु वर्ण के लगते थे।[५]

सोपान—ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं, जिन्हें **सोपान** कहा जाता था। ऐसे सोपानों का उल्लेख प्रायः मिलता है, जिनसे सरलतापूर्वक ऊपर जाया जा सकता था (सुखारोहणसोपानैः)।[६] यत्र-तत्र रत्नजटित एवं मणिनिर्मित सोपानों के उल्लेख मिलते हैं (काञ्चनैर्मणिसोपानैः)।[७] नागरिक कभी-कभी इनसे होकर चन्द्रिकासेवन के निमित्त कोठे पर जाते थे।[८] भवनों को सुदृढ़ बनाने के लिये **स्तम्भों** का निर्माण किया जाता था। बुद्धचरित में शालाओं के वर्णन के सम्बन्ध में आयसस्तम्भ[९] तथा सुवर्णस्तम्भ[१०] का उल्लेख हुआ है।

---

१. मृच्छकटिक, अङ्क ४।

२. "श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः।"—वही, अङ्क ४।

३. "नात्युच्छ्रितं नातिनीचं कुर्य्योत्सेधं यथारुचि।"

—नारदसंहिता, अध्याय २९, पंक्ति १११।

४. "शालादिभिर्न कर्त्तव्यं कुर्य्यात्तुङ्गनिम्नकम्।
समां शालां ततः कुर्यात्समं प्राकारमेव च॥"

विश्वकर्मप्रकाश, अध्याय २, पृष्ठ ४०। दत्त बि० बि०, टा० प्लै० ऐं० इं०, पृष्ठ २५२।

५. "सुधापाण्डुशृङ्गैश्च" महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ३८।

६. वही, अध्याय ३०, पंक्ति ८४।

७. वही, अध्याय ५७, पंक्ति ३३।

८. "हर्म्यतलस्थितयोर्वा चन्द्रिकासेवनार्थम्।"

—कामसूत्र, पृष्ठ १७४, सूत्र १९।

९. बुद्धचरित, १४, १२।

१०. सौन्दरनन्दकाव्य, १, १९।

ध्वज—सुन्दरता के हेतु भवनों में कभी-कभी झण्डे लगाये जाते थे। इन्हें **ध्वज, पताका तथा केतु** कहा जाता था। महाभारत में द्वारका के भवनों के ऊपर पताकाओं के फहराने का वर्णन मिलता है।[१] रामायण के अनुसार अयोध्या के भवनों के ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं।[२] मन्दसोर के लेख में दशपुर के नगर के भवनों के ऊपर झण्डों के फहराने का उल्लेख मिलता है।[३] धनिक नागरिकों के भवनों के ऊपर सौन्दर्य के निमित्त कभी-कभी बन्दनवार भी सजाया जाता था।[४]

स्वच्छ लेप—घरों में विशेष रूप से सौन्दर्य लाने के लिये उनके ऊपर **सफेदी** की जाती थी। महाभारत[५] एवं रामायण[६] में हंस के समान जिन धौत गृहों का उल्लेख मिलता है, वे इसका परिचय देते हैं कि सफेदी के कारण भवन विशेष रूप से धवलित (उज्ज्वल) हो उठे थे। य्वान् च्वाङ्ग के यात्राविवरण से भी निष्कर्ष निकलता है कि नागरिक शालाओं में **सफेदी** चढ़ाई जाती थी।[७] भवनों की **सफाई** के ऊपर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। वात्स्यायन ने कहा है कि भवन के फर्श को अच्छी तरह साफ कर उस पर फूल बिखेर दिये जायँ।[८] घर की गन्दगी को नालियों के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था।

वातायन—भवनों में स्थान-स्थान पर **रोशनदान या खिड़कियाँ** बनी होती थीं। इनको वातायन (पाली में वातपान) कहा जाता था। मृच्छकटिक में उज्जयिनी के भवनों के वातायनों का उल्लेख किया गया है।[९] कालिदास ने

---

१. "समुच्छ्रितपताकानि परिप्लवनिभानि च।"

—सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति १९।

२. "पताकाध्वजशोभिताम्।"

—रामायण, भाग ५, सर्ग २, पंक्ति ३२।

३. "चलत्पताकानि" सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९१।

४. "तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापंक्तिविराजितैः।"

—रामायण, भाग ५, सर्ग २, पंक्ति ३५।

५. आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति १३२।

६. 'गृहैश्च गृहसंकाशैः शारदाम्बुदसन्निभैः।"

—रामायण, भाग ५, सर्ग २, पंक्ति ३३।

७. वाटर्स, १, १४७।

८. "विरचितविविधकुसुमम्।"—कामसूत्र, पृष्ठ २२४, सूत्र ३।

९. "स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैः निध्यायन्तीवोज्जयिनीम्।"

—मृच्छकटिक, अङ्क ४।

अयोध्या के भवनों के वातायनों में बैठी हुई पुर-सुन्दरियों का वर्णन किया है।[१] जो वातायन तोरणों के मध्य में बने होते थे, उनका आकार गोल होता था। यही कारण है कि उन्हें गवाक्ष (अर्थात् बैल की आँख की भाँति गोल) कहा जाता था।[२] कालिदास ने गवाक्षों के झरोखे के द्वारा पुरसुन्दरियों के बाहर देखने का उल्लेख किया है।[३] कादम्बरी में भी गवाक्षों में स्त्रीमुख दिखाये गये हैं (गृहदेवताननानीव गवाक्षेषु वीक्षमाणः)।[४] भारतीय कला में भी गवाक्षों से झाँकते हुए स्त्रीमुख का अङ्कन किया गया है, उदाहरणार्थ गुप्तकला में (फलक १, चित्र १)। वातायनों में कभी-कभी किवाड़ लगे होते थे। मृच्छकटिक में अधखुले कपाट वाले वातायनों का उल्लेख मिलता है।[५] कादम्बरी में भी कपाटयुक्त वातायनों का वर्णन किया गया है (विघटितकपाटप्रकटवातायनेषु)।[६]

उपकरण—नागरिक की आवश्यकताओं के अनकूल **उपकरण** उनके घरों में विद्यमान होते थे। महावग्ग में प्रतिदिन के उपयोग में आने वाले उपकरणों के नाम मिलते हैं।[७] वात्स्यायन ने भी इनका उल्लेख किया है। उनके अनुसार नागरिक के शयनगृह में एक पलङ्ग (शयनीय) पड़ी होती थी, जिसके ऊपर साफ तथा कोमल बिछौना बिछाया जाता था। यह बीच में थोड़ा दबा होता था। इसके दोनों (शिरोभाग एवं चरणभाग की) ओर तकिया लगी होती थी। शयनीय के पास प्रतिशय्यिका होती थी (जयमङ्गला टीका के अनुसार प्रतिशय्यिका उस पलङ्ग को कहते थे, जो मसहरीदार होती थी :—"बद्धवितानं शयनीयम्")। पलङ्ग के शिरोभाग की ओर एक कूर्चस्थान होता था। जयमङ्गला टीका के अनुसार कूर्चस्थान उस निर्माण को कहते थे, जहाँ नागरिक बैठकर देवताओं की पूजा करता था ("देवतानुस्मरणार्थस्य स्थापनम्)"। पास ही एक वेदिका होती थी, जहाँ पर नागरिक के शृङ्गार की विभिन्न सामग्रियाँ रखी रहती थीं :—उदाहरणार्थ; रात्रि में लगाये जाने वाले अनुलेप, माला एवं मोम रखने का पात्र, सुगन्धित द्रवों के रखने की डिबिया,

---

१. "प्रासादवातायनसंस्थितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्।"
—रघुवंश, १४, ६।

२. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ८६।

३. "पुरसुन्दरीणां मुखैः गवाक्षाः व्याप्तान्तराः।" रघुवंश, ७, ११।

४. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ८६।

५. मृच्छकटिक, अङ्क १०।

६. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २१०।

७. महावग्ग, ३, ५, ९ (से० बु० ई०, १३, ३०४।)

मुखवास को शुद्ध करने वाले चूर्ण की डिबिया तथा पनडब्बा। पान के थूक को नीचे गिराने के लिये फर्श पर बर्तन (पतदग्रह) रखा होता था। दीवाल पर (हाथी-दाँत की) एक पट्टिका लगी होती थी, जिस पर वीणा, चित्र बनाने वाला फलक, पुस्तकें तथा फूलों की मालाएँ रखी जाती थीं। फर्श पर भी एक विछावन (आस्तरण) बिछा होता था। शतरञ्ज का फलक (आकर्षफलक) तथा चौपड़ खेलने वाला फलक (द्यूतफलक) भी यथास्थान रखे जाते थे।[1]

गृह-वाटिका—गृह-प्राङ्गण में **उद्यान** लगाया जाता था। इसमें तरह-तरह के वृक्ष लगाये जाते थे। यही कारण है कि कहीं-कहीं गृह-उद्यान को वृक्षवाटिका कहा गया है।[2] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि गृहनिर्माण की क्रिया के प्रारम्भ के पूर्व ही गृह-प्राङ्गण में वृक्षों का आरोपण कर लिया जाता था। शिल्पशास्त्रों में कहा गया है कि इसके विरुद्ध कार्य करने पर गृह-शोभा के नष्ट हो जाने की आशङ्का है। गृह-विन्यास के पूर्व ही समुचित स्थानों पर वृक्ष आरोपित किये जा सकते हैं।[3] गरुड़ पुराण में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष तथा शाल्मलि आदि वृक्षों का प्रासाद एवं नागरिक शालाओं के प्राङ्गण में आरोपण उचित एवं शुभ माना गया है।[4] वास्तुविद्या[5] तथा शिल्परत्न[6] में भी गृह-वाटिका में इनके लगाने का निर्देश मिलता

---

१. "बाह्ये च वासगृहे सुश्लक्षणमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात्, प्रतिशय्यिका च। तस्य शिरोभागे कूर्चस्थानम्। वेदिका च। तत्र रात्रिशेषमनुलेपनं माल्यं सिक्थकरण्डकम् सौगन्धिपुटिका मातुलुङ्गत्वचस्ताम्बूलानि च स्युः। भूमौ पतद्ग्रहः। नागदन्तावसक्ता वीणा, चित्रफलकं, वर्तिकासमुद्गको, यः कश्चित् पुस्तकः, कुरण्टकमालाश्च। नातिदूरे भूमौ वृत्तास्तरणम् समस्तकम्। आकर्षफलकं द्यूतफलकं च॥" —कामसूत्र, पृष्ठ ४३-४२, सूत्र ५—१३।

२. "तत्भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिका।" —कामसूत्र, पृष्ठ ४२, सूत्र ४।

३. "आदौ वृक्षाणि विन्यस्य पश्चात् गृहानि विन्यसेत्।
अन्यथा यदि कुर्यात् तद् गृहन्नैव शोभनम्॥"

विश्वकर्मप्रकाश, अध्याय १३, पृष्ठ २२२। द्रष्टव्य—दत्त बि० बि०, टा० प्लै० ऐं० इं०, पृष्ठ २४८।

४. "अश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधाः पूर्वादौ स्यादुदुम्बरः।
गृहस्य शोभनः प्रोक्तः ईशाने चैव शाल्मलिः॥
पूजितो विघ्नहारी च स्यात्प्रासादस्य गृहस्य च॥"

—गरुड़ पुराण, अध्याय ४६, श्लोक ३८।

५. वास्तुविद्या, अध्याय २, पंक्ति ६६-६९।

६. शिल्परत्न, अध्याय ३।

है। उद्यान के भीतर हरित शाक, औषधियों एवं वनस्पतियों के बीज आरोपित किये जाते थे।[1] वाटिका की शोभा को बढ़ाने के लिये विभिन्न प्रकार के पुष्पों का आरोपण किया जाता था। वात्स्यायन ने **मल्लिका, जाति, जपा, नवमालिका** तथा **कुरण्टक** आदि पुष्पों के आरोपण का उल्लेख किया है।[2] मनोविनोद के लिये भवनोद्यान के वृक्षों में पेंग मारने वाली झूला (प्रेंखादोला) लटकाई जाती थी।[3] बैठने के लिये स्थान-स्थान पर सुन्दर वेदी (स्थण्डिल) का निर्माण किया जाता था।[4] ग्रीष्म-ऋतु में विहार के लिये इसके भीतर केलिमन्दिर भी बनाये जाते थे, जिन्हें 'गूढ़मोहनगृह[5]' तथा 'समुद्रगृह'[6] कहा जाता था। गृह-उद्यान में छोटे-छोटे जलाशय भी बनाये जाते थे।[7] मेगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद की वाटिका के भीतर विद्यमान सरोवरों का उल्लेख किया है।[8]

कारुचतुष्ठय—गृह-सन्निवेश में निपुण कारीगरों को शिल्पी तथा कारु कहा जाता था। शिल्पशास्त्रों में इनका विभाजन चार वर्गों में किया गया है—(१) स्थपति, (२) सूत्रग्राही, (३) तक्षक तथा (४) वर्धकि।[9] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि ये कारीगर नगर-मापन का भी कार्य करते थे। यही कारण है कि पुर-निर्माण के विषय में इन कारीगरों के नाम उनकी योग्यताओं के सहित मिलते हैं।

---

१. "सर्वौषधीनां च वीजग्रहणं काले वापश्च।"
—कामसूत्र, पृष्ठ २२८, सूत्र २८।

२. "मल्लिका जातीकुरण्टक...जपागुल्मानन्यांश्च बहुपुष्पान्।"
—वही, पृष्ठ २२५, सूत्र ७।

३. "स्वास्तीर्णा प्रेंखादोला वृक्षवाटिकायां सप्रच्छाया...च सुकुसुमेति।"
—वही, पृष्ठ ४५, सूत्र १५।

४. "वृक्षवाटिकायां च स्थण्डिलानि मनोज्ञानि कारयेत्।"
—वही, पृष्ठ २२५, सूत्र ७।

५. कामसूत्र, पृष्ठ १७४, सूत्र १९।

६. रघुवंश, १९, ९।

७. "मध्ये कूपं वापीं दीर्घिकां वा खानयेत्।"
—कामसूत्र, पृष्ठ २२५, सूत्र ८।

८. मेक्रिण्डिल, एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ६६।

९. "स्थपतिः सूत्रग्राही तक्षकसंज्ञश्च वर्धकिः क्रमशः।
स्वोचितकर्मणि दक्षाः ग्राह्यास्ते कारवश्चतुर्धेति॥"
—मनुष्यालयचन्द्रिका, अध्याय १, श्लोक ११।

स्थपति वास्तुविद्या का पण्डित हुआ करता था। गणित की जानकारी, चित्रों के बनाने का अभ्यास तथा शास्त्रों में निपुणता आदि की उससे आशा की जाती थी।[१] तक्षक काटछाँट के कार्य में दक्ष था। वह छोटी-बड़ी आकृतियों को गढ़ना भली भाँति जानता था।[२] सूत्रग्राही स्थपति का दूसरा सहायक शिल्पकार था। वह नाप-जोख के कार्य में कुशल था।[३] वर्धकि काष्ठशिल्प का विशेषज्ञ था। इसके अतिरिक्त वह जोड़ने के कार्य में भी प्रवीण था।[४] ये चारो शिल्पकार साथ मिल कर कार्य करते थे। शिल्पशास्त्रों में कहा गया है कि इन चारो शिल्पकारों की सहायता के बिना गृहनिर्माण का सम्पादन दुष्कर है।[५]

मुहूर्त—गृह-निर्माण शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किया जाता था। पुराणों में गृह-सन्निवेश की क्रिया का श्रीगणेश करने के सम्बन्ध में शुभ एवं अशुभ मुहूर्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ मत्स्य पुराण के अनुसार चैत्र मास में गृह-कार्य के आरम्भ करने पर आपत्ति, वैशाख में गोधन, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में सद्भृत्यलाभ, भाद्र में विनाश, आश्विन में भार्यावियोग, कार्तिक में ऐश्वर्य, पौष में चौर-भय, माघ में गृह-दाह तथा फाल्गुन में पुत्रलाभ होता है।[६]

मानोपकरण—गृह-मापन के सम्बन्ध में नाप-जोख को प्रधानता दी जाती थी। शिल्पशास्त्रों की दृष्टि में सुव्यवस्थित पद्धति पर भवननिर्माण मान (नाप-

---

१. "गणितज्ञः पुराणज्ञः आनन्दात्माप्यलुब्धकः।
चित्रज्ञः सर्वदेशज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
अरोगी चाप्रमादी च सप्तव्यसनव्यर्वाजतः।
सुनामा दृढ़बन्धुश्च वास्तुविद्याब्धिपारगः॥"

—मनुष्यालयचन्द्रिका, अध्याय १, श्लोक १५-१६।

२. "तक्षणात्स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः।"

—वही, अध्याय १, श्लोक १८।

३. "सूत्रदण्डप्रमाणज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित्।"

—वही, अध्याय १, श्लोक १७।

४. "बृद्धिकृत वर्धकिः प्रोक्तः।"

—वही, अध्याय १।

५. "विना स्थपत्यादिचतुष्ठयेन गृहादि कर्तुं न च शक्यतेऽस्मात्।"

—वही, अध्याय १, श्लोक १४।

६. मत्स्य पुराण, अध्याय २५३, पृष्ठ २९२। (से० बु० हि०, खण्ड १७, भाग २)।

जोख) के अभाव में असम्भव है।[1] प्राचीन काल में शिल्पियों के द्वारा प्रयुक्त नाप-जोख (मानोपकरण) का उल्लेख मयमत में हुआ है। इसमें छोटा नाप परमाणु बताया गया है।[2] इससे बड़ा मान का उपकरण रथरेणु था। लम्बाई में यह परमाणु का आठगुना था। मान के अन्य उपकरण अपने परिमाण के सहित निम्न तालिका में उल्लिखित हैं:—

बालाग्र	=	८ रथरेणु	हस्त } किष्कु }	=	२ वितस्ति
लिक्ष	=	८ बालाग्र			
यूक	=	८ लिक्ष	प्राजापत्य	=	२५ अंगुल
यवा	=	८ यूक	धनुर्मुष्टि	=	२६ अंगुल
अंगुल	=	८ यवा	धनुर्दण्ड	=	४ हस्त
वितस्ति	=	१२ अंगुल	रज्जु	=	८ दण्ड

इन उपकरणों के द्वारा **ग्राम, पत्तन, नगर, निगम, खेट** तथा **वेश्म** आदि की नापजोख की जाती थी।[3]

प्रशस्त भूमि—शिल्पशास्त्रों में गृहसन्निवेश के अनुकूल तथा अननुकूल भूमि-लक्षणों का निर्देश मिलता है। शिल्परत्न के अनुसार यदि गिरि घर के पूर्व में पड़ता हो, तो ऐसी दशा में गृहनिर्माण निषिद्ध है क्योंकि सूर्योदय के प्रकाश का प्रवेश भवन में दुर्लभ हो जाता है।[4] भोज के अनुसार मध्य स्थान में भूमि का समुन्नत तथा ईशान एवं पूर्व की ओर निम्न होना अनिवार्य है।[5] इस निर्देश का सम्भावित आधार स्पष्ट है। ईशान में निम्न होने के कारण सूर्योदय के प्रकाश की प्राप्ति

---

१. **"सर्व्वेषामपि वास्तूनां मानेनैव विनिश्चयः।**
तस्मान्मानोपकरणं वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात्॥"

—मयमत, अध्याय ५, पंक्ति १।

२. **"परमाणुरिति प्रोक्तं योगिनां दृष्टिगोचरम्।"**

—वही, अध्याय ५, पंक्ति ४।

३. **"नगरं निगमं खेटं वेश्मादीन्यपि मानयेत्।"**

—मयमत, अध्याय ५, श्लोक ३-९।

४. **"प्राच्यो निषिद्धो हि गिरिः तच्छायाप्युदये रवेः।"**

—शिल्परत्न, अध्याय ३, पंक्ति ६५।

५. **"ईशानपूर्व्वप्लवनो मध्यस्थानसमुन्नतः।**
उत्तमः कीर्तितो देशो गृहाय नराय च॥"

—युक्तिकल्पतरु, अध्याय 'नगररचनाशास्त्र', पंक्ति १५६-५७।

अधिक हो सकती है। मध्य स्थान में उत्थापन के फलस्वरूप गृह-प्राङ्गण में जल-सञ्चय नहीं हो सकता।

कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में भूमि के चुनाव के विषय में शास्त्रीय विधान मिलते हैं। बृहत्संहिता के अनुसार सित, रक्त, पीत एवं कृष्णवर्णा भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिये प्रशस्त है।[१] मत्स्यपुराण में भी श्वेत भूमि ब्राह्मण के लिये, रक्त क्षत्रिय के लिये, पीत वैश्य के लिये तथा कृष्ण शूद्र के लिये उपयुक्त बताई गई है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि इस निर्देश का कारण विभिन्न जातियों के वस्त्रों का रङ्ग-विभेद था। शास्त्रों में वेश के सम्बन्ध में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्णवर्ण सङ्गत माना गया है।

मत्स्यपुराण में भूमि के चुनाव के विषय में एक अन्य शास्त्रीय विधान मिलता है। इसके अनुसार पहले डेढ़ गज लम्बा तथा डेढ़ गज चौड़ा एक गड्ढ़ा बनाकर उसे गोबर से भली-भाँति लीप दिया जाय। तदुपरान्त मिट्टी के एक कच्चे पात्र में नवनीत रख कर गृहनिर्माणकर्ता उसे गड्ढे में बैठा दे। मृद्भाण्ड पर चार दीपक चारो दिशाओं का अलग-अलग सामना करते हुए जलाये जायँ। यदि पूर्व दिशा में दीपक अधिक तेज जलता हो, तो वह भूमि ब्राह्मण के लिये उपयुक्त है। यदि पश्चिम दिशा वाले दीपक में अधिक प्रकाश हो तो भूमि क्षत्रिय के लिये अनुकूल है। उत्तर वाले दीपक के अधिक तेज रहने पर भूमि वैश्य के लिये तथा दक्षिण दीपक के अधिक प्रकाशित होने पर शूद्र के लिये प्रशस्त है। यदि समस्त दीपों की ज्योति समान हो तो भूमि सभी वर्णों के लिये उपयुक्त है।[३]

निन्दिता धरा—शिल्पशास्त्रों में त्याज्य भूमि (निन्दिता धरा) का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ मयमत के अनुसार ऐसी भूमि में गृह नहीं बनाना चहिये जिससे दधि, मधु, तैल, शव, मीन तथा पक्षी-तुल्य गन्ध निकलती हो (शवमीन-पक्षिगंधा), जहाँ कटीली झाड़ियाँ अधिक हों (कंटकिद्रुमसंयुता), जहाँ पर चण्डाल रहते हों (चण्डालवासगच्छाया) तथा जहाँ चर्मकारों के घर अधिक संख्या में बने हों (चर्मकारालयाश्रिता)।[४]

---

१. **"सितरक्तपीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते भूमिः।"**

—बृहत्संहिता, अध्याय ५२, पंक्ति ९४।

२. **मत्स्यपुराण, अध्याय २५३, पृष्ठ २९३।**

३. **वही—(से० बु० हि०, खण्ड १७, भाग २)।**

४. **मयमत, अध्याय ३।**

शास्त्रीय सामग्री की पुरातत्त्वसाक्ष्य से तुलना—प्राचीन भारतीय नगरों के अवशेषों पर पुरातत्त्वविभाग के द्वारा जो उत्खनन-कार्य सम्पन्न हुआ है, उससे गृह-निर्माण पर प्रकाश पड़ता है। तक्षशिला की खुदाई में यहाँ पर बने हुए एक प्राचीन राजप्रासाद के भग्नावशेषों को प्रकाश में लाया गया। इनके द्वारा साहित्यिक उल्लेखों को समझने में निम्न दृष्टियों से सहायता प्राप्त होती है:—(१) यह राजप्रासाद नगर के मध्य में स्थित था।[१] इस पुरातत्त्व-प्रमाण से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में नगर के बीचोबीच राजप्रासाद बनाने का जो उल्लेख किया गया है, वह सचमुच ही व्यवहार में लाया जाता था। (२) इस राजप्रासाद के खम्भों में प्रस्तरखण्डों का उपयोग किया गया था।[२] इस प्रमाण से बुद्धचरित के उस वर्णन का समर्थन हो जाता है, जिसके अनुसार कपिलवस्तु के राजमहल में पत्थरों के खम्भे लगे हुए थे। (३) तक्षशिला के राजप्रासाद में दो बहुत ही बड़े कमरे (हाल) बने थे। पहला बड़ा कमरा लगभग २७ फीट १० इञ्च लम्बा तथा २० फीट ५ इञ्च चौड़ा था। इसके निर्माण में प्रस्तरखण्डों का उपयोग किया गया था। यहाँ पर राजा के परमस्नेहभाजन तथा विश्वासपात्र व्यक्ति ही प्रवेश पा सकते थे। मार्शल ने इसकी तुलना मुगलों के 'दीवाने खास' से की है।[३] कक्ष्याओं के ठीक विभाजन का पता न लग पाने के कारण यह बताना दुष्कर है कि वह किस कक्ष्या में स्थित था। पर उसका संस्थान यही बताता है कि यह राजमहल के भीतर वाली किसी कक्ष्या (सम्भवतः तीसरी अथवा चौथी) में स्थित रहा होगा, क्योंकि अनेक कमरे जिनका कि राजा के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध था, इसके पास ही स्थित थे; उदाहरणार्थ—राजा का विश्रामगृह, स्नानगृह तथा दावत वाला कमरा।[४] दूसरे कमरे (हाल) में राजा का दरबार लगता था। इसमें वह सम्मानित लोगों से मिलता था। यहाँ पर राज्य के महत्त्वपूर्ण विषयों पर दरबारी विचार करते थे। इसकी तुलना मार्शल ने मुगलों के 'दीवाने आम' से की है।[५] इसके भग्नावशेष राजमहल के दक्षिणी दरवाज़े के पास ही कुछ दूर हटकर मिले हैं। इससे विदित होता है कि यह सम्भवतः पहली या दूसरी कक्ष्या में स्थित रहा होगा। इस प्रमाण से विदित होता है कि राजमहलों में (वाण के ग्रन्थों में उल्लिखित)

---

१. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ १७२।
२. वही, भाग १, पृष्ठ १७२।
३. वही, पृष्ठ १७२।
४. वही, पृष्ठ १७२।
५. वही, पृष्ठ १७३।

'भुक्तावस्थानमण्डप' (अर्थात् दीवाने खास) तथा 'आस्थानमण्डप' (अर्थात् दीवाने आम) के बनाने की परम्परा भारत में सातवीं शताब्दी के पहले से ही विद्यमान थी। (४) तक्षशिला के राजप्रासाद के दक्षिण-पश्चिम कोने पर सैनिकों के गृह तथा कुछ और छोटे-बड़े कमरे बने हुए थे, जिनमें सम्राट् के व्यक्तिगत कर्मचारी तथा सेवक आदि रहते थे।[१] इससे उन साहित्यिक उल्लेखों का समर्थन हो जाता है, जिनके अनुसार राजमहल के चहारदीवारी के भीतर रक्षा के निमित्त सैनिकों का रहना अनिवार्य है। (५) इस राजमहल तथा उसके उत्तरी नगर-द्वार के बीच १५००० वर्ग फीट के क्षेत्र में राज्य के प्रमुख पदाधिकारियों के भवन बने हुए थे।[२] इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि कौटिल्य के अनुसार भी राजप्रासाद के समीप ही पुरोहितों तथा मन्त्रियों के घरों का निर्माण आवश्यक था।

पुरातत्त्व के द्वारा नागरिक शालाओं के सम्बन्ध में मिलने वाली शास्त्रीय सामग्री का समर्थन निम्न दृष्टियों से हो जाता है:—(१) भवन सचमुच ही एक पंक्ति में बनाये जाते थे। नालन्दा की खुदाइयों में एक ताम्रलेख मिला है, जिससे विदित होता है कि इस नगर के घर एक ही पंक्ति में बनाये गये थे।[३] (२) घरों की नींव बहुत मज़बूत दी जाती थी। भीटा में जो घर बने हुए थे, उनकी नींव में कङ्कड़ तथा ईंटें डाली गयी थीं। तक्षशिला में १८ से लेकर २० फीट की गहराई तक घरों की नींव डाली गयी थी।[४] नागरिक शालाओं में पक्के फर्श बनाये जाते थे।[५] घरों के निर्माण में जिन ईंटों का प्रयोग किया गया था, वे काफी बड़ी होती थीं। १४ इञ्च लम्बी, ८ इञ्च चौड़ी तथा २½ इञ्च मोटी ईंटों के प्रयोग में लाये जाने का प्रमाण पुरातत्त्व के द्वारा मिलता है।[६] (३) भवनों के ऊपर लेप चढ़ाया जाता था। कौशाम्बी में ईंट की एक भीत के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिस पर बहुत ही गाढ़ा लेप (प्लैस्टर) चढ़ा हुआ मिलता है—(फलक २, चित्र २)। इस प्रकार की व्यवस्था मज़बूती लाने के लिये की जाती थी। (४) पुरातत्त्व ने नागरिक शालाओं में स्वच्छता की व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इस साक्ष्य के द्वारा इस विषय में जितना स्पष्ट ज्ञान होता है, उतना साहित्य से नहीं। उदाहरण

---

१. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ १७२।
२. वही, पृष्ठ १४१।
३. ए० इं०, २०, ४८।
४. आ० स० रि०, १९१२-१३, पृष्ठ ३३।
५. वही, पृष्ठ ३३।
६. वही, १९०५-०६, पृष्ठ ६१।

के लिये नालियों को लिया जा सकता है, जिनसे घर की गन्दगी बाहर बहाई जाती थी। हस्तिनापुर में हाल में जो खुदाइयाँ हुई हैं, उनमें ईंटों की बनी हुई नालियाँ निकली हैं।[1] इसी प्रकार कौशाम्बी के उत्खनन में घर के अन्दर बनी हुई एक खुली नाली मिली है, जिसमें काफी बड़ी ईंटें लगायी गई हैं—(फलक ३, चित्र ३)। ढकी हुई नाली के भी उदाहरण मिलते हैं—(फलक ४, चित्र ४)। कभी-कभी एक ही भवन में कई नालियाँ बनी होती थीं। इनका मुँह बहुधा एक-दूसरे से मिला रहता था। मुँह के सामने एक गड्ढा रहता था, जिसमें सभी नालियों का गन्दा पानी एक ही स्थान पर एकत्र हो जाता था। इस प्रकार की नालियों के उदाहरण कौशाम्बी-उत्खनन में प्राप्त हुए हैं—(फलक ५, चित्र ५)। कभी-कभी पकी मिट्टी के पाइप की नाली (ड्रेन ऑफ पॉटरी पाइप) भी बनाई जाती थी। आकार में यह गोल होती थी। इसमें मिट्टी की परतें काफी मोटी तथा मज़बूत होती थीं—(फलक ६, चित्र ६)। इस प्रकार की नाली के बनाने में कई लाभ थे। यह चारो ओर से बन्द रहती थी, जिससे गन्दगी के फैलने का कोई भय नहीं रहता था। इसके बनाने में कम व्यय पड़ता रहा होगा।

स्वच्छता की व्यवस्था के लिये ये लोग कुछ और भी उपाय करते थे। मिट्टी के बड़े घड़ों को ले लिया जाता था। इनके नीचे की पेंदी में छेद बना लिये जाते थे और ये घड़े एक के ऊपर एक रख दिये जाते थे। सबसे निचले घड़े के नीचे ईंटें रखी रहतीं थीं। सबसे ऊपरी घड़े में मल तथा घर की गन्दगी छोड़ी जाती थी। जब घड़े भर जाते थे, तो ऊपर का मुँह बन्द कर दिया जाता था। गन्दगी अन्दर ही अन्दर सूखती रहती थी। इन घड़ों को 'सोकेज जार्स' कहा गया है। ऐसे घड़े तक्षशिला,[2] हस्तिनापुर[3] तथा कौशाम्बी की खुदाइयों में मिले हैं। कौशाम्बी से मिले हुए 'सोकेज जार्स' में घड़ों की संख्या ३ है। सबसे निचला घड़ा ईंटों के ऊपर रखा गया है—(फलक ७, चित्र ७)। कौशाम्बी में 'सोकेज जार्स' कभी-कभी घर के पृष्ठ भाग में रखे हुए मिलते हैं—(फलक ८, चित्र ८)। इस प्रकार की व्यवस्था और भी जगहों में प्रचलित रही होगी, क्योंकि साहित्य में भी गृह के पृष्ठ भाग में मलनिर्हरण के लिये उपाय बनाने का निर्देश किया गया है—(गृहपृष्ठे सदा वीथिर्मलनिर्हरणस्थलम्)।[4] राज्य की

---

१. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या १०-११, पृष्ठ २६।
२. मार्शल, तक्सिला, भाग १, पृष्ठ ९५।
३. ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या १०-११, पृष्ठ २५।
४. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ५३४।

ओर से भी ऐसे घड़े सड़कों के किनारे तथा गलियों में एवं चत्वरों के पास रखे जाते थे।[१]

स्वच्छता-व्यवस्था के लिये 'रिङ्गवेल' भी बनाये जाते थे। इसमें लगभग तीन फीट व्यास की मोटी परतों की चकरियाँ एक के ऊपर एक रख दी जाती थीं। हर्षचरित से विदित होता है कि चकरी को 'गण्ड', कूप को 'कुसूल' तथा चकरियों से बने हुए कूप को 'गण्डकुसूल' कहा जाता था।[२] रिङ्गवेल तक्षशिला, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा तथा राजघाट की खुदाइयों में काफी संख्या में मिलते हैं। इससे विदित होता है कि इनके बनाने की प्रथा सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रचलित थी। रिङ्गवेल में चकरियों की संख्या अधिक हुआ करती थी। हस्तिनापुर के एक रिङ्गवेल में चकरियों की संख्या २५ तथा दूसरी में ४७ थी।[३] कौशाम्बी में जो रिङ्गवेल मिले हैं, उनमें चकरियों की संख्या २५ तक है—(फलक ९, चित्र ९)। कौशाम्बी के एक प्राचीन भवन के खण्डहर में एक ही जगह तीन रिङ्गवेल मिले हैं। इस प्रकार के निर्माण का एक विशेष कारण रहा होगा। पहले एक ही रिङ्गवेल को प्रयोग में लाया गया होगा। भर जाने के पश्चात् उसके मुँह को ढँक कर उसे सूखने के निमित्त छोड़ दिया गया होगा। इसी प्रकार एक के उपरान्त दूसरे के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी—(फलक १०, चित्र १०)।

---

१. तक्सिला, मार्शल, भाग १, पृष्ठ ९४।

२. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १८४।
गण्डकुसूल के लिए द्रष्टव्य—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १५०-१५१।

३. एेंशेण्ट इण्डिया, संख्या ११-१२, पृष्ठ २५।

अध्याय ११

प्राचीन भारत में नगर-शासन

नगर-प्रमुख—उपलब्ध साधनों से विदित होता है कि प्राचीन भारत में नगर-शासन राज्य की ओर से नियुक्त पदाधिकारियों तथा स्थानीय सभाओं, समितियों एवं समुदायों के द्वारा सम्पादित होता था। नगर के प्रमुख अधिकारियों को कौटिल्य ने **'नागरक'** कहा है। उसका कार्य नगर में होने वाले कार्यों का पर्यवेक्षण[१] था। उसे सरोवरों, राजमार्गों, गुप्त रास्तों, वप्र, प्राकार तथा परिखा आदि का प्रतिदिन निरीक्षण करना पड़ता था।[२] वह दूसरों की खोई अथवा उनके द्वारा भूली या छोड़ दी गई वस्तुओं की रक्षा करता था।[३] वह अपने उत्तरदायित्व को निभाने में किसी प्रकार की असावधानी नहीं दिखाता था।[४] कौटिल्य के 'नागरक' की पहचान अशोककालीन कलिङ्ग-लेख के **'नगलक'** के साथ की जा सकती है।[५] नगर-प्रमुख की नियुक्ति की परम्परा भारतवर्ष में मौर्य-काल के उपरान्त भी विद्यमान थी। जातकों में पुर के प्रमुख राजपुरुष को **'नगरगुत्तिक'** कहा गया है। नाम से भी स्पष्ट है कि उसका कार्य नगर की रक्षा करना था। एक जातक में वर्णन मिलता है कि किसी समय बोधिसत्व काशी के एक अछूत कुल में उत्पन्न हुए। वहाँ का सम्राट् उनकी योग्यता से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने उनके गले में माला पहना कर उसे 'नगरगुत्तिक' नियुक्त कर दिया।[६] सम्भव है कि उस समय 'नगरगुत्तिक' के गले में माला पहनाने की प्रथा प्रचलित रही हो।[७] उना के

---

१. "नागरको नगरं चिन्तयेत्।"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।

२. "नित्यमुदकस्थानमार्गभूमिच्छन्नपथवप्रप्राकाररक्षोवक्षणम्।"

—वही, प्रकरण ५६।

३. वही, प्रकरण ५६।

४. वही, प्रकरण ५६।

५. हेमचन्द्र राय चौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ३१७।

६. जातक, ३, २०।

७. मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ४५।

अभिलेख में नगर-प्रमुख को **'द्राङ्गिक'** कहा गया है।[1] राजपूत-अभिलेखों में उसे **'पत्तनाधिकार पुरुष'** कहा गया है।[2]

मनुस्मृति में नगर के प्रमुख अधिकारी को **'नगरसर्वार्थचिन्तक'** अर्थात् पुर में होने वाली प्रत्येक घटना की देखरेख करने वाला कहा गया है।[3] जूनागढ़ के अभिलेख में चक्रपालित का नामोल्लेख हुआ है, जो सौराष्ट्र पुर गिरिनगर का स्कन्द-गुप्त-कालीन प्रमुख अधिकारी था। इस लेख के अनुसार उसके दो प्रधान कर्तव्य थे—(१) नगर की रक्षा[4] (२) दुष्टों का दमन।[5] इस पदाधिकारी से आशा की जाती थी कि उसका व्यवहार पुरवासियों के साथ सहानुभूति एवं आत्मीयता से परिपूर्ण हो। गिरिनगर का प्रधान अधिकारी चक्रपालित यहाँ के नागरिकों को पुत्र के समान मानता था तथा उनके दोषों को दूर करने की चेष्टा करता था।[6] इस अधिकारी से सार्वजनिक कार्यों की भी आशा की जाती थी, उदाहरणार्थ चक्र-पालित ने नागरिकों के लाभ के लिये सुदर्शनकासार का जीर्णोद्धार किया था। इस पद पर प्रायः बहुत योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी। जूनागढ़ के लेख के अनुसार चक्रपालित सब प्रकार से योग्य था तथा उसमें सम्पूर्ण वाञ्छनीय गुण विद्यमान थे।[7] वह क्षमा, प्रभुत्व, विनय, नय, शौर्य, दाक्ष्य, दान तथा दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का केन्द्रबिन्दु था।[8]

राजपुरुष—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर-शासन-सम्बन्धी कतिपय राज-पुरुषों के नाम मिलते हैं; उदाहरणार्थ **पण्याध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिका-ध्यक्ष**, तथा **नावाध्यक्ष**। **पण्याध्यक्ष** का प्रधान कर्तव्य नगर में बेंची जानेवाली

---

१. रमाशङ्कर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, ३४३।

२. वही, पृष्ठ ३४३।

३. "नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।"
—मनुस्मृति, अध्याय ७, पंक्ति २४१।

४. "यः सन्नियुक्तो नगरस्य रक्षाम्।"
—फ्लीट, का० इं० इं०, ३, पृष्ठ ५९।

५. "अस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टान्"—वही, ३, पृष्ठ ५९।

६. "यो लालयामास च पौरवर्गान् स्वस्येव पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान्"—
वही, ३, पृष्ठ ५९।

७. "स एव कार्त्स्येन गुणान्वितानाम् बभूव नृणामुपमानभूतः"—वही,
३, पृष्ठ ५९।

८. वही, ३, पृष्ठ ५९।

वस्तुओं का मूल्यनिर्धारण था।[1] वह यह देखता था कि नगर के व्यापारी कहीं अनुचित प्रकार से अधिक लाभ उठाकर खरीदने वाले को ठग तो नहीं रहे हैं।[2] उसकी यह भी चेष्टा रहती थी कि जो वस्तु बेंची जाय, वह शुद्ध हो तथा उसमें किसी प्रकार की मिलावट न हो।[3] **सुराध्यक्ष** का प्रधान कर्तव्य राजकीय नियमों के अनुसार मदिरा के क्रय-विक्रय तथा प्रयोग का सञ्चालन था। वह देखता था कि सुरालय (पानागार) में किसी प्रकार का झगड़ा तथा बेईमानी न होने पाये।[4] **सूनाध्यक्ष** इस बात को देखता था कि मांस बेचने वाले हड्डियों को निकाल कर स्वच्छ मांस बेचते हैं अथवा नहीं।[5] यदि कोई व्यक्ति हड्डियों के साथ मांस बेंचता था, तो उसे दण्ड दिया जाता था।[6] यदि मांस के तौलने में कोई कमी करता था, तो उसे भी अर्थदण्ड दिया जाता था।[7] वह यह भी देखता था कि कोई कसाई बछड़ा, बैल या दुधार गाय को न काटे।[8]

गणिकाध्यक्ष का कर्तव्य गणिकाओं की आय का निर्धारण करना तथा उस पर कर लगाना था।[9] अनुचित व्यवहार के दोषी पाने पर वह गणिका तथा उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले को दण्ड देता था। गणिका की इच्छा के विरुद्ध उसके साथ व्यवहार की इच्छा रखने वाले कामुक व्यक्ति को गणिकाध्यक्ष कठिन दण्ड देता था।[10] **नावाध्यक्ष** की नियुक्ति बन्दरगाहों में की जाती थी। उसका कर्तव्य विदेशी यात्रियों से शुल्क वसूल करना था।[11] राजकीय जलपोत से उतरने वाले नावाध्यक्ष को यात्रा वेतन देते थे।[12] प्रमाणपत्र के प्रस्तुत करने पर ही विदेशी वणिकों

---

१. अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।
२. "स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्"—वही, प्रकरण ३४।
३. वही, प्रकरण ४२।
४. वही, प्रकरण ४२।
५. "मृगपशूनामनस्थिमांसं सद्योहतं विक्रणीरन्"—वही, प्रकरण ४३।
६. "अस्थिमतः प्रतिपातं दद्युः"—वही, प्रकरण ४३।
७. "तुलाहीने हीनाष्टगुणम्"—वही, प्रकरण ४३।
८. "वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः"—वही, प्रकरण ४३।
९. "भोगं दायमायव्ययमायतिं च गणिकायाः"—वही, प्रकरण ४४।
१०. "अकामायाः कुमार्याः वा साहसो उत्तमो दण्डः"—वही, प्रकरण ४४।
११. "पत्तनानुवृत्तं शुल्कभागं वणिजो दद्युः"—वही, प्रकरण ४५।
१२. "यात्रावेतनं राजनौभिः सपतन्तः"—वही, प्रकरण ३५।

को नगर-प्रवेश की आज्ञा मिलती थी।[१] जहाज से उतरने वाले जो यात्री व्यापार तथा बन्दरगाह के नियमों को भङ्ग करते थे, उन्हें यह अधिकारी दण्ड देता था।[२] सन्दिग्ध आचरण वाले यात्री इसके द्वारा बन्दी बनाये जाते थे।[३]

जनसंख्या—बड़े नगरों में जनसंख्या का विवरण सुरक्षित रहता था।[१] इस प्रथा के विद्यमान होने का प्राचीनतम प्रमाण मौर्य-काल में मिलता है। मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र में प्रजा के जीवन-मरण का व्यौरा प्रस्तुत करने वाले पदाधिकारियों के होने का उल्लेख किया है।[४] वे सर्वदा इस बात पर सतर्क रहते थे कि जन्म एवं मृत्यु का कोई लेखा सरकारी खाते में छूटने न पाये।[५] कौटिल्य ने जनसंख्या-कार्यालय का उल्लेख किया है। उसने दो राजपुरुषों का उल्लेख भी किया है, जो जनगणना करते थे—(१) गोप तथा (२) स्थानिक। गोप नगर के दस, बीस अथवा चालीस कुलों के सदस्यों की गणना करता था।[६] वह अपने अधिकार-क्षेत्र के प्रत्येक परिवार के पुरुषों एवं स्त्रियों की जाति, गोत्र, नाम एवं व्यवसाय का व्यौरा अपने खाते में दर्ज करता था।[७] स्थानिक गोप से बड़ा पदाधिकारी था। उसके खाते में नगर के चारो भागों के निवासियों के नाम उल्लिखित रहते थे।[८] इन अधिकारियों को नगर के बाहर से आने वाले व्यक्तियों का भी नाम एवं पता सुरक्षित रखना पड़ता था। इसके लिये धर्मशालाओं के सञ्चालकों को रुकने वाले यात्रियों का नाम तथा पता जनसंख्या-अधिकारियों के पास भेजना पड़ता था।[९] नागरिकों को भी अपने अतिथियों की सूचना उन्हें देनी होती थी।[१०] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण नगर में बाहरी आदमियों की संख्या तथा उनके सम्बन्ध में पूरा परिचय मिल जाता था।

---

१. "कृतप्रवेशाः पारविषयिकाः सार्थप्रमाणा वा विशेयुः"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ४५।

२. "पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च"—वही, प्रकरण ४५।

३. वही, प्रकरण ४५।

४. मेक्रिण्डिल, खण्ड २७।

५. वही, खण्ड २७।

६. "दशकुलीं गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा। स तस्यां स्त्रीपुरुषाणाम् जातिगोत्रनामकर्मभिः जङ्घाग्रमायव्ययो विद्यात्"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।

७. वही, प्रकरण ५६।

८. "एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिंतयेत्"—वही, प्रकरण ५६।

९. वही, प्रकरण ५६।

१०. वही, प्रकरण ५६।

नगरपालिका के कर्तव्य—नगर-शासन के लिये एक सभा होती थी, जिसे प्राचीन ग्रन्थों में 'पौर' कहा गया है। खारवेल के लेख[1], दिव्यावदान[2], रामायण[3] तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों में 'पौर' का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे पुर-सभा का बोध होता है। यह सभा प्रधानतः सामूहिक लाभ की व्यवस्था करती थी। बृहस्पति के अनुसार यह नगर में 'शान्तिक कर्म' अर्थात् शान्ति की व्यवस्था करती थी। इसके अतिरिक्त 'पौष्टिक कर्म' अर्थात् नागरिकों के हित में कार्य करना इसका कर्त्तव्य समझा जाता था।[4] नगर-सभा के अन्य सार्वजनिक कार्यों में सभागृह, सरोवर, मन्दिर एवं विश्रामशाला का निर्माण तथा अनाथ एवं दरिद्रों की सहायता उल्लेखनीय है।[5] विदेशी लेखक मेगस्थनीज़ ने भी नगर-सभा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र के शासन के लिये एक सभा थी, जिसमें ६ विभाग थे तथा प्रत्येक विभाग में ५ सदस्य थे। पृथक् उत्तरदायित्व के अतिरिक्त इन विभागों के कतिपय सामूहिक उत्तरदायित्व भी थे, उदाहरणार्थ जनसाधारण के लाभ के लिये कार्य, सार्वजनिक गृहों का जीर्णोद्धार, बाजारों में मूल्य-नियन्त्रण, बन्दरगाहों का पर्यवेक्षण तथा मन्दिरों की देखभाल।[6]

जहाँ तक पृथक् उत्तरदायित्व का प्रश्न है, पहला विभाग औद्योगिक कला तथा दूसरा विदेशियों की सुविधा की देखरेख करता था। तीसरा प्रजा के जन्म एवं मरण का विवरण रखता था तथा चौथा वाणिज्य एवं व्यापार का सञ्चालन करता था। पाँचवाँ व्यावसायिक विकास का पर्यवेक्षण तथा छठाँ बाज़ारों में नाप-तौल की जाँच करता था।[7] नगर-सभा का एक कार्यालय होता था, जहाँ इसकी बैठक होती थी। प्रयाग के सन्निकट भीटा नामक स्थान में इस प्रकार के एक कार्यालय के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं।[8] नालन्दा से एक मुद्रा मिली है, जिस पर 'पुरिका'

---

१. ए० इं०, २०, ७१।
२. दिव्यावदान, पृष्ठ ४१०।
३. रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १११, श्लोक १९।
४. बृहस्पतिस्मृति, ६, ३२।
५. "सभाप्रपादेवतटाकारामसंस्कृतिः।
तथानाथदरिद्राणां संस्कारो यजनक्रिया।।"
—बृहस्पति, वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२५।
६. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, खण्ड २६।
७. वही, खण्ड २६। ८. आ० स० रि०, १९११-१२, पृष्ठ ४७।

शब्द उत्कीर्ण मिलता है।[1] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नगर-सभा की एक मुद्रा भी होती थी, जिससे इस सभा के विशिष्ट लेख मुद्रित किये जाते थे।

न्याय-व्यवस्था—नगरों में न्याय-शासन का कार्य प्रधानतः राजकीय न्यायालयों द्वारा किया जाता था। मृच्छकटिक में नगर के न्यायालय को 'अधिकरणमण्डप' तथा न्यायाधीश को 'अधिकरणिक' कहा गया है।[2] अशोककालीन धौली के शिलालेख में नगर-न्यायाधीश को 'नगलवियोहालक' (नगर-व्यवहारक) कहा गया है।[3] इसकी तुलना अर्थशास्त्र के 'पौर व्यावहारिक' से की जा सकती है।[4] नगर-न्यायाधीश के पद पर योग्य व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। मृच्छकटिक में अधिकरणिक (नगर-न्यायाधीश) की योग्यता के विषय में कहा गया है कि उसे शास्त्रज्ञ, छलकपट को जानने में कुशल, वाग्मी, क्रोधरहित, शत्रु एवं मित्र दोनों के लिये समान, चरित्र देखने के अनन्तर ही उत्तर देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों के लिये दण्ड का दाता, धार्मिक, निर्लोभी, वास्तविक रहस्य का प्रकाशक, दूसरों के हृदय को जानने में कुशल तथा राजा के क्रोध का निवारक होना चाहिए।[5] अधिकरणिक की सहायता के लिये कुछ और कर्मचारी भी होते थे; उदाहरणार्थ, मन्त्रणा प्रदान करने वाले कर्मचारी, दूत, गुप्तचर तथा मुहर्रिर आदि। इनसे युक्त उज्जयिनी के न्यायालय के गम्भीर दृश्य को देखकर चारुदत्त सहसा घबड़ा उठता है। उसे लगता है, जैसे अधिकरण उसे काटने दौड़ रहा हो। वह कहता है कि ओह! यह राजकरण (कचहरी) तो मुझे हिंसक जीवों से युक्त समुद्र सा लग रहा है। इसमें बैठे हुए चिन्तामग्न परामर्शदाता जलतुल्य तथा दूत लहरों एवं शङ्खों के समान प्रतीत होते हैं। इधर-उधर विचरण करते हुए गुप्तचर नाक तथा घड़ियाल के समान लग रहे हैं। हाथी तथा घोड़ों के रूप में यह भयङ्कर जल-जन्तुओं से व्याप्त है। शब्द करने वाले कर्मचारी बगुले

---

१. ए० इं०, २०, ७१।
२. मृच्छकटिक, अङ्क ९।
३. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१।
४. पो० हि० एं० इं०, पृष्ठ ३७१।
५. "शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन—
स्तुल्योमित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
क्लीवान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥"

—मृच्छकटिक, अङ्क ९।

आदि हैं। लेखक भी विषैले सर्पों के समान बैठे हुए हैं। इसका तट नीति से जर्जरित होता हुआ प्रतीत हो रहा है।[१] अधिकरण में नगर के मुकदमों के अतिरिक्त वे मुकदमें भी पुनः सुनवाई के लिये आते थे, जिनमें ग्राम के न्यायालय के द्वारा एक बार फैसला दिया जा चुका होता था। नगर-न्यायालय के निर्णय को दुहराने का अधिकार केवल राजा को ही था।[२]

मृच्छकटिक में नगर-न्यायालयों की कार्य-पद्धति का बहुत अच्छा वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि व्यवहार-मण्डप के मुख्यद्वार के सामने एक दौवारिक नियुक्त रहता था। दण्डनायक की आज्ञा पाने पर वह घोषणा करता था कि कौन-कौन से लोग 'कार्यार्थी' अर्थात् मुकदमा दायर करना चाहते हैं।[३] इस घोषणा के उपरान्त वादी (अर्थिन्) न्यायालय में अपना वक्तव्य देता था। न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रतिवादी (प्रत्यर्थिन्) निश्चित तिथि पर उपस्थित होता था। प्रतिवादी के उत्तर के पूर्व वादी को अपने कथन में परिवर्तन का पूर्ण अधिकार दिया जाता था पर प्रतिवादी के उत्तर के पश्चात् उसे इसके लिये अनुमति नहीं मिलती थी।[४] न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। बिना प्रमाण का निर्णय ठीक नहीं माना जाता था।[५] इसके लिए गवाही ली जाती थी। सभी प्रकार के मनुष्यों की गवाही ठीक नहीं मानी जाती थी। केवल तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, ऋजु, पुत्रवान्, धर्मप्रधान तथा धनिक व्यक्तियों का प्रमाण ठीक माना जाता था।[६] स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी, उन्मत्त तथा लूले एवं लँगड़े प्रमाण

---

१. "चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलम्
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंसाश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदम्
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥"
—मृच्छकटिक, अङ्क ९, १४।

२. "ग्रामे दृष्टः पुरे याति पुरे दृष्टस्तु राजनि"—यौली, नारद, १, ११ (पादटिप्पणी)।

३. मृच्छकटिक, अङ्क ९।

४. नारद, २, ७।

५. वही, १, १४।

६. "तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः॥"—याज्ञवल्क्य, २, ६८।

के अयोग्य माने जाते थे।[१] गवाह से सत्य की आशा की जाती थी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि प्रमाण देने वाला व्यक्ति यदि झूठे बयान में पकड़ा जाता था, तो उसे अङ्गच्छेद की सज़ा दी जाती थी।[२] लोगों का विश्वास था कि गवाही में सत्य बोलने वाला साक्षी मरने पर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है और इस लोक में उत्तम कीर्ति पाता है। ब्रह्मादि देवता भी सत्यवाणी से उसका सत्कार करते हैं।[३]

नगर-न्यायालय में शपथ-ग्रहण की भी प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण को सत्य, वैश्य को गऊ, बीज एवं सुवर्ण तथा शूद्र को सब पापों का शपथ लेना पड़ता था।[४] झूठा शपथ लेने वाला निन्दा तथा धिक्कार का भाजन बनता था। मृच्छकटिक में अधिकरणिक झूठा शपथ लेने वाले शकार को फटकारता है कि अरे नीच! तूँ वेदों की शपथ ले रहा है, तब भी तेरी जिह्वा कट कर नहीं गिरती? तू मध्याह्न में सूर्य को देख रहा है तो भी तेरी दृष्टि विचलित नहीं हुई? प्रदीप्त अग्नि में तू हाथ दे रहा है, परन्तु तेरा हाथ दग्ध नहीं हुआ? तू निर्दोष चारुदत्त को चरित्र-भ्रष्ट बता रहा है, तब भी तेरे शरीर का पृथ्वी हरण नहीं कर रही है?[५] चार प्रकार की दिव्य परीक्षाएँ प्रचलित थीं—(१) विष-परीक्षा, (२) जल-परीक्षा, (३) तुला-परीक्षा तथा (४) अग्नि-परीक्षा। मृच्छकटिक में चारुदत्त इन चारो दिव्य परीक्षाओं के प्रयोग के लिये प्रस्तुत दिखाया गया है।[६]

नगर-न्यायालयों में निर्णय देने के लिये मुकदमों की काफी छानबीन की जाती थी, ताकि व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो जाय। इस सम्बन्ध में लिच्छवियों के गणराज्य की राजधानी वैशाली में एक बहुत बड़ी विशेषता थी।

---

१. याज्ञवल्क्य, २, ६८।

२. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज, खण्ड २७।

३. "सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमाम् कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥"—मनुस्मृति, ८, ८१।

४. "सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥"—वही, ८, ११३।

५. "वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि, न च ते जिह्वा निपतिता
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता।
दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं जलयसि, न ते देहं हरति भूः॥"
—मृच्छकटिक, अङ्क ९, २१।

६. "विषसलिलतुलाग्निप्रार्थितं मे विचारे।"—वही, अङ्क ९।

वहाँ पर एक ही मुकदमें को एक दूसरे से बड़े नगर के सात न्यायालय क्रमशः देखते थे। यदि उनमें सभी अभियुक्त को अपराधी पाते थे, तभी उसे दण्ड दिया जाता था।[१] पर इनमें से एक भी उसे यदि निर्दोष मानता था, तो वह अपराधमुक्त घोषित किया जाता था।[२]

यद्यपि न्यायाधीश अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र था, तथापि राजकीय प्रभाव में आ जाने के कारण पक्षपातरहित निर्णय देना कभी-कभी उसे दुष्कर हो जाता था। मृच्छकटिक में प्रतिकूल निर्णय की आशङ्का रखने वाला राज्यश्याल शकार नगर-न्यायाधीश को राजा से पदच्युत कराने की धमकी देता है।[३] इस कारण वह दण्डनायक निर्दोष चारुदत्त को ही दण्ड देता है। सच्चे न्याय का इस प्रकार गला घुट जाने पर लोग उसे धिक्कारते हैं।[४] स्वयं चारुदत्त उसे फटकार लगाता हुआ कहता है कि ऐसा न्यायाधीश काक को श्वेत बता सकता है, न्याय को दूषित कर सकता है तथा सहस्रों निर्दोष व्यक्तियों की हत्या कर सकता है।[५]

अभियुक्त को मृत्युदण्ड प्रायः नगरों में ही दिया जाता था, क्योंकि इसके लिये वहीं पर व्यवस्था की जाती थी। मृत्युदण्ड के लिये जो तैयारियाँ की जाती थीं, उसका बहुत सुन्दर वर्णन मृच्छकटिक में मिलता है। इसके अनुसार चारुदत्त (जिसको शूली पर चढ़ाना था) को चण्डालों ने कनैल पुष्प की एक माला पहना दी[६] तथा उसके सारे शरीर में लाल चन्दन के थोप लगाकर एवं काले तिलों के चूर्ण से व्याप्त कर बलि के पशु के समान बना दिया।[७] इस अवस्था में चारुदत्त को बध्य-स्थान की ओर ले जाते देखकर नागरिक आँखों में आँसू भर कर चिल्ला रहे थे कि तुम स्वर्ग प्राप्त करो।[८] प्रासादों के झरोखों से स्त्रियाँ अपने मुख को निकाल कर

---

१. जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ ४९।
२. वही, पृष्ठ ४९।
३. मृच्छकटिक, अङ्क ९।
४. "दुर्ब्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत् तत्वं निरीक्षते।"—वही, अङ्क ९।
५. "ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यते च हतानि च॥"—वही, अङ्क ९, ४१।
६. "दत्तकरवीरदामागृहीतआवाभ्यांबध्यपुरुषाभ्याम्॥"—वही, अङ्क १०।
७. "सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशुकृतः॥"—वही, अङ्क १०।
८. "स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः।"—वही, अङ्क १०।

उसे देखती हुई 'हा चारुदत्त' इस प्रकार विलापपूर्वक परनालों के समान आँखों से आँसू बरसा रही थीं। कभी-कभी इस प्रकार के अपराधी के साथ उदारता भी दिखाई जाती थी।[१] अशोक ने ऐसे अपराधियों को आत्मशुद्धि के लिये तीन दिन का विश्राम प्रदान किया था।[२] ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड से कभी-कभी छूट दी जाती थी। मनुस्मृति में कहा गया कि ब्राह्मण के वध से बढ़कर इस संसार में कोई पाप नहीं है। राजा को ब्राह्मण का वध मन से भी नहीं सोचना चाहिये।[३] पापी से पापी ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये। उसे समस्त धन के साथ केवल देश से बाहर निकाल देना चाहिये।[४] मृच्छकटिक में उज्जयिनी का न्यायाधीश मनु को प्रमाण मान कर अभियुक्त चारुदत्त को पहले देशनिष्कासन का दण्ड निर्धारित करता है।[५]

स्थानीय समितियों के कर्तव्य—इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि नगर के न्यायालयों में बहुधा बड़े मुकदमें ही निर्णय के लिये आते थे। छोटे मुकदमों का फैसला प्रायः स्थानीय समितियों एवं समुदायों द्वारा किया जाता था। इनमें तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) श्रेणी, (२) पूग तथा (३) कुल। इन तीनों समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में निर्णय देने का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था।[६] इन समितियों के प्रधान ही निर्णय देने का काम करते थे।[७] परिच्छेदान्तर में इस बात का उल्लेख किया गया है कि व्यावसायिक समिति को 'श्रेणी' कहा

---

१. "एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः।।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा वाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति।।"
—मृच्छकटिक, अङ्क १०।

२. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ६०।

३. "न ब्राह्मणवधात् भूयान्धर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्।।"—मनु, ८, ३८१।

४. "न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपिस्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिर्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्।।"—वही, ८, ३८०।

५. "अयं हि पातकी विप्रो न बध्यो मनुरब्रवीत।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।"—मृच्छकटिक, अङ्क ९, ३९।

६. "नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।।"—याज्ञवल्क्य, २, ३०।

७. "कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारकाः।"—बृहस्पतिस्मृति, पृष्ठ १६, पंक्ति १८५ (गायकवाड़-प्रकाशन)। द्रष्टव्य—मेरा लेख, सिविक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, उत्तर भारती, पृष्ठ ४५, जिल्द १०, संख्या १, १९६४।

जाता था तथा इस समिति के कुछ रीतिरिवाज़ थे, जिन्हें स्मृतियों में श्रेणीधर्म कहा गया है। यह समिति श्रेणी-धर्म के अनुसार अपने सदस्यों के झगड़े का निपटारा करती थी। पूग, नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समितियों को कहा जाता था।[1] कुल, सम्भवतः एक ही परिवार के सदस्यों के समूह को कहा जाता था। श्रेणी के समान पूग तथा कुल के भी निश्चित नियम थे, जिन्हें क्रमशः पूगधर्म तथा कुलधर्म कहा जाता था। इन विभिन्न धर्मों को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी।[2] इन्हीं के अनुसार ये समितियाँ अपने सदस्यों के झगड़ों में फैसला देती थीं। यदि कुल, जाति तथा श्रेणी के सदस्य अपने धर्म का पालन नहीं करते थे, तो राज्य उन्हें दण्ड देता था।[3]

स्वच्छता-व्यवस्था—नागरिकों के स्वास्थ्य की परीक्षा के लिये नगर के भीतर स्वच्छता की व्यवस्था की जाती थी। प्रधान राजमार्गों पर थूकना, मूत्रत्याग तथा पुरीषोत्सर्ग अपराध माना जाता था।[4] कौटिल्य ने नगर के भीतर सफाई को बहुत अधिक महत्ता प्रदान की है। उनका मत है कि यदि कोई व्यक्ति राजमार्ग पर गन्दगी इकट्ठा करने का प्रयत्न करे, तो उससे पण का आठवाँ भाग दण्ड के रूप में वसूल किया जाय।[5] सड़क पर मरे हुए मनुष्य अथवा जानवर का शरीर फेंकने वाले को कठोर दण्ड का भागी बनना पड़ता था।[6] अधिक सफाई की दृष्टि से मुर्दे नगर में उसी मार्ग से ले जाए जाते थे, जो कि इसके लिये निर्दिष्ट होता था।[7] शव को श्मशान पर ही जलाया जाता था, अन्यत्र जलाने पर दण्ड दिया जाता था।[8] जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये औषधालयों का निर्माण किया जाता था और इनमें औषधियों के निःशुल्क वितरण की व्यवस्था की जाती थी। औषधियों के लाभ के लिये स्थान-स्थान पर राज्य की ओर से सुप्रसिद्ध जड़ी-बूटियों का आरोपण किया जाता था। अशोक ने अपने एक लेख में कहा है कि "पशुओं एवं

---

१. **"पूगाः समूहाः भिन्नजातीनाम्।"—मिताक्षरा।**

२. मनु, ८, ४१।

३. **"कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान्जानपदानपि।**
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥"—याज्ञवल्क्य, १,३६०।

४. **याज्ञवल्क्य, १, १३४।**

५. **"पांन्सुन्यासे रथ्यायामष्टभागो दण्डः॥"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५८।**

६. **वही, प्रकरण ५८।**

७. **वही, प्रकरण ८५।**

८. **"श्मशानादन्यत्र न्यासे दहने च द्वादशपणो दण्डः॥"—वही, प्रकरण ५८।**

मनुष्यों के लिये लाभकारी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं थीं, वहाँ-वहाँ मैंने लगवा दीं।"[१] जनस्वास्थ्य को अधिक ठीक रखने के लिये चेष्टा की जाती थी कि अशुद्ध पदार्थ बाज़ारों में न बेंचे जायँ। जो लोग इस प्रकार के दोष में पकड़े जाते थे, उन्हें कठिन दण्ड दिया जाता था।[२] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण नागरिक काफी सुरक्षा का अनुभव करते होंगे।

कर-व्यवस्था—नगर में वसूल किये जानेवाले करों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) वाणिज्य-कर तथा (२) उद्योग-कर। वाणिज्य-कर बनियों से लिया जाता था। वाणिज्य-कर में चुङ्गी, माप तथा तौल पर लिया जाने वाला कर तथा बिक्री-कर उल्लेखनीय हैं। चुङ्गी को शुल्क कहा जाता था। शुल्क राजभाग के रूप में ग्रहण किया जाता था।[३] चुङ्गी लेने वाले पदाधिकारी को शुल्काध्यक्ष कहते थे। शुल्काध्यक्ष का कार्यालय नगर के प्रवेश-द्वार पर स्थित होता था। इसके कार्यालय के ऊपर एक ऊँची पताका लगी रहती थी।[४] सौदागरों से नाम, पता, बेंचने वाली वस्तुओं की संख्या तथा तौल आदि पूछ लेने के उपरान्त शुल्काध्यक्ष उन्हें नगर के अन्दर जाने की आज्ञा देता था।[५] यदि कोई सौदागर शुल्क को बिना दिये हुए धोखा देकर निकल जाने का प्रयास करता था, तो उसे उचित कर का कई गुना दण्ड के रूप में देना पड़ता था। अर्थशास्त्र के अनुसार ऐसे सौदागर से उचित कर का आठ गुना दण्ड के रूप में वसूल किया जाय।[६] कभी-कभी नगर की बाज़ारों में भी व्यापारियों से शुल्क वसूल करने के लिये राजपुरुष घूमते रहते थे। मृच्छकटिक में कहा गया है कि नगरों में व्यापारी तथा उनकी दूकान के आसपास शुल्क वसूल करने वाले राजकीय कर्मचारी वैसे ही चक्कर काटते हैं, जिस प्रकार भौंरे

---

१. **"ओसुदानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत् तत् नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च।"—का० इं० इं०, पृष्ठ २।**

२. **अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।—द्रष्टव्य—मेरा लेख, सिविक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, उत्तर भारती, पृष्ठ ४९, जिल्द १०, संख्या १, अप्रैल १९६३।**

३. **"राजभागः शुल्कमुदाहृतम्।"—शुक्रनीति, अध्याय ४, प्रकरण २, १०८।**

४. **"शुल्काध्यक्षः शुल्कशालाध्वजं-महाद्वाराभ्याशे निवेशयेत्"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ३९।**

५. **वही, प्रकरण ३९।**

६. **"ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः"—वही, प्रकरण ३८।**

वृक्ष तथा उसके पुष्पों के चतुर्दिक् मँड़राते हैं।[१] विष्णुस्मृति में कहा गया है कि जो माल स्वदेश से आता हो, उसका दसवाँ भाग चुङ्गी के रूप में लिया जाय। जो माल विदेश से आता हो, उसका बीसवाँ भाग चुङ्गी के रूप में लिया जाय।[२]

नगर में व्यवहार में आने वाले माप एवं तौल को भली-भाँति जाँचकर उन पर राजकीय मुहर लगाई जाती थी तथा इस रूप में उन्हें प्रमाणित किया जाता था। इसके लिये बनियों को कर देना पड़ता था। अर्थशास्त्र में इसे 'प्रातिवेधनिक कर' कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह कर केवल चारमासा था।[३] जो वणिक् अपने माप अथवा तौल पर मुहर नहीं लगवाता था, उसे साढ़े २७ पण का दण्ड लगाना कौटिल्य की दृष्टि में सम्मत था।[४] अर्थशास्त्रमें विक्रय पर कर लगाने का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार तुला पर तौल कर बेंची जाने वाली वस्तु का बीसवाँ भाग कर के रूप में वसूल किया जाय[५] तथा जो वस्तुएँ गिन कर बेंची जायँ, उनका ग्यारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाय।[६] उद्योग-कर कारीगरों से लिया जाता था। यही कारण है कि अभिलेखों में इसे कारुकर (कारीगरों से लिया जाने वाला कर) कहा गया है। यह कर दो रूपों में लिया जाता था—(१) विष्टि अर्थात् बेगार के रूप में तथा (२) द्रव्य के रूप में। विष्टि छोटे कारीगरों से ली जाती थी—उदाहरणार्थ कुम्हार, बढ़ई तथा लोहार। स्मृतियों में कहा गया है कि राजा छोटे कारीगरों से महीने में एक बार सार्वजनिक कार्यों में विष्टि ले सकता था।[७] पर बड़े कारीगरों से कर द्रव्य के रूप में लिया जाता था।

---

१. "वणिजा इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साध्यन्ते मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति॥"
—मृच्छकटिक, अङ्क ७, श्लोक १।

२. "स्वदेशपण्याच्च शुल्कांश्च दशमादद्यात्।
परदेशपण्याच्च विंशतितमम्॥"
—विष्णुस्मृति, अध्याय ३, पृष्ठ १२।

३. "चतुर्माषिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्।"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ३७।

४. "अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः"—वही, प्रकरण ३७।

५. "विंशतिभागस्तुलामानम्"—वही, प्रकरण ३५।

६. "गण्यपण्यानामेकादशभागः"—वही, प्रकरण ३५।

७. "कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः॥"
—मनुस्मृति, ७, १३८।

इनमें सुनार, जुलाहे, तथा शराब बनाने वाले आते थे। कौटिल्य के अनुसार शराब बनाने वाले पाँच प्रतिशत कर देते थे।[१]

रक्षा-व्यवस्था—नागरिकों की रक्षा के लिये राज्य की ओर से कई प्रकार की व्यवस्थाएँ की जाती थीं, उदाहरणार्थ चोरी से बचाव के लिये पहरेदारों की नियुक्ति की जाती थी। नगर के पहरेदारों को 'नगररक्षिन्' कहा जाता था।[२] ये रात्रि के समय कड़ा पहरा देते थे। मृच्छकटिक में कहा गया है कि काफी रात बीत जाने पर भी नगर के राजमार्गों पर पहरेदार घूमते रहते थे।[३] यदि ये चोर का पता लगाने में असमर्थ सिद्ध होते थे, तो इन लोगों को बहुत कड़ा दण्ड दिया जाता था।[४] नागरिकों की अधिक सुरक्षा की दृष्टि से कभी-कभी रात्रि के द्वितीय प्रहर में राजमार्गों पर चलना निषिद्ध घोषित कर दिया जाता था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि रात्रि के द्वितीय प्रहर के प्रारम्भ में भेरिवादन होता था तथा उसके उपरान्त तृतीय प्रहर के अन्त तक नागरिक घर के बाहर नहीं निकल सकते थे।[५] मृच्छकटिक से विदित होता है कि रात्रि के भ्रमण-निषिद्ध प्रहर में नगर-पदाधिकारियों के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति राजमार्गों पर नहीं चल सकता था।[६] केवल आवश्यक कार्यों तथा आकस्मिक घटनाओं के आ पड़ने पर ही नागरिकों को घर से बाहर निकलने का अधिकार दिया जाता था—उदाहरणार्थ, मृतक शरीर के साथ श्मशान-भूमि को प्रस्तुत व्यक्ति तथा रोगी को देखने के लिये जाने वाले चिकित्सक नहीं रोके जाते थे।[७] इस प्रकार के व्यक्तियों को यदि नगर के पहरेदार रोकते थे, तो उन्हें दण्ड दिया जाता था।[८]

नगर के व्यापारियों की सुरक्षा का भार राज्य अपने ऊपर लेता था। एक जातक में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राजा व्यापारियों के कल्याण के लिये उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करता था।[९] यह व्यवस्था उस समय नहीं रह जाती

---

१. "अराजपण्याः पञ्चकं शतं शुल्कं दद्युः"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ४२।
२. मृच्छकटिक, अङ्क ९।
३. "राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः सञ्चरन्ति च"—वही, अङ्क १।
४. अग्निपुराण, पृष्ठ ७९१ (मन्मथनाथ-अनूदित)।
५. अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।
६. मृच्छकटिक, अङ्क १।
७. अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।
८. वही, प्रकरण ५६।
९. जातक, ४, १३५।

थी, जिस समय राजा के अभाव में चतुर्दिक् अराजकता का साम्राज्य फैल जाता था। रामायण में कहा गया है कि भूप-विहीन साम्राज्य में व्यापारी असुरक्षा का अनुभव करने लगते हैं तथा परिणाम-स्वरूप वे माल के साथ नगर के बाहर नहीं निकलते।[१]

नगरों में आग बुझाने के लिये कभी-कभी एक विभाग की नियुक्ति की जाती थी। इस विभाग में कार्य करने वालों को बस्ती के एक ही भाग में रहना पड़ता था। सावधानी के लिये ये लोग पहले से ही जल से भरे हुए घड़ों को नगर के प्रधान राजमार्गों तथा चतुष्पथों पर बगल में एक ही स्थान पर रख देते थे।[२] आग बुझाने के कार्य में इन लोगों की सहायता नागरिकों को भी करनी पड़ती थी। जो नागरिक इस कार्य में सहायता नहीं करता था, उसे राजकीय दण्ड का भागी बनना पड़ता था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि ऐसे नागरिक को १२ पण का दण्ड दिया जाय।[३]

दैवी आपत्तियों के आ जाने पर राज्य नागरिकों की यथेष्ट सहायता करता था। महामारी के प्रकोप से पीड़ित, दीन एवं असहाय व्यक्तियों को राजकीय सहायता औषधि एवं द्रव्य के रूप में दी जाती थी।[४] दुर्भिक्ष के अवसर पर नागरिकों में दान का वितरण किया जाता था।[५] बाढ़-पीड़ितों को भी सहायता पहुँचायी जाती थी।[६]

जन-स्वास्थ्य—जनस्वास्थ्य की रक्षा के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण विदेशी उल्लेख मिलते हैं। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ लिखता है कि पाटलिपुत्र की नगरपालिका की दूसरी समिति विदेशियों के स्वास्थ्य की देख-रेख करती थी। जब वे बीमार पड़ते थे, तो यह उनके औषधि की व्यवस्था करती थी। उनके मरने पर उनकी अन्तिम क्रिया का प्रबन्ध तथा सम्पत्ति को उनके सम्बन्धियों के पास पहुँचा देना इसी समिति का कर्त्तव्य था।[७] फाहियान ने लिखा है कि "देश के धनिक वैश्यों ने नगरों में

---

१. "नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमन्विताः॥"— बालकाण्ड, सर्ग ६७, २२।

२. "असंपतिनो रात्रौ रथ्यासु, कपटव्रजास्सहस्रं तिष्ठेयुः चतुष्पथे द्वारे राजपरिग्रहेषु च।"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।

३. "प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादशपणो दण्डः"—वही, प्रकरण ५६।

४. वही, प्रकरण ७८।

५. वही, प्रकरण ७८।

६. वही, प्रकरण ७८। ७. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज, खण्ड २६।

चिकित्सालयों का निर्माण किया था। इनकी दीवालों पर संस्थापकों के नाम उत्कीर्ण किये जाते थे। इनमें दीन एवं असहाय व्यक्तियों को औषधियाँ निःशुल्क मिलती थीं।"[१]

हाट-नियन्त्रण—हाट-नियन्त्रण नगर-शासन का अभिन्न अङ्ग था। मेगस्थनीज़ लिखता है कि "पाटलिपुत्र की सभा की चतुर्थ समिति का कार्य बाज़ारों का पर्यवेक्षण था। इसके सदस्य वहाँ की बाज़ारों में प्रयोग में आने वाले माप एवं तौल का समय-समय पर निरीक्षण करते थे। वे एक व्यापारी को केवल एक ही प्रकार की वस्तुओं को बेंचने देते थे।"[२] कौटिल्य के द्वारा उल्लिखित पण्याध्यक्ष नामक कर्मचारी की चर्चा पहले की जा चुकी है, जो बाजारों में अपना कठोर नियन्त्रण स्थापित रखता था। उसका भी कार्य नाप-तौल की परीक्षा करना तथा धोखेबाज़ बनियों को दण्ड देना था।[३] इससे लगता है कि मौर्य-काल से ही भारतीय बाज़ारों में राजकीय नियन्त्रण का कार्य बड़ी कड़ाई के साथ होना प्रारम्भ हो चुका था।

व्यवसाय-नियन्त्रण—भारतीय नगर व्यवसाय के केन्द्रबिन्दु थे, अतएव शासन की दृष्टि से उद्योगधन्धों के ऊपर राजकीय नियन्त्रण आवश्यक था। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र की सभा की प्रथम समिति नगर-व्यवसाय का पर्यवेक्षण करती थी।[४] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यवसाय के ऊपर नियन्त्रण रखने वाले राजपुरुषों के उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ सुराध्यक्ष, जिसके कार्यों का विवरण इस परिच्छेद के प्रारम्भ में दिया जा चुका है। राज्य औद्योगिक विकास के लिये प्रयत्न करता था। मेगस्थनीज़ लिखता है कि "यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर को क्षति अथवा शारीरिक हानि पहुँचाता था, तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था।"[५] कौटिल्य ने भी लिखा है कि राज्य व्यावसायिकों की सुरक्षा की व्यवस्था करता था।[६]

नगर-सीमा का रक्षण—सुरक्षा की दृष्टि से नगर-सीमाओं पर गहरी परिखा एवं उच्च प्राकार का निर्माण किया जाता था। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि पाटलिपुत्र की परिखा ६०० फीट चौड़ी तथा ५५ फीट गहरी थी। प्राकार की

---

१. गाइल्स, फ़ाहियान, पृष्ठ ५९।
२. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़, खण्ड २६।
३. अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।
४. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़, खण्ड २६।
५. वही, खण्ड २६।
६. अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।

चोटी पर नगर-रक्षा के हेतु विभिन्न शस्त्र एकत्र किये जाते थे। पुर पर आक्रमण के समय नगर-रक्षक प्राकार-शिखर पर से इन शस्त्रों को नीचे की शत्रु-सेना के ऊपर फेंकते थे।[1] कुछ रात्रि के व्यतीत हो जाने पर नगर के फाटक बन्द कर दिये जाते थे। जो यात्री रात में देर को पहुँचते थे, उन्हें फाटक पर रोक दिया जाता था। दूसरे दिन सूर्योदय होने पर उन्हें नगर-प्रवेश की आज्ञा मिलती थी। वाराणसी के नगर में इस प्रकार की व्यवस्था के होने का उल्लेख जातकों में मिलता है।[2] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अन्तपाल (सीमारक्षक राजपुरुष) नामक कर्मचारी का उल्लेख किया है। वह नगर में आनेवाली विदेशी सामग्री का निरीक्षण करता एवं उस पर अपनी मुहर लगाता था। खोटी वस्तुओं के छिपाने पर वह अपराधी को आठगुना दण्ड देता था। उत्तम कोटि की वस्तुओं के छिपाने पर उससे भी कड़ा दण्ड दिया जाता था। सन्दिग्ध आचरण तथा हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों को वह नगर में आने से रोकता था।[3]

धर्मशालाओं का प्रबन्ध—चीनी यात्री फाहियान ने उत्तरी भारत के नगरों में धर्मशालाओं के विद्यमान होने का उल्लेख किया है। वहाँ पर रुकने वाले यात्रियों को किसी प्रकार का विश्राम-शुल्क नहीं देना पड़ता था। धर्मशालाओं की स्थापना बहुधा धनिक वैश्यों के द्वारा पुण्यार्जन के निमित्त की गई थी।[4] कौटिल्य ने लिखा है कि धर्मशालाओं के व्यवस्थापकों को उनमें रुकने वाले यात्रियों का नाम, पता तथा अन्य विवरण अपने खाते में सुरक्षित रखना पड़ता था। इनमें अवाञ्छित एवं अशुद्ध आचरण वाले व्यक्तियों को नहीं रुकने देते थे।[5] शुक्रनीति में धर्मशालाओं के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार इनके सञ्चालक इनमें विश्राम की इच्छा रखने वाले यात्रियों के नाम, कुल, जाति तथा पता आदि के विषय में प्रश्न पूछकर उनके सम्बन्ध में पहले पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते थे। अपनी विवरण-पत्रिका में उनका पूरा ब्यौरा उल्लिखित कर लेने के पश्चात् उनको इनमें रुकने की आज्ञा देते थे। रात्रि में धर्मशालाओं के दरवाज़े बन्द हो जाते थे। द्वार-रक्षक इन पर कठोर पहरा देते थे। इनके व्यवस्थापकों को नगर के जनसंख्या-कार्यालय में यात्रियों के विषय में

---

१. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५६ (शामा शास्त्री-अनूदित)।

२. जातक, संख्या १६४।

३. अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।

४. गाइल्स, फ़ाहियान, पृष्ठ ४५।

५. अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।

सूचना देनी पड़ती थी। इस प्रकार पुर में आने वाले नवागन्तुक सरकार को किसी प्रकार से भी धोखा नहीं दे सकते थे।[१]

गुप्तचर—नगर के पदाधिकारियों को गुप्त सूचना प्रदान करने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी। कौटिल्य का कथन है कि नगर के भीतर गुप्तचर अपने वेष को तीन प्रकार से बदल कर घूमें—(१) सिर मुंड़ा कर (मुण्डः), (२) जटाजूट बाँधकर (जटिलः) तथा (३) तपस्वी का रूप धारण कर (तापस-व्यञ्जनः)।[२] नीतिसार में भी कहा गया है कि जासूस (चर) तपस्वी, धूर्त, सौदागर तथा व्यवस्थापक का वेष बनाकर घूमें। बस्ती के प्रत्येक भाग में हर छोटी बड़ी बात की सूचना लेने के लिये उन्हें घूमना पड़ता था।[३] अपराधियों के मन में गुप्तचर का आतङ्क सर्वदा बना रहता था।[४] मृच्छकटिक में एक अपराधी नगर-गुप्तचर के भय से आतङ्कित दिखाया गया है।[५] नीतिसार में गुप्तचर को 'नृपतिचक्षु' कहा गया है।[६] इस उक्ति का कारण यह है कि वास्तव में इन्हीं के द्वारा सम्राट् प्रत्येक घटना का अवलोकन करता था।

जल-वितरण—नागरिकों की जल-प्राप्ति की सुविधा के निमित्त प्रत्येक नगर में सरोवर विद्यमान थे। तटाक्-निर्माण एक पुनीत कार्य समझा जाता था। अफसढ़ के लेख से ज्ञात होता है कि उत्तर गुप्त नरेश आदित्यसेन की पत्नी श्रीमती कोणदेवी ने अपने पुण्यार्जन के निमित्त सुन्दर जल से युक्त एक अद्भुत जलाशय का निर्माण किया था।[७] महाभारत के अनुसार इन्द्रप्रस्थ के नगर में सरोवर बने हुए थे; जो हंस, कारण्डव एवं चक्रवाक आदि पक्षियों से सुशोभित तथा सुगन्धिसम्पन्न कमलों से युक्त थे।[८] मालवा के नगर दशपुर के सरोवरों का जल तट पर उगे हुए

---

१. शुक्रनीतिसार, अध्याय २।

२. अर्थशास्त्र, प्रकरण ७।

३. "तपस्विलिङ्गिनो धूर्ताः शिल्पपण्योपजीविनः"—नीतिसार, १९, पंक्ति ३९।

४. "चराश्चरेयुः परितः पिवन्तो जगतां मतम्"—वही, १९, पंक्ति ४०।

५. "नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतः"—मृच्छकटिक, अङ्क ७।

६. आदि पर्व, अध्याय १९९, श्लोक ७७। द्रष्टव्य—मेरा लेख, सिविक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ ५५, उत्तर भारती, जिल्द १०, संख्या १, अप्रैल १९६३।

७. "राज्ञा खानितमद्भुतं सुपयसा पेपीयमानं जनै-
स्तस्यैव प्रियभार्यया: नरपतेः श्रीकोणदेव्या सरः।"—अफसढ़ का लेख।

८. आदि पर्व, अध्याय १९९, श्लोक ७७।

वृक्षों के पुष्पों की सुगन्धि से सुवासित हो उठता था।[१] बाढ़ से रक्षा के निमित्त सरोवरों के चतुर्दिक् बाँध बने होते थे। इसका कम से कम एक ऐतिहासिक उदाहरण मिलता है। जब गिरिनगर के प्रसिद्ध तटाक् सुदर्शन का बाँध टूट गया, उस समय नागरिकों को क्षति से बचाने के निमित्त रुद्रदामन ने अपने व्यक्तिगत कोष से इसका पुनरुद्धार किया था।[२]

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में यहाँ की पुरातन नगर-शासन-पद्धति के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री भरी हुई है। वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि विविध राजपुरुषों एवं राजकीय संस्थाओं के अतिरिक्त नगर की स्थानीय सभाओं एवं समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में प्रशासकीय अधिकार प्राप्त थे। वे सुसङ्गठित प्रतिनिधि संस्थाएँ थीं एवं उनके अपने रीतिरिवाज़ एवं कानून थे, जिन्हें शासन के विषय में राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९०।

२. वही, पृष्ठ १७४।

अध्याय १२

नगरों का आर्थिक जीवन तथा सङ्गठन

व्यवसाय—भारतीय नगर व्यवसाय के केन्द्रविन्दु थे। अनुकूल परिस्थितियों में पड़ने के कारण उच्च व्यावसायिक संवर्धन तथा औद्योगिक केन्द्रीकरण ग्राम की अपेक्षा नगरों में ही सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि एक ही नगर में विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक बहुसंख्या में रहते थे। इन व्यावसायिकों के नामोल्लेख कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ—रामायण में अयोध्या के प्रमुख व्यावसायिकों की एक तालिका मिलती है। इसमें जिन व्यावसायिकों के नाम आते हैं, वे इस प्रकार हैं:—(१) सुनार (सुवर्णकाराः), (२) जौहरी (मणिकाराः), (३) कपड़े बुनने वाले (सूत्रकर्मविशेषज्ञाः), (४) कुम्हार (कुम्भकाराः), (५) हथियार बनाने वाले (शस्त्रोपजीविनः), (६) मोर की पूँछ से पंखा बनाने वाले (मायूरकाः), (७) आराकस (क्राकचिकाः), (८) मोतियों में छेद बनाने वाले (बेधकाः), (९) रंगसाज (रोचकाः), (१०) हाथी-दाँत की चीज़ें बनाने वाले (दन्तकाराः), (११) चूना बनाने वाले (सुधाकाराः), (१२) गन्धी (गन्धोपजीविनः), (१३) कम्बल बुनने वाले (कम्बलकारकाः), (१४) धूप बनाने वाले (धूपकाः), (१५) शराब बनाने वाले (शौण्डिकाः), (१६) दर्जी (तुन्नवायाः) तथा (१७) धोबी (रजकाः)।[1] मिलिन्दप्रश्न में

---

१. **"मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च शोभनाः।**
सूत्रकर्मकृतश्चव ये च शस्त्रोपजीविनः॥
मायूरकाः क्राकचिकाः रोचका वेधकास्तथा।
दन्तकाराः सुधाकारास्तथा गन्धोपजीविनः॥
सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलधावकाः।
स्नापकोच्छादका वैद्या धूपका शौण्डिकास्तथा॥
रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः।
शैलूषा सह स्त्रीभिर्ययुः सहस्रशः॥"

रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ८३, श्लोक १२-१५।

भी नगर-व्यावसायिकों की एक तालिका मिलती है। यह उपर्युक्त तालिका से अधिक बड़ी है। इसमें माला बनाने वालों (मालाकारा), सुनारों (सुवर्णकारा), चाँदी पर काम करने वालों (सज्झकारा), शीशे पर काम करने वालों (सीसकारा), टिन पर काम करने वालों (तिपुकारा), लोहारों (लोहकारा), ताम्रकारों (वट्ट-कारा), पीतल का काम करने वालों (अयकारा), जौहरी (मणिकारा), कुम्हारों (कुम्भकारों), वेणु बनाने वालों (वेणुकारा), नमक बनाने वालों (लोणकारा), चर्मकारों (चम्मकारा), रस्सी बनाने वालों (रज्जुकारा), सूत बनाने वालों (सुत्त-कारा), धनुष की प्रत्यञ्चा बनाने वालों (जियकारा), बाण तैयार करने वालों (उसुकारा), चित्रकारों (चित्तकारा), रँगरेजों (रंगकारा), धोबी (रजका), जुलाहों (तन्तुवाया), दर्जी (तुन्नवाया), गन्ध तैयार करने वालों (गन्धिका), रथ बनाने वालों (रथकारा), हाथीदाँत पर काम करने वालों (दन्तकारा), टोकरी बनाने वालों (विलिवकारा) तथा धनुष बनाने वालों (धनुकारा) के नाम आते हैं।[1]

इन विभिन्न व्यावसायिकों में सुवर्णकार, जौहरी, चित्रकार, रँगरेज, दर्जी, माला बनाने वाले, सुगन्धित द्रवों को तैयार करने वाले, जुलाहे तथा हाथीदाँत पर काम करने वाले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसका कारण यह है कि नागरिकों के वस्त्र तथा श्रृङ्गार के विभिन्न प्रसाधन इन्हीं के द्वारा तैयार किये जाते थे। अर्थ-शास्त्र से सुवर्णकारों का नगर-जीवन के साथ विशेष सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रन्थ में सुवर्णाध्यक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है। इस पदाधिकारी का कार्य नगर में रहने वाले सुवर्णकारों के कार्य का पर्यवेक्षण था। इस पदाधिकारी के नगर-कार्यालय को कौटिल्य ने अक्षशाला कहा है।[2] कौटिल्य के इस साक्ष्य से स्पष्ट है कि नगरों में मौर्यकाल से ही अधिक सुवर्णकार रहने लगे थे, जिस कारण इनके कार्य का पर्यवेक्षण करने वाले पदाधिकारी की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुवर्णकार अपने कार्य में बहुत ही दक्ष थे। उनका कार्य प्रधानतः आभूषणों का गढ़ना था। इसके अतिरिक्त वे बर्तन तथा कभी-कभी मूर्तियाँ भी बनाते थे। एक जातक में कहा गया है कि किसी सुवर्णकार ने एक राजा की आज्ञा के पाने के उपरान्त उसकी सोने की मूर्ति बनाई थी।[3]

अलङ्कारप्रेमी नागरिकों के बीच में वर्तमान जौहरी के व्यवसाय का सुविकसित होना स्वाभाविक ही था। जौहरी का कार्य विभिन्न प्रकार के रत्नों की

---

१. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३२४।

२. "सुवर्णाध्यक्ष अक्षशालां कारयेत्।"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ३१।

३. जातक, ५, २८२।

परीक्षा लेना था। वात्स्यायन ने रत्नपरीक्षा की गणना विशिष्ट चौंसठ कलाओं में की है, जिनका नागरिक जीवन से विशेष सम्बन्ध था। चित्रनिर्माण स्वतन्त्र एवं सुविकसित नगरव्यवसाय था। चित्रकारों के कार्य का एक बहुत ही सुन्दर वर्णन मृच्छकटिक में मिलता है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि उज्जयिनी के चित्रकार नाना पात्रों में रङ्ग तथा चित्रनिर्माण की सामग्री को रखकर कार्य करने बैठते थे। नाटक के प्रथम अङ्क में विदूषक कहता है कि अन्दर के चतुःशाल के द्वार पर बैठा हुआ मैं सैकड़ों पात्रों को चित्रकार की भाँति छूकर रख देता था।[१] रँगरेज वस्त्रों के ऊपर रँगाई का कार्य करता था। नागरिक जीवन में इसके कार्य की लोकप्रियता की सूचना वात्स्यायन के कामसूत्र से मिलती है। इन्होंने रँगरेजों के द्वारा काम में लाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के रंगों का नामोल्लेख किया है।[२] जातकों में दर्जी का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[३] चुल्लवग्ग में एक स्थान पर दर्जी की अंगुली के ढक्कन (पटिग्गहो) का उल्लेख मिलता है, जिसका प्रयोग वह सीते समय सुई चुभने से बचने के लिये करता है।[४] उसी के द्वारा सिले हुए वस्त्र नागरिकों के द्वारा काम में लाये जाते होंगे।

मालाकार के व्यवसाय की लोकप्रियता का अनुमान कामसूत्र से लगाया जा सकता है। इस ग्रन्थ में माला को नागरिक के शृङ्गार का एक प्रिय साधन माना गया है।[५] सुगन्धित द्रवों के परिकल्पन की गणना विकसित नागरिक कला में होती थी। सुगन्धित द्रवों में विशेषतः चन्दन का तेल तथा फूलों का सुगन्ध उल्लेखनीय है। इनके द्वारा शृंगार-प्रेमी नागरिक अपने वस्त्रों को सुगन्धित करता था। जुलाहे कताई तथा बुनाई का कार्य करते थे। इनके द्वारा बहुमूल्य ऊनी तथा सूती वस्त्र तैयार किये जाते थे। मन्दसोर के अभिलेख से विदित होता है कि इस प्रकार के कार्य में दक्ष जुलाहे दशपुर के नगर में रहते थे।[६]

---

१. "चतुःशालकद्वारोपविष्टो मल्लकशतपरिवृत्तश्चित्रकार इवांगुलीभिः स्पृष्ट्वा"—मृच्छकटिक, अङ्क १।

२. कामसूत्र, पृष्ठ ३३०, सूत्र १७।

३. जातक, ६, ३६६।

४. चुल्लवग्ग, ५, ११, ५। द्रष्टव्य—मेरा लेख, प्राचीन भारत में नगरों का आर्थिक जीवन तथा सङ्गठन, पृष्ठ ६१-६३, हिन्दुस्तानी, भाग २२, अङ्क २, १९६१।

५. कामसूत्र, पृष्ठ ३२, सूत्र १६।

६. फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या १८।

हाथीदाँत से चूड़ियाँ, आभूषण, बर्तन तथा विभिन्न प्रकार के सामान बनाये जाते थे। एक जातक में कहा गया है कि जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी के द्वारा किसी प्रकार की भी आकृति तैयार कर सकता है, उसी प्रकार हाथीदाँत से कारीगर मनोवाञ्छित रूप गढ़ते थे।[१]

व्यवसाय की देखरेख के लिये नगरों में पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रकार के पदाधिकारियों का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। वे इस बात को देखते थे कि विभिन्न प्रकार के उद्योगधन्धों के पालन करने वाले अपना कार्य सुचारु रूप से करते हैं अथवा नहीं।[२] कारीगरों का संरक्षण इनका कार्य था। यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के कार्य अथवा उसकी आमदनी में बाधा डालने की चेष्टा करता था, तो ये अधिकारी उसे कठिन आर्थिक दण्ड देते थे।[३] मेगस्थनीज़ ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के हाथ को काटता अथवा उसे शारीरिक हानि पहुँचाता था, तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज ने भी पाटलिपुत्र की एक ऐसी समिति का उल्लेख किया है, जिसके सदस्यों का कर्तव्य व्यवसाय का निरीक्षण तथा उनके विकास का प्रबन्ध था।[४] व्यवसाय के अधिक प्रचार के कारण भारतीय नगरों में कभी-कभी व्यावसायिक शिक्षा देने वाले आचार्य भी रहते थे।[५] इन आचार्यों की प्रयोगशालाओं में नवागन्तुक विद्यार्थी अपने बन्धुओं की आज्ञा पाने के उपरान्त मनोवाञ्छित शिल्प में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये आता था। आचार्य, विद्यार्थी को निःशुल्क शिक्षा देता था। वह अपने शिक्षार्थी को पुत्र के समान मानता था तथा उसके भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था भी करता था।[६]

---

१. जातक, २, ८८।

२. अर्थशास्त्र, प्रकरण ७६।

३. "कारुशिल्पिनां कर्मगुणापकर्षमाजीवं विक्रयं क्रयोपघातं वा सम्भूय समुत्थापयतां सहस्रं दण्डः"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ७७।

४. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, खण्ड २६।

५. "शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिनः।"—बृहस्पतिस्मृति, पंक्ति ६९, पृष्ठ १३५ (गायकवाड़-प्रकाशन)।

६. "स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं वान्धवानामनुज्ञया।
आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कालं सुनिश्चितम्॥
आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्॥"
—नारदस्मृति, शुश्रूषाभ्युगमप्रकरणम्, १७, १८।

विद्यार्थी से गृहपरिचर्या कराने वाला आचार्य तथा शिक्षासमाप्ति के पूर्व ही आचार्य के गृह से लौट आने वाला विद्यार्थी दोनों ही समाज में घृणित दृष्टि से देखे जाते थे।[1] शिल्प की पूर्ण शिक्षा तथा आचार्य की अनुमति लेने के उपरान्त घर लौटने वाला विद्यार्थी शिल्प का विशेषज्ञ माना जाता था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यावसायिक शिक्षा उच्चकोटि की थी। अजन्ता तथा बाघ की अनुपम चित्रकारियाँ, उत्खनन में उपलब्ध नाना प्रतिमाएँ, प्राचीन भवन, मन्दिर, मठ, विहार, स्तम्भ, गुफाएँ, आभूषण तथा कला एवं शिल्प के अनेक उदाहरण इसके ज्वलन्त प्रतीक हैं।

श्रेणी—पुर के भीतर एक ही व्यवसाय के पालन करने वाले अपना सङ्गठन बनाकर रहते थे। इस सङ्गठन के लिये प्राचीन साहित्य में "श्रेणी" शब्द आता है।[3] जातकों में १८ प्रकार की श्रेणियों के नाम मिलते हैं; उदाहरणार्थ बढ़ई, सुवर्णकार, जुलाहे, चर्मकार, कुम्भकार, दन्तकार, रँगरेज, जौहरी, मल्लाह, सूपकार, नाई, मालाकार, चित्रकार, तेली, कसेरा (कसकर), ग्वाले, टोकरी बनाने वाले तथा गन्धकार।[4] अभिलेखों में भी श्रेणी का उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ नहपान के नासिक के लेख में "कोलीक श्रेणी" का उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार मन्दसोर के लेख में "पट्टवायश्रेणी" (रेशमी सूत बनाने वाले कारीगरों के सङ्गठन) का उल्लेख मिलता है।[6] महावस्तु में कपिलवस्तु की श्रेणियों का विशद उल्लेख मिलता है।[7] बृहस्पति ने व्यावसायिकों के श्रेणिबद्ध होने के दो कारण

---

१. "शिक्षयन्तमदुष्टं य आचार्यं सम्परित्यजेत्।
वलाद्वासयितव्यस्स्याद्वधबन्धौ च सोऽर्हति॥"
—नारद, शुश्रूषाभ्युगमप्रकरणम्, १९।

२. "गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम्।
शक्तितश्चानुमान्येनमन्तेवासी निवर्तते॥"
—वही, शुश्रूषाभ्युगमप्रकरणम्, २१।

३. "एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी"
—कय्यट, २, १, ५९।

तुलनार्ह—"श्रेणयो नानाजातीनां एकजातीयकर्मोपजीविनां संघाताः"
—मेधातिथि, २, ३०।

४. मजुमदार, कारपोरेट लाइफ़, पृष्ठ १८-१९।

५. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १५८।

६. फ्लीट, गुप्त-लेख, संख्या १८।

७. द्रष्टव्य—सार्थवाह, मोतीचन्द्र, पृष्ठ १५३।

बताये हैं:—(१) चोर, डाकुओं तथा अन्य मानवीय आपत्तियों से सुरक्षा तथा (२) सामूहिक लाभ।[१] व्यावसायिकों के इस सङ्गठन में कतिपय प्रधान विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं:—(१) एक व्यवसाय के पालन करने वाले पुर के एक ही भाग में रहते थे। कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में एक प्रकार के व्यावसायिकों के एक ही साथ रहने का विधान मिलता है, उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र[२] तथा अग्निपुराण।[३] जातकों में दन्तकारवीथि[४], उप्पलवीथि[५] तथा रजकवीथि[६] के उल्लेख मिलते हैं। दन्तकारवीथि का तात्पर्य उस मार्ग से है, जिसके किनारे हाथीदाँत पर काम करने वाले रहते थे। इसी प्रकार उप्पलवीथि तथा रजकवीथि से उन मार्गों का बोध होता है, जिनके किनारे कमल बेचने वाले तथा कपड़ा धोने वाले रहते थे। जातकों में और भी अनेक केन्द्रों का उल्लेख मिलता है, जिनमें एक ही व्यवसाय के अनुयायी रहते थे। एक जातक से विदित होता है कि वाराणसी के उपकण्ठ पर एक ऐसी बस्ती थी, जिसमें केवल बढ़ई रहते थे (महावड्ढकिगामो)।[७] इसी प्रकार एक दूसरी जातक में लोहारों की बस्ती का उल्लेख मिलता है (कम्मारगामो)।[८] महावस्तु के अनुसार जेट्ठक को महत्तर कहा जाता था—उदाहरणार्थ सुवर्णकारमहत्तर तथा मणिकारमहत्तर।[९]

(२) श्रेणी का एक प्रधान होता था, जिसके लिये जातकों में 'जेट्ठक' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक जातक में बढ़ई, लोहार, जुलाहों तथा माला बनाने

---

१. "ग्रामश्रेणिगणानाञ्च सङ्केतः समयक्रिया।
बाधाकाले तु सा कार्य्या धर्मकार्य्ये तथैव च॥
चाटचौरभये बाधाः सर्वसाधारणाः स्मृताः।
तत्रोपशमनं कार्यं सर्वेनैकेन केनचित्॥"
—बृहस्पति, १७, ५-६।

२. अर्थशास्त्र, प्रकरण २१।

३. अग्निपुराण, अध्याय १०६।

४. जातक, १, ३२०।

५. वही, २, ३२१।

६. वही, ४, ८२।

७. जातक, ३, २८१।

८. वही, ६, ५१४।

९. महावस्तु, भाग २, पृष्ठ ५६३-४७७। द्रष्टव्य—मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृष्ठ १५२।

वालों के जेट्ठक का उल्लेख मिलता है।[१] जेट्ठक बहुत समृद्ध हुआ करता था।[२] वह समाज का एक सम्मानित व्यक्ति था। राजदरबार में भी वह आदर की दृष्टि से देखा जाता था।[३] इसका प्रधान कारण उसका पद एवं ऐश्वर्य ही माना जा सकता है।

(३) जेट्ठक का पद आनुवंशिक होता था। एक जातक में कहा गया है कि जब नाविकों की श्रेणी के प्रधान की मृत्यु हो गई, उस समय उसका पुत्र जेट्ठक बनाया गया।[४] इस स्थान पर यह भी उल्लेखनीय है कि व्यवसाय परम्परानुगत हुआ करता था। पिता के व्यवसाय का ही अनुसरण उसका पुत्र करता था। जातकों में इस प्रकार का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। ऐसा होना अधिक व्यावहारिक भी था, क्योंकि पिता के शिल्प को पुत्र सरलता के साथ सीख सकता था।

(४) धर्मशास्त्रों में "श्रेणी-धर्म" शब्द का उल्लेख मिलता है। श्रेणीधर्म का तात्पर्य उन नियमों से है, जो कि आर्थिक श्रेणियों में कानून के रूप में प्रचलित थे।[५] यह शब्द स्मृतियों में जिस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है, उससे सचमुच ही उपर्युक्त अर्थ का बोध होता है। उदाहरणार्थ—मनुस्मृति में कहा गया है कि "धर्मवित् राजा को चाहिये कि जातिधर्म, जनपदधर्म, कुलधर्म और श्रेणी-धर्म अर्थात् इन-इन संस्थाओं के रीतिरवाजों की भली प्रकार छानबीन करके उनसे अविरुद्ध अपने राजकीय नियम और कानूनों की स्थापना करे"।[६] इस प्रकार का वचन नारदस्मृति[७] तथा याज्ञवल्क्यस्मृति[८] में भी मिलता है। इन ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग रीति-रिवाजों अथवा नियमों के अर्थ में हुआ है। स्मृतियों में कहा गया है कि सम्राट् को श्रेणी के कानूनों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। बृहस्पति ने इसका उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा है कि श्रेणी

---

१. जातक, ३, ४०५।
२. वही, ३, २८१।
३. वही, ५, २८२।
४. वही, ४, १३६।
५. कारपोरेट लाइफ, पृष्ठ ३३।
६. "जातिजानपदान् धर्म्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥"—मनु, ८, ४१।
७. नारद, १०, २।
८. याज्ञवल्क्य, १, ३६०।

के प्रधान "श्रेणीधर्म" के अनुसार अपनी संस्था के सदस्यों के साथ जो व्यवहार करें (वह चाहे क्रूर हो अथवा उदार), राजा को उसका समर्थन करना चाहिये।[1] "श्रेणीधर्म" (श्रेणी के द्वारा बनाये हुए नियमों) का पालन प्रत्येक सदस्य का धर्म समझा जाता था तथा इसका उल्लङ्घन बड़ा अपराध माना जाता था।[2] श्रेणी के सदस्य कभी-कभी अपने अधिकारी को चुनते थे। वे इस बात को देखते थे कि श्रेणी के नियमों का पालन विभिन्न सदस्यों के द्वारा किया जा रहा है अथवा नहीं। प्रायः शुद्ध विचार वालों, वेद के पण्डितों, धार्मिक तथा प्रवीण व्यक्तियों को ही यह अधिकार प्रदान किया जाता था।[3] व्यसनी, लालची तथा अयोग्य व्यक्ति इस कार्य से वञ्चित किये जाते थे ।[4] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण व्यावसायिक श्रेणियों के सदस्य परस्पर और भी दृढ़बद्ध थे ।

(५) ये व्यावसायिक समितियाँ आधुनिक बैंक का भी काम करती थीं। वे द्रव्य तथा अग्रहारदान को सुरक्षित रखती तथा उस पर सूद देती थीं। निक्षेप-कर्ता से व्यावहारिक समय भी निश्चित कर लिया जाता था, जिससे दोनों पक्षों में कोई भेद न हो। द्रव्य के सूद से मन्दिर में दीपक जलाना अथवा किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति भी उसे करना पड़ता था। नासिक के एक लेख से विदित होता है कि यहाँ की एक 'कोलीक-श्रेणी' के पास शकक्षत्रप नहपान के दामाद उषवदात ने ३००० कार्षापण जमा किया था, जिसके सूद से भिक्षुसङ्घ के लिये "चीवरमूल्य" तथा "कृशान्न मूल्य" निकलता था।[5] इसी लेख से विदित होता है कि उषवदात ने नासिक की एक दूसरी "कोलीक-श्रेणी" के पास ३००० कार्षापण जमा किया था, जिसके सूद से एक दूसरे भिक्षुसङ्घ के लिये "चैवरिक मूल्य" तथा "कृशन-मूल्य" (सागभाजी का खर्चा) निकलता था।[6] इन्दौर के एक लेख से विदित होता है कि

---

१. बृहस्पति, १७, १८।

२. "जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्माश्च सर्व्वतः।
वर्ज्जयन्ति च ये धर्म्मं तेषां धर्म्मो न विद्यते ॥"
—शान्ति पर्व, अध्याय ३६, श्लोक १९।

३. "शुचयो वेदधर्म्मज्ञाः दक्षाः दान्ता कुलोद्भवाः।
सर्वे कार्यप्रवीणाश्च कर्तव्याः महोत्तमाः ॥"—बृहस्पति, १७, ९।

४. "विवेषिणोव्यसनिनः शालीनालसभीरवः।
लुब्धातिवृद्धबालाश्च न कार्य्याः कार्यचिन्तकाः ॥"—वही, १७, ८।

५. एपिग्राफिआ इण्डिका, ८, ८२।

६. वही, ८, ८२।

इन्द्रपुर (अर्थात् इन्दौर) की एक "तैलिक श्रेणी" के पास रूपया जमा किया गया, जिसके सूद से सूर्यमन्दिर में दीपक जलाने के लिये तेल का खर्चा चलाया जाता था।[1] दशपुर की "पट्टवाय श्रेणी" के ऊपर सूर्यमन्दिर के पुनरुद्धार का भार था।[2]

व्यापारी—व्यावसायिक विकास के साथ ही वाणिज्य का भी विकास अवश्यम्भावी है, क्योंकि उत्पादित वस्तु का जब तक क्रय-विक्रय न हो, तब तक उसकी कोई भी सार्थकता नहीं है। ग्राम की अपेक्षा नगर, क्रय-विक्रय का अधिक उपयुक्त केन्द्र होता है। यही कारण है कि नगर-जनसंख्या में प्रायः व्यापारियों का प्राधान्य रहता है। यह विशेषता प्राचीन भारत के नगरों में भी देखने को मिलती है। जिन प्राचीन ग्रन्थों में नगरवर्णन मिलते हैं, उनमें बहुधा व्यापारियों का भी उल्लेख मिलता है। रामायण में अयोध्यावर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह नगर अनेक देशों के वणिकों का केन्द्रविन्दु था।[3] महाभारत में इन्द्रप्रस्थ को विदेशी वणिकों का निवासस्थान बताया गया है।[4] मिलिन्दपञ्हो में एक नगर के वर्णन के सम्बन्ध में फल बेचने वाले (फलिका), जड़ी बेचने वाले (मूलिका), भात बेचने वाले (ओदनिका), पूये बेचने वाले (पूविका), मछली बेचने वाले (मच्छिका) तथा मांस बेचने वाले (मांसिका) व्यापारियों का उल्लेख मिलता है।[5] इन्दौर के लेख में वहाँ के रहने वाले वणिकों का उल्लेख किया गया है (इन्द्रपुरक-वणिग्भ्याम्)।[6] नगर-व्यापारी तीन प्रकार के थे:—(१) फेरीवाले, (२) फुटकर-विक्रेता तथा (३) थोक-विक्रेता।

फेरीवाले—फेरीवाले बहुत छोटे व्यापारी थे। उनके पास बहुत कम सामान होता था, जिसको लेकर वे नगर के विभिन्न भागों में घूमते थे। जातक-ग्रन्थों में फेरी वालों के प्रायः वर्णन मिलते हैं। एक जातक में गधे की पीठ पर माल लादकर घूमने वाले व्यापारी का उल्लेख मिलता है।[7] एक दूसरे जातक में अपने सामान

---

१. फ्लीट, का० इं० इं०, ३, ७०।

२. वही, पृष्ठ ८१।

३. "नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्"—बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति २८।

४. "वणिजश्चाययुस्तत्र देशेदिग्भ्यो धनार्थिनः।"—आदिपर्व, अध्याय १८९, पंक्ति ७५।

५. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३२४।

६. फ्लीट, का० इं० इं०, ३, ७०।

७. जातक, २, १०९।

को गाड़ी पर लादकर बस्ती के भीतर फेरी लगाने वाले वणिक् का वर्णन किया गया है।[१] इसी प्रकार एक अन्य जातक में एक युवती सिर पर फल की टोकरी रखे हुए उन्हें बेचने के लिये नगर के विभिन्न भागों में फेरी लगाती हुई निरूपित की गई है।[२] कभी-कभी फेरी वाले आपसी समझौता कर लेते थे। उसके अनुसार लोग यह निश्चित कर लेते थे कि अमुक पुरभाग में अमुक व्यक्ति फेरी लगायेगा।[३] इस प्रकार के समझौते के कारण उनमें किसी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं रह जाती थी।

फुटकर तथा थोकविक्रेता—फुटकर-विक्रताओं की दूकाने एक जगह होती थीं। ये छिटपुट सामान बेंचते थे। पर इसके विपरीत थोकविक्रेता बहुत बड़े व्यापारी हुआ करते थे। वे काफी माल एक ही बार में बेंच देते थे। अष्टाध्यायी में थोकविक्रेता के लिये 'क्रयविक्रयिक' शब्द आता है।[४] अर्थशास्त्र में थोकविक्रेता को "विक्रीण"[५] तथा कहीं-कहीं 'वैदेहक'[६] भी कहा गया है। इस ग्रन्थ में फुटकर-विक्रेता के लिये "वैय्यावृत्यकर" शब्द मिलता है।[७] कभी-कभी फुटकर-विक्रेता थोकविक्रेता से सामान लेकर दूसरे जगहों में बेंचते थे। विक्रय में जो लाभ होता था, उसमें थोकविक्रेता फुटकर-विक्रेता को भाग देता था। इस प्रकार के फुटकर-विक्रेता के व्यापार को अर्थशास्त्र में "वैय्यावृत्यविक्रय" कहा गया है।[८] इस प्रकार का व्यापार अधिक व्यापक रहा होगा, क्योंकि इसमें फुटकर तथा थोकविक्रेता दोनों को ही सरलता थी।

सम्भूयसमुत्थान—कभी-कभी नगर के बड़े तथा छोटे व्यापारी साझापत्ती के सिद्धान्त पर कार्य करते थे। इस प्रकार के व्यापार को स्मृतियों में **"सम्भूय-समुत्थान व्यवहार"** कहा गया है।[९] जातकों में ऐसे व्यापार का उल्लेख कई स्थलों

---

१. जातक, १, २०५।
२. वही, ३, २१।
३. वही, १, १११।
४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २३०।
५. अर्थशास्त्र, प्रकरण ६४।
६. वही, प्रकरण ६४।
७. वही, प्रकरण ६४।
८. वही, प्रकरण ६४।
९. "वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते।
तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ॥"—नारद, ३, १।

पर हुआ है। कूटवणिज जातक से विदित होता है कि वाराणसी के दो व्यापारियों ने साझापत्ती के सिद्धान्त पर व्यापार करना प्रारम्भ किया था।[१] इसी जातक में श्रावस्ती के दो व्यापारियों के सहभागिता के द्वारा व्यापार करने का उल्लेख मिलता है।[२] महावणिज जातक[३] तथा बावेरु जातकों[४] के द्वारा भी सम्मिलित व्यापार की सूचना मिलती है। साझेदार प्रक्षेप में समान, अतिरिक्त तथा हीन अंश के अनुसार क्षय, व्यय तथा वृद्धि में भाग का निर्णय शान्तिपूर्ण ढङ्ग से करते थे।[५] साझेदारों में व्यवहार-सम्बन्धी आपसी समझौता भी होता था, जिसके लिये स्मृतियों में **'समय'** शब्द का प्रयोग किया गया है। इस समझौते का पालन साझेदार का परम कर्तव्य था।[६] साझापत्ती को व्यापारियों के सामूहिक जीवन का एक महत्त्व-पूर्ण अङ्ग माना जा सकता है।

सार्थ—जब एक नगर के व्यापारी दूसरे नगर में सामान बेंचने के लिये निकलते थे, उस समय वे अपना एक समूह बना कर चलते थे। इस समूह को सार्थ कहा जाता था। अमरकोष में सार्थ को यात्रा करने वाले पान्थों का समूह कहा गया है—(सार्थोऽध्वन्वृन्दम्)।[७] इसका एक नेता होता था, जिसे जातकों में "सत्थवाह" कहा गया है।[८] महाभारत में भी सार्थ के नेता को **सार्थवाह** कहा गया है।[९] क्षीरस्वामी ने अमरकोष की टीका में कहा है कि जो पूँजी द्वारा व्यापार करने

---

१. जातक, १, ४०४।

२. वही, १, ४०४।

३. वही, २, ३०।

४. वही, ३, १२६।

५. "फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम्।
आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः॥
समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशो यस्य यादृशः।
क्षयव्ययौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधः॥"—नारद, ३, २-३।

६. "भाण्डपिण्डव्ययोद्धारभारसारान्ववेक्षणम्।
कुर्युस्तेऽव्यभिचारेण समये स्वे व्यवस्थिताः॥"—वही, ३, ४।

७. अमरकोष, पृष्ठ १३३ (हरदत्त शर्मा-सम्पादित)।

८. जातक, १, ९८।

९. "अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते।"
—महाभारत, वनपर्व, ६१, १२२।

वाले पान्थों का अगुआ हो, वही सार्थवाह है।[1] सार्थ का वर्णन जातकों में प्रायः अनेक स्थलों पर मिलता है। जरुदपन जातक से विदित होता है कि गाड़ियों में भाण्डों को भरकर श्रावस्ती के व्यापारियों का एक लम्बा सार्थ निकला था।[2] गुट्टिल-जातक के अनुसार वाराणसी के व्यापारियों ने उज्जयिनी के लिये अपना एक समूह बनाकर प्रस्थान किया था।[3] पण्डर जातक में भी इस प्रकार की व्यापार-मण्डली का उल्लेख मिलता है।[4] सुप्पारक जातक के अनुसार सात सौ व्यापारियों का एक लम्बा जत्था व्यापार के लिये बाहर निकला था।[5]

महाभारत के वनपर्व में एक महासार्थ का वर्णन मिलता है, जो जङ्गलों से होकर जा रहा था। इस महासार्थ में हाथी, घोड़े तथा रथों का बाहुल्य था।[6] उसमें गाय, खरोष्ट्र, अश्व तथा पैदल चलने वालों की बहुसंख्या थी।[7] उसमें युवक, स्थविर, बालक तथा स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं।[8] विशालता के कारण वह महासार्थ मनुष्यों का समुद्र सा प्रतीत हो रहा था।[9] सार्थमण्डल के सदस्य अत्यन्त समृद्ध थे[10] तथा **सार्थिक** कहलाते थे।[11] यात्राकाल में सार्थ का नेता ही सार्थ का स्वामी होता था।[12] इस महासार्थ को जब हाथियों के समूह ने कुचलना प्रारम्भ किया, उस समय

---

१. "सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहति सार्थवाहः"
—अमरकोष, पृष्ठ २१७ (हरदत्त शर्मा-सम्पादित)।

२. जातक, २, २९४।

३. वही, २, २४८।

४. वही, ५, ७५।

५. वही, ४, १३६।

६. "ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसङ्कुलम्"
—महाभारत, वनपर्व, ६१, १०६।

७. "गोखरोष्ट्राश्वबहुलपदातिजनसङ्कुलम्"—वही, वनपर्व, ६२, ९।

८. "सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन।
यूनः स्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः॥"
—वही, वनपर्व, ६२, पंक्ति ३४-३५।

९. "योऽपि निर्जनेऽरण्ये सम्प्राप्तो यं जनार्णवः"—वही, वनपर्व, ६१, १२।

१०. वही, वनपर्व, ६२, १७।

११. वही, वनपर्व, ६२, ८।

१२. "तामुवाचानवद्याङ्गी सार्थस्य महतः प्रभुः।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः॥"—वही, वनपर्व, ६१, १२१।

सार्थिकों में भगदड़ मच गई। खलबली के कारण चारों ओर भीषण जनरव मच गया।[१] इस शोरगुल का कारण सार्थिकों की महती संख्या ही मानी जा सकती है। सार्थिक, सार्थ में सामूहिक जीवन के पाने के कारण बहुत ही सुखी थे। वे मण्डली में बहुत बड़ी सुरक्षा तथा आनन्द का अनुभव करते थे। महाभारत में कहा गया है कि सार्थ, सार्थिक का उसी प्रकार मित्र है, जिस प्रकार घर पर गृहस्थ का मित्र उसकी भार्या है।[२]

निगम तथा श्रेष्ठी—व्यावसायिक समितियों के समान ही व्यापारिक समितियाँ भी होती थीं, जिन्हें निगम कहा जाता था। निगम के प्रधान को सेट्ठि (श्रेष्ठी) कहा जाता था। जातकों में श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक तथा कौशाम्बी के घोषित एवं अन्य नगर-श्रेष्ठियों के नाम मिलते हैं। विशिष्ट अवसरों पर नगरश्रेष्ठी के साथ उसकी समिति के सम्मानित सदस्य भी प्रस्तुत रहते थे। जिस समय अनाथ-पिण्डिक जेतवन को बौद्धविहार को दान में दे रहा था, उस समय उसके साथ उसकी समिति के ५०० व्यापारी उपस्थित थे। श्रेष्ठी अतुल धनराशि का स्वामी माना जाता था। एक जातक में किसी नगर-श्रेष्ठी को अस्सी करोड़ का स्वामी बताया गया है।[३] साकेत के श्रेष्ठी कालक की सम्पन्नता की ओर प्रकाश डालते हुए एक जातक में कहा गया है कि उसने जीवक नामक वैद्य की सेवाओं से प्रसन्न होकर इसे १६०० कार्षापणों की थैली भेंट की थी।

श्रेष्ठी का सम्मान व्यापारी और राजा दोनों ही करते थे। एक जातक के अनुसार उसका आदर राजा, नागरिक तथा जनपद के सभी लोग करते थे—(राज-पूजितो नगरजनपदपूजितो)।[४] एक दूसरे जातक में यह दिखाया गया है कि जब एक श्रेष्ठी को प्राणदण्ड देना निश्चित किया गया, उस समय समस्त व्यापारी तथा नागरिक राजा के पास प्रार्थना करने के लिये उपस्थित हुए।[५] श्रेष्ठी भी सर्वदा अपनी समिति के सदस्य व्यापारियों के लाभ के लिये कार्य करता था।[६] वह राज्य के लिये भी उपकारी हुआ करता था। एक जातक में वर्णन मिलता

---

१. "हाहारवं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः"—वही, वनपर्व, ६२, ८।

२. "सार्थं प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः।"

—महाभारत, वनपर्व, २९७, ४५।

३. जातक, १, ३४५।

४. जातक, ५, ३८२।

५. जातक, ६, १३५।

६. "बहूपकारो... नेगमस्स च"—विनयपिटक, १, २७३।

है कि राजा के कल्याण के लिये किसी श्रेष्ठी ने अपना समस्त धन उसे अर्पित कर दिया था।[1] इसका पद सम्भवतः आनुवंशिक था, क्योंकि एक जातक में कहा गया है कि किसी श्रेष्ठी की मृत्यु के उपरान्त छठी पीढ़ी तक के उत्तराधिकारी उसके पद पर क्रमशः विद्यमान थे।[2] उसकी योग्यता, उपयोगिता तथा उच्च स्थान को देखते हुए कभी-कभी उसे शासनसमितियों में भी स्थान दिया जाता था। दामोदरपुर के लेख से ज्ञात होता है कि धृतिपाल नामक एक नगरश्रेष्ठी उस समिति का एक सदस्य था, जो कि कुमारामात्य वेत्रवर्मा को सहायता पहुँचाती थी।[3]

---

१. जातक, ५, १८५।

२. जातक, ५, ३८४।

३. एपिग्राफिआ, इण्डिका, १५, १३३।

अध्याय १३

नगरों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन

प्राचीन नगर-समाज को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:—(१) उच्च वर्ग तथा (२) निम्न वर्ग। उच्च वर्ग में राजकुल, अधिकारिमण्डल, व्यावसायिक तथा धनिक श्रेष्ठी आदि उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग का जीवन नगर के सांस्कृतिक जीवन का वास्तविक प्रतिनिधि था। इसके सदस्य सुशिक्षित एवं धनिक होने के कारण अधिक सभ्य थे। सम्भवत: इन्हीं के जीवन को लक्ष्य में रखते हुए वात्स्यायन ने आदर्श नागरिक जीवन (**नागरकवृत्त**) का वर्णन किया है। इनके सामाजिक जीवन के निरूपण के सम्बन्ध में कतिपय विषयों का विवेचन इस परिच्छेद में विशेष रूप से आवश्यक है; उदाहरणार्थ **अन्नपान, वेशभूषा, अलङ्कार-प्रसाधन, ललितकला, वाहन, मनोविनोद, उत्सव, पर्दा, स्वयंवरण** तथा कतिपय **लोक-विश्वास।** निम्न वर्ग में दास, चण्डाल, चोर, वेश्या तथा कुट्टनी आदि आते हैं। इनके जीवन की गणना नगर के घृणित जीवन में की जा सकती है, क्योंकि इनकी प्रथाएँ तथा नैतिक आदर्श शोचनीय थे।

अन्नपान—धनिक नागरिक का अन्नपान उच्च था। उसके घर में एक भोजनशाला बनी होती थी, जिसे **महानस** कहा जाता था। महानस में विभिन्न प्रकार के खाद्यपदार्थों का प्रसाधन एवं परिकल्पन किया जाता था। मृच्छकटिक में महानस का मनोरम वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार उसमें निर्धन मनुष्यों के जी को ललचा देने वाली हींग तथा तेल की गन्ध आ रही थी। भाँति-भाँति के सुगन्धित उद्‌गारों को लिये हुये रसोईघर का धुआँ इसके विभिन्न द्वारों से निकल रहा था। इसमें रसोइया नाना प्रकार के व्यञ्जन बना रहा था। कहीं लड्डू (मोदक) बाँधे जा रहे थे तथा कहीं पूये (अपूपक) बाँधे जा रहे थे।[1] नगर-समाज में शाकाहार का प्रचार विशेष था। फाहियान ने सम्भवत: इस ओर ही सङ्केत करते हुए लिखा है कि सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज ही खाता है। केवल चण्डाल ही ऐसा करते हैं। जनपद में लोग न

---

१. **मृच्छकटिक, अङ्क ४।**

तो सूअर और मुर्गी पालते हैं और न जीवित पशु ही बेंचते हैं।[१] शाकाहार में चावल, यव, गेहूँ, दाल, फल, दूध, घी तथा मक्खन बहुत अधिक प्रचलित थे। शालि,[२] महाशालि,[३] कलम,[४] महाव्रीहि[५] तथा यवक[६] नामक चावलों का व्यापक प्रयोग था। पके हुए चावल को ओदन एवं भक्त तथा यव को यवागु कहा जाता था। मक्खन को लोग नवनीत[७] तथा हैयङ्गवीन[८] कहते थे। गुडविकार,[९] पयश्चरु[१०] तथा मत्स्यण्डिका[११] आदि मोदकों का विस्तृत प्रचार था। एला[१२] तथा लवङ्ग[१३] नामक मसाले अत्यधिक प्रिय थे। भोजन को रुचिकर बनाने के लिये शाक[१४] (हरित) तथा भाजी[१५] (पक्व) आदि प्रयोग में लाये जाते थे। यद्यपि मांस-भक्षण गर्हित समझा जाता था, तथापि कतिपय वर्गों में इसका प्रचार वर्तमान था--उदाहरणार्थ, राजवर्ग इसका प्रेमी था। अशोक के प्रथम गिरिनार-लेख से विदित होता है कि उसके महानस में पहले (अर्थात् जब वह अहिंसावादी नहीं हुआ था) जानवर सैकड़ों की संख्या में एक ही बार काट डाले जाते थे।[१६] राजा के भोजनालय के सामानों में बाण ने शूकर के चमड़े के फीते से बँधे हुए बकरे, हरिण तथा चटकों के समूह का उल्लेख किया है।[१७]

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ४३।

२. रघुवंश, १७, ५३।

३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १२०।

४. वही, पृष्ठ १२०।

५. वही, पृष्ठ १२०।

६. वही, पृष्ठ १२०।

७. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क ३, पृष्ठ ८७।

८. रघुवंश, १, ४५।

९. ऋतुसंहार, ५, १६।

१०. रघुवंश, १०, ५१।

११. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क ३, पृष्ठ ६६।

१२. रघुवंश, ५, ४७।

१३. कुमारसम्भव, ८, २५।

१४. द्रष्टव्य, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १२७।

१५. वही, पृष्ठ १२७।

१६. "पुरा महानसम्हिदेवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि प्राण-सतसहसानि आरभिसु सूपाथाय।" का० इं० इं०, १, पृष्ठ १।

१७. हर्षचरित, पृष्ठ ११०।

मांसाहार निम्न वर्ग का भी प्रिय भोजन था। भोजन में स्वच्छता को प्रधानता दी जाती थी। य्वान् च्वाङ्ग ने लिखा है कि प्रत्येक समय भोजन के पूर्व भारत के लोग मुख-प्रक्षालन करते थे। उच्छिष्ट तथा अवशिष्ट अखाद्य समझा जाता था। मद्भाण्ड तथा काष्ठनिर्मित पात्र को एक बार के प्रयोग के उपरान्त फेंक दिया जाता था। स्वर्ण, रजत तथा लौह पात्रों की स्वच्छता अनिवार्य समझी जाती थी। भोजनोपरान्त शुद्धता के लिये दन्तमार्जन किया जाता था। शौच के उपरान्त एक दूसरे का स्पर्श वर्जित समझा जाता था।[१]

वेशभूषा––धनिक नागरिकों की वेशभूषा में पगड़ी, टोपी, कोट, दुपट्टा, पाजामा तथा जूता उल्लेखनीय हैं। राजवर्ग में पगड़ी का अधिक प्रयोग होता था। जिस वस्त्र की पगड़ी ये लोग बाँधते थे, उसमें विभिन्न प्रकार के बेलबूटे काढ़े जाते थे तथा पत्तियों का काम किया जाता था।[२] साफे में झालरें लटकाई जाती थीं तथा उन्हें आभूषणों से युक्त किया जाता था।[३] राजा पगड़ी के ऊपर एक पट्ट बाँधते थे, जो सोने का बना होता था। बाण ने उसे उष्णीषपट्ट कहा है।[४] सजी पगड़ी का प्रयोग धनिक नागरिकों में भी व्यापक था।[५] गुप्तमुद्राओं से विदित होता है कि भारतीय नरेश पगड़ी के स्थान पर कभी-कभी टोपी भी पहनते थे।[६] शिरोभूषण के रूप में यह श्रृङ्गारप्रेमी नागरिकों के द्वारा भी धारण की जाती थी।[७] गुप्तमुद्राओं पर भारतीय शासक कोट पहने हुए अङ्कित किये गये हैं।[८] इससे ज्ञात होता है कि ये लोग कोट पहनते थे। बाण ने कोट के लिये 'चोलक' शब्द का प्रयोग किया है। इसको लोग सब प्रकार के नीचे के वस्त्रों के ऊपर धारण करते थे।[९] कभी-कभी उत्तरीय वस्त्र के रूप में दुपट्टा धारण किया जाता था। राजकुल के लोग रेशमी वस्त्र का दुपट्टा ओढ़ते थे। बाण ने हर्ष को रेशमी वस्त्र का दुपट्टा (दुकूल) धारण किये हुए चित्रित किया है। इसके ऊपर राजहंस के जोड़े चित्रित किये गये

---

१. वाटर्स, १, १५२।
२. भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ ६५।
३. वही, पृष्ठ ६६।
४. हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १५५।
५. वही, पृष्ठ १५५।
६. एलन, गुप्तसिक्के, पृष्ठ ३८७।
७. भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ २९५।
८. एलन, गुप्तसिक्के, प्लेट संख्या १।
९. हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १५१।

थे।[१] इस पर रजकों ने तारागणों के चित्रों को बनाया था, जिसके कारण इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी।[२] एक मुद्रा पर समुद्रगुप्त की उत्कीर्ण मूर्ति चूड़ीदार पाजामा पहने हुए दिखाई गई है।[३] इससे स्पष्ट है कि भारतीय नरेश पाजामा पहनते थे। बाण ने "स्वस्थान" शब्द का उल्लेख पाजामे के अर्थ में किया है। यह एक तङ्ग मोहरी का पाजामा होता था, जो पिंडलियों पर कसा रहता था।[४] राजवर्ग के लोग रेशमी धोती पहनते थे। बाण ने हर्ष को दुकूल की धोती पहने हुए दिखाया है।[५] धनिक नागरिक की धोती भी काफी बहुमूल्य तथा सुन्दर हुआ करती थी। कादम्बरी में एक नागरिक की धोती का उल्लेख किया गया है, जो अमृतफेन के समान धवल थी, जिस पर हंसमिथुन के चित्र सुशोभित थे तथा जो वायु-वेग के कारण फड़फड़ा उठती थी।[६] गुप्तमुद्राओं पर भारतीय नरेश जूते पहने हुए दिखाये गये हैं। धनिक नागरिक भी जूते पहनते थे, जो आकार की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के थे।[७]

पुरसुन्दरियों की वेशभूषा में साड़ी, लहँगा, चादर तथा चोली उल्लेखनीय हैं। साड़ी एँड़ी तक पहुँचती थी।[८] साड़ी कभी सकच्छ तथा कभी बिना कच्छ के ही हुआ करती थी।[९] लहँगा के पहनने की प्रथा प्रचलित थी।[१०] सभ्य कुल की महिलाएँ अधिकतर चादर ओढ़ती थीं। बाण ने स्त्री-समाज में प्रयुक्त होने वाली एक चादर का उल्लेख किया है, जो विविध प्रकार के पुष्पों से अङ्कित थी तथा जो मन्द वायु के झोकों से तरङ्गित हो रही थी।[११] सिर किनारेदार ओढ़नियों से ढका जाता था।[१२]

---

१. "परिधान राजहंस-मिथुन-लक्ष्मणि-सदृशे-दुकूले।"—हर्षचरित, पृष्ठ १९८।

२. "सतारागणेनोपकृतेन।"—हर्षचरित, पृष्ठ ५९।

३. एलन, वही, फलक ५।

४. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १४८।

५. वही, पृष्ठ १९८।

६. "अमृतफेनधवलेगोरोचनालिखितहंसमियुनसनाथपर्यन्ते-चारुचमर-प्रनर्तित-दशे"—कादम्बरी, पृष्ठ १९।

७. भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ १७२।

८. वही, पृष्ठ ६९।

९. वही, पृष्ठ ८१।

१०. वही, पृष्ठ १२५।

११. "बहुविधकुसुमशकुनिशत-शोभितापवन - चलितस्तनु - तरङ्गादितस्वच्छा-दंशुकात्"—हर्षचरित, पृष्ठ ९६।

१२. भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ ८१।

शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये एक चोली रहती थी, जिसे "कूर्पासक" कहा जाता था। इसमें आस्तीन कोहनियों से ऊपर रहती थी। कूर्पासक नाम पड़ने का यही कारण था।[१] बालरामायण से ज्ञात होता है कि पुरसुन्दरियों के समस्त वस्त्र बहुत ही सुन्दर हुआ करते थे। इसमें कहा गया है कि कान्यकुब्ज की ललनाओं की वेशभूषा चतुर्दिक् आदर्श समझी जाती थी।[२]

आभूषण—नागरिकों के अलङ्कार-प्रसाधन में आभूषण उल्लेखनीय हैं। पुरुषवर्ग में केयूर,[३] अङ्गुलीयक[४] तथा वलय[५] नामक आभूषण धारण किये जाते थे। आभूषणों का विशेष प्रचार प्रधानतः स्त्रीवर्ग में था। आभूषणों को बिना धारण किये हुए स्त्रियों का पति के सामने आना दोषपूर्ण समझा जाता था।[६] वे बालों को तितर-बितर होने से बचाने के लिये उनके ऊपर जाली (जालिका) लगाती थीं। बाणभट्ट के अनुसार थानेश्वर की स्त्रियों में यह प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी।[७] कान में **कर्णाभूषण**[८], **कर्णपूर**[९] तथा **बालिका**[१०] नामक आभूषण धारण किये जाते थे। **मालिका**[११], **मुक्तावली**[१२], **हार**[१३] तथा **यष्टि**[१४] आदि का प्रयोग कण्ठाभूषण के रूप

---

१. हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १५२।

२. "यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां वा सूक्तिमुद्राक्रमे।
भङ्गिर्याकवरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च॥
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकेरिहान्यच्च यच्च-
छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः॥"
—बालरामायण, १०, ९०।

३. रघुवंश, ६, ६८।

४. कामसूत्र, पृष्ठ २९२, सूत्र २०।

५. मेघदूत, (पूर्व), २।

६. "नायकस्य च न विमुक्ताभूषणां विजने सन्दर्शने तिष्ठेत।"
—कामसूत्र, पृष्ठ २२६, सूत्र १३।

७. हर्षचरित, पृष्ठ ८३।

८. रघुवंश, ६, ६५।

९. वही, ७, २७।

१०. हर्षचरित, पृष्ठ २६१।

११. वही, पृष्ठ २६१।

१२. रघुवंश, १३, ४८।

१३. वही, ५, ७०।

१४. ऋतुसंहार, १, ८।

में किया जाता था। **केयूर**[1] तथा **कटक**[2] का प्रयोग भुजबन्ध के रूप में होता था। करधनी को **रसना**[3], **मेखला**[4], **हेममेखला**[5], **कांची**[6] तथा **कनककिङ्किणी**[7] कहा जाता था। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि आभूषणों को पहनने का अधिकार केवल सधवा को ही था। विधवा तथा प्रोषितभर्तृका आभूषण नहीं धारण करती थीं। पतिप्रवासिनी स्त्री अधिक से अधिक शङ्ख की एक चूड़ी पहन सकती थी।[8]

केशविन्यास—पुरललना के शृङ्गार-साधन का एक अभिन्न अङ्ग केशविन्यास भी था। वह अपने बालों को पहले स्नान के द्वारा स्वच्छ कर लेती थी तथा उसके उपरान्त तेल से उन्हें सुगन्धित करती थी।[9] इस क्रिया के पश्चात् वह अपने केश को काढ़ कर एक सुन्दर चोटी गाँछ देती थी। चोटी को वेणी कहा जाता था। वेणी प्रायः एक ही हुआ करती थी। कालिदास ने शकुन्तला को एक ही वेणी धारण किये हुए चित्रित किया है।[10] लम्बे केश वाली स्त्रियों के बाल प्रायः बिना वेणी के कमर तक लटकते रहते थे।[11] कभी-कभी खुले केशों को समेटकर माथे पर जूड़ा बाँधा जाता था। बाण ने इसी को **"ललाटजूटक"** कहा है।[12] केशपाश को सुसज्जित करने के लिये कभी-कभी जगह-जगह पर उसमें फूल खोंस दिये जाते थे। कालिदास ने केशपाश में मन्दार[13] तथा नवमल्लिका[14] पुष्पों के लगाने का उल्लेख किया है।

---

१. हर्षचरित, पृष्ठ २६१।
२. वही, पृष्ठ २६१।
३. रघुवंश, ७, १०।
४. ऋतुसंहार, ६, ३।
५. वही, १, ६।
६. रघुवंश, ६, ४३।
७. ऋतुसंहार, १३, ३३।
८. "एकं शङ्खवलयं वा धारयेत्॥"—कामसूत्र, पृष्ठ ३१५।
९. "शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः।"—ऋतुसंहार, १, ४।
१०. "धृतैकवेणिः"—शाकुन्तलम्, अङ्क ७।
११. "शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः"
—ऋतुसंहार, २, १८।
१२. हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०।
१३. रघुवंश, ६, ६।
१४. वही, ६, २३।

स्त्रियाँ अन्य पुष्पों के द्वारा भी बालों को अलङ्कृत करती थीं।[१] शोक के अवसर पर केश-प्रसाधन निषिद्ध था।[२]

सुगन्धित द्रव—धनिक नागरिक सुगन्धित द्रवों का प्रयोग करते थे। इनके द्वारा वस्त्रों को सुवासित किया जाता था। सौन्दरनन्द काव्य में कहा गया है कि कपिलवस्तु की स्त्रियाँ अपने वस्त्रों को सुगन्धित द्रवों के द्वारा वासयुक्त करती थीं।[३] ललितविस्तर में उल्लेख मिलता है कि पुरललनाएँ अपने वस्त्रों के ऊपर सुगन्धित तेल का छिड़काव करती थीं।[४] इस ग्रन्थ में ऐसे घड़ों का उल्लेख किया गया है, जिनमें सुगन्धित जल भरा गया था। वस्त्रों को सुवासित करने के लिये उन्हें भली-भाँति इनमें भिगो लिया जाता था।[५] तेल और सुरभियुक्त जल के अतिरिक्त अनुलेप का प्रयोग भी सुगन्धित द्रव के रूप में किया जाता था। सौन्दरनन्द में कहा गया है कि कपिलवस्तु की स्त्रियाँ पीसकर सुगन्धित अनुलेप तैयार कर रही थीं।[६] विशेषतः चन्दन के अनुलेप को व्यवहार में लाया जाता था, क्योंकि चन्दन सुरभियुक्त हुआ करता है। उज्जयिनी की वेश्या वसन्तसेना के घर में चन्दन को घिस कर उसका सुगन्धित अनुलेप तैयार किया जा रहा था।[७] स्त्रियाँ अपने अवयवों को चन्दन के अनुलेप से चर्चित करती थीं।[८] अन्य अनुलेपों में कालीयक का अनुलेप तथा कालागरु का अनुलेप उल्लेखनीय है। विशेषतः स्त्रियाँ कालीयक के अनुलेप से शरीर के विभिन्न भागों को चर्चित करती थीं।[९] कभी-कभी एक ही समय कई अनुलेप चढ़ाये जाते थे, उदाहरणार्थ चन्दन तथा कालागरु के अनुलेप।[१०] अनुलेप का प्रयोग मात्रा में किया जाना अधिक शोभनीय माना जाता था।[११] स्त्रियाँ कभी-कभी कालागरू के घूँटों से केशपाश तथा वस्त्रों को सुगन्धित करती थीं तथा इस रूप में प्रियतम

---

१. **"पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः"—वही, २, २२।**
२. **मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क ५।**
३. **"वासोऽङ्गना काचित् अवासयच्च"—सौन्दरनन्दकाव्य, ४, २६।**
४. **"दिव्यगन्धपरिवासिततैलपरिगृहीतानि"—ललितविस्तर, १५, २१८।**
५. **"विविधगन्धोदकपूर्णघटपरिगृहीतैः"—वही, १५, २१८।**
६. **"काचित् पिपेषान्तर्विलेपनम्"—सौन्दरनन्दकाव्य, ४, २६।**
७. **"विशेषेण घृष्यन्ते चन्दनरसः"—मृच्छकटिक, अङ्क ४।**
८. **"पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चिताम्"—ऋतुसंहार, १, ९।**
९. **"गात्राणि कालीयकचर्चितानि"—वही, ४, ५।**
१०. **"कालागरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः"—वही, २, २२।**
११. **"मात्रयाऽनुलेपनम्"—कामसूत्र, पृष्ठ १७३, सूत्र १४।**

से मिलने जाती थीं।[1] श्रृङ्गारिक नागरिक भी प्रिया की प्रसन्नता के लिये पुष्पों की माला धारण करते थे[2] तथा ताम्बूलसेवन के द्वारा मुखवास को सुगन्धित रखते थे।[3]

अङ्गराग—अङ्गराग भी स्त्रीसमाज के शृंगार का एक प्रिय प्रसाधन था। यह प्रथा स्त्री-समाज में विशेष रूप से व्यापक थी। अङ्गराग के लगाने की क्रिया को **रञ्जन** कहा जाता था। अङ्गराग पाँच स्थानों पर चढ़ाया जाता था—(१) नेत्र, (२) अधर, (३) दाँत, (४) पयोधर तथा (५) चरण। भरतमुनि ने नेत्र, अधर तथा दाँत पर अङ्गराग लगाने की क्रिया को क्रमशः **नेत्ररञ्जन, अधररञ्जन,** तथा **दन्तरञ्जन** कहा है।[4] ऋतुसंहार में स्तनों पर चढ़ाये गये हुए अङ्गराग को स्तनाङ्गराग कहा गया है।[5] इस ग्रन्थ में चरणों के ऊपर भी अङ्गराग के चढ़ाने का उल्लेख किया गया है।[6] दो प्रकार के अङ्गराग विशेष रूप से प्रचलित थे—(१) कुङ्कुमराग तथा (२) लाक्षारसराग। कालिदास ने स्तनों के ऊपर कुंकुमराग लगाने का उल्लेख कई स्थलों पर किया है।[7] ऋतुसंहार से विदित होता है कि कुंकुमराग गौरवर्ण का होता था—(**कुंकुमरागगौरैः**)।[8] लाक्षारस का अङ्गराग प्रायः अधर एवं चरणों पर लगाया जाता था। यह लाल होता था।[9] लाक्षारसराग को अलक्तक राग भी कहा जाता था। कुमारसम्भव में कहा गया है कि पार्वती के ओठ अलक्तक से लाल थे—(**अलक्तकपाटलेन**)।[10]

ललितकला—ललितकला में निपुणता की गणना सभ्य नागरिक के लक्षणों में होती थी। वात्स्यायन ने कला के क्षेत्र में प्रत्येक नागरिक का दक्ष होना

---

१. "शिरांसि कालागरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय"
—ऋतुसंहार, १, ५।

२. "धूपं स्रजमिति गृहीत्वा"—कामसूत्र, पृष्ठ ४५।

३. "गृहीतमुखवासताम्बूलः कार्य्यान्यनुतिष्ठेत्"—वही, पृष्ठ ४५।

४. "नेत्रयोरञ्जनं कार्यमधरस्य च रञ्जनम्।
दन्तानां विविधा रागाश्चतुर्णा शुल्कता तथा।।"—नाट्यशास्त्र, २३, ३०।

५. ऋतुसंहार, ५, १२।

६. वही, १, ४।

७. "पयोधरैः कुंकुमरागपिञ्जरैः"—ऋतुसंहार, ५, ९।

८. वही, ६, ५।

९. "लाक्षारसरागलोहितैः ... चरणैः"—वही, १, ५।

१०. कुमारसम्भव, ५, ३४।

आवश्यक माना है।[१] उच्चकुल की महिलाएँ बहुधा कला-प्रवीणा होती थीं। ललितविस्तर से विदित होता है कि राजकन्या गोपा, कला में बहुत निपुण थी।[२] इस प्रकार की कुमारियों का विवाह प्रायः समान योग्यता वाले वर के साथ किया जाता था। गोपा के विवाह के अवसर पर उसके पिता कहते हैं—"मेरे कुल की परम्परा यह है कि कला में निपुण व्यक्ति के साथ ही पुत्री का विवाह किया जाय, न कि कला के ज्ञान से वञ्चित व्यक्ति के साथ। कुमार सिद्धार्थ कलाज्ञान से रहित हैं। ऐसी दशा में मैं अपनी कलानिपुणा पुत्री का उनके साथ कैसे विवाह कर दूँ" ?[३]

सङ्गीत—सङ्गीत की गणना ललितकला में होती थी। इसका प्रचार नागरिकों में विशेष रूप से था। भारतीय शासक भी उसके प्रेमी थे—उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त। प्रयाग की प्रशस्ति में कहा गया है कि उसने सङ्गीत के ज्ञान में निपुणता के कारण इन्द्र के गुरु नारद तथा तुम्बुरु को भी लज्जित किया था, जो कि सङ्गीत के आचार्य माने जाते थे।[४] वात्स्यायन ने सङ्गीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य माना है।[५] नगरों में सङ्गीत की शिक्षा देने के लिये कलाभवन बने रहते थे। मालविकाग्निमित्र में इस प्रकार के एक कलाभवन का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार गणदास नामक आचार्य सङ्गीत की शिक्षा देते थे।[६]

सङ्गीत में गीत के साथ-साथ वाद्य का भी सामञ्जस्य रहता था। वाद्यों में वीणा, वेणु तथा मृदङ्ग अधिक प्रिय थे। भास के चारुदत्त नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न बताया गया है।[७] कालिदास ने हृदयङ्गम ध्वनि करने वाली वीणा को विलासी अग्निवर्ण की गोद को अशून्य करनेवाली कहा है।[८] वेणु की प्रशंसा करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि यह वाद्य प्रियतमा को

---

१. "विविधशिल्पज्ञो"—कामसूत्र, ३०२, सूत्र १२।

२. ललितविस्तर, १२, पृष्ठ १४४।

३. "अस्माकं चायं कुलधर्मः शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति कुमारश्च न शिल्पज्ञः. . .तत्कथमशिल्पज्ञायाहं दुहितां दास्यामि"—ललितविस्तर. १२, १४३।

४. "व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः"—का० इं० इं०, ३, ६।

५. कामसूत्र, पृष्ठ ९२।

६. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क १।

७. "वीणा नाम समुद्रोत्थितं रत्नम्"—चारुदत्त, अङ्क ३।

८. रघुवंश, १९, १३।

आकर्षित करने का मूल मन्त्र है।[१] ललितविस्तर में कहा गया है कि पुरसुन्दरियाँ वेणु का अभ्यास करती थीं।[२] बुद्धचरित में सभ्य महिलाएँ सङ्गीत के अवसर पर मृदङ्ग बजाती हुयी दिखायी गई हैं।[३] इन वाद्यों के अतिरिक्त **भेरी, पणव** तथा **तूण** आदि का भी विस्तृत प्रचार था। ललितविस्तर में कहा गया है कि कपिलवस्तु की स्त्रियाँ इनके वादन में परम निपुण थीं।[४] धनिक व्यक्तियों के घरों में सङ्गीतशाला बनी होती थी, जहाँ विभिन्न वाद्यों का अभ्यास किया जाता था। वसन्तसेना के भवन की सङ्गीतशाला का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इनमें युवतियों के कोमल-करों से बजाये जाते हुए मृदङ्ग मेघ के समान गम्भीर शब्द कर रहे थे। क्षीणपुण्या गगनतारिका के समान कांस्यताल के गिरने का शब्द भी हो रहा था। मधुकर की मधुर गुञ्जार के समान बाँसुरी अत्यन्त मधुरता के साथ बजाई जा रही थी।[५]

चित्रकला—चित्रकला को प्राचीन ग्रन्थों में **चित्रकर्म्मरचना**,[६] **चित्रकर्म्म**[७] तथा **आलेख्य**[८] कहा गया है। इसका ज्ञान सभ्य नागरिक का लक्षण माना जाता था। इसकी गणना वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं में की है।[९] चित्रकला की शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे। उत्तररामचरित में अर्जुन नामक एक चित्रकार का उल्लेख मिलता है, जो कि चित्रकला की शिक्षा देता था।[१०] नगरों में चित्रशालाएँ

---

१. "वंशं वादयतो या शब्दं शृणोति सा वश्या भवति"—कामसूत्र, पृष्ठ ३७९, सूत्र ४३।

२. "नार्यो मदितमनाः प्रसन्नचित्ताः वेणुभ्यो मधुरमनोरमं रमन्ते"—ललितविस्तर, १३, १६२।

३. "नारिकराग्राभिर्हतैः मृदङ्गैः"—बुद्धचरित, २, ३०।

४. ललितविस्तर, ५, ३०।

५. "युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदङ्गाः।
क्षीणपुण्या गगनतारिका इव निपतन्ति कांस्यतालाः।
विरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः... प्रणयकुपिता—
कामिनीवाङ्कारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा"।
—मृच्छकटिक, अङ्क ४।

६. मुद्राराक्षस, अङ्क २।

७. कामसूत्र, पृष्ठ २९२, सूत्र २०।

८. वही, पृष्ठ ३२।

९. वही, पृष्ठ ३२।

१०. "आर्य ! अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टम्"—उत्तररामचरित, अङ्क १।

बनी होती थीं, जिनकी दीवालों पर तरह-तरह के चित्र बने होते थे। मालविकाग्निमित्रम् में इस प्रकार की एक चित्रशाला का उल्लेख मिलता है।[1] कादम्बरी में चित्रशालाओं के उल्लेख मिलते हैं; जिनमें देव, दानव, सिद्ध तथा गन्धर्वों के चित्र बने हुए थे।[2] नाट्यशास्त्र में चित्रशाला की दीवालों के ऊपर चित्र बनाने का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार चित्रशाला की दीवालों को भली भाँति साफ कर उन्हें बराबर बना दिया जाय तथा उन पर विभिन्न प्रकार के लेप चढ़ा दिये जायँ और इसके उपरान्त विभिन्न प्रकार के विषयों का चित्रण किया जाय।[3] नागरिक चित्रनिर्माण का अभ्यास फलक पर करते थे, जिन्हें 'चित्रफलक' कहा जाता था।[4] शाकुन्तल में दुष्यन्त अपनी वल्लभा का चित्रण फलक पर करते हुए दिखाये गये हैं। इसके सौन्दर्य को देखकर सानुमती कहती है कि जरा राजर्षि की चित्रकला की निपुणता को तो देखो। लगता है, जैसे मेरी सखी शकुन्तला सामने खड़ी है।[5] नागरिक के पास एक पेटी हुआ करती थी, जिसमें विभिन्न प्रकार के रंग तथा चित्रनिर्माण के उपकरण भरे रहते थे। वात्स्यायन ने इसे प्रतोलिका कहा है। उन्होंने इसे प्रिया को उपहार के स्वरूप में देने का सन्देश दिया है।[6] चित्रकला के उपकरणों में वर्तिका एवं तूलिका उल्लेखनीय हैं। वर्तिका के द्वारा खाका खींचा जाता था तथा तूलिका के द्वारा लोग उसमें रङ्ग भरते थे।[7] चित्र-निर्माण में विशेषतया लाल, पीला, नीला तथा श्वेत रङ्ग प्रयुक्त होते थे।[8] चित्रकला में स्वाभाविकता तथा पूर्णता लाने के लिये चित्र की पृष्ठभूमि में प्राकृतिक

---

१. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क १।

२. कादम्बरी, पृष्ठ २१०।

३. "भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः।
समासु जातशोभासु चित्रकर्म्म प्रयोजयेत्॥
चित्रकर्म्मणि चालेख्याः पुरुषास्त्रीजनस्तथा।
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम्॥"

—नाट्यशास्त्र, अध्याय २, ७२-७४।

४. शाकुन्तलम्, अङ्क ६।

५. "अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तते।"

—शाकुन्तलम्, अङ्क ६।

६. "प्रतोलिकानां. . .दानम्"—कामसूत्र, पृष्ठ २०४।

७. "उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्।"—कुमारसम्भव, सर्ग ७।

८. "पीतासितारिक्तसितैः"—वही, सर्ग १५।

विषयों को चित्रित किया जाता था। शाकुन्तल में दुष्यन्त प्रेयसी की चित्रभूमि पर मालिनी नदी, हंसमिथुन, पर्वतश्रृंखला तथा कृष्णमृग की जोड़ी को चित्रित करने की कामना करते हैं।[1]

यान——धनिक नागरिक पालकी, प्रवहण, रथ, घोड़े तथा हाथी का उपयोग यान के रूप में करते थे। पालकी को रघुवंश में **'चतुरस्रयान'** कहा गया है। इन्दुमती 'चतुरस्रयान' पर चढ़कर स्वयंवर में पतिवरण के लिये आयी थी। उसमें चार मनुष्य कन्धा लगाये हुए थे।[2] मृच्छकटिक से विदित होता है कि कुलीन नागरिक प्रवहण नामक गाड़ी पर बाहर निकलते थे। यह गाड़ी बैलों के द्वारा खींची जाती थी।[3] एक दूसरे प्रकार की भी गाड़ी प्रयोग में लायी जाती थी, जो आकार में आधुनिक शिकरम गाड़ी के तुल्य थी। मथुरा के अर्धचित्रों में इसका अङ्कन हुआ है। इसमें दो बैल जोते गये हैं। उसके भीतर कई स्त्रियाँ बैठी हुई हैं तथा सामने गाड़ीवान हाथ में डण्डा लिये हुए बैलों को भगा रहा है——(फलक ११, चित्र ११)। कहीं-कहीं खच्चरगाड़ियों का भी उल्लेख मिलता है। शिशपालवध में दो खच्चरों के द्वारा जोती हुयी एक ऐसी गाड़ी का वर्णन मिलता है, जो तेजी से चलने के कारण बहुत आवाज़ पैदा कर रही थी।[4] रथ को स्यन्दन[5] तथा रथ पर चलने वाले को स्यन्दनारोह[6] कहा जाता था। वस्त्र, कम्बल तथा चर्मादि के द्वारा रथाच्छादन किया जाता था।[7] अश्वारूढ़ को अश्वारोह[8] तथा गजारूढ़ को हस्त्यारोह[9] कहा

---

१. "कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥"—शाकुन्तलम्, अङ्क ६।

२. "मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥"—रघुवंश, ६, १०।

३. मृच्छकटिक, अङ्क ७।

४. "तूर्णं प्रणेत्रा कृतनादमुच्चकैः प्रणोदितं वेसरयुग्ममध्वनि।"
——शिशुपालवध, १२, १९।

५. रघुवंश, १, ३६।

६. अमरकोष, २, क्षत्रवर्ग ८।

७. इं० नो० पा०, पृष्ठ १५०।

८. अमरकोष, २, ८।

९. वही, २, ८।

जाता था। शिशुपालवध में अन्तःपुर के सुन्दरियों के भी तुरगारोहण का उल्लेख किया गया है।[1]

नगर-उद्यान––नागरिकों के मनोविनोद के लिये नगरों में उद्यान लगाये जाते थे। मृच्छकटिक में शीतलता तथा सौन्दर्य के कारण नन्दनवन का स्मरण दिलाने वाले नगर-उद्यान का उल्लेख मिलता है।[2] इस ग्रन्थ में पुष्पकरण्डक नामक एक दूसरी पुरवाटिका का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] ललितविस्तर के अनुसार कपिलवस्तु के चतुर्दिक् अनेक उद्यान गौतम बुद्ध के मनोविनोद के निमित्त बनाये गये थे।[4] रघुवंश से विदित होता है कि उज्जयिनी के युवकों एवं युवतियों के मनोविनोद का एक प्रिय साधन उद्यानगमन था।[5] वात्स्यायन ने उद्यानगमन को उद्यानयात्रा कहा है। कामसूत्र में उन्होंने विभिन्न प्रकार के आभूषणों से अलंकृत (स्वलंकृताः) तथा घोड़ों पर चढ़कर (तुरगाधिरूढाः) उद्यानयात्रा के लिये प्रस्तुत नागरिकों का उल्लेख किया है।[6]

जलाशय––नागरिकों के मनोविनोद के लिये नगरों में जलाशय बने होते थे। महाभारत में कहा गया है कि इन्द्रप्रस्थ नगर में अनेक सरोवर थे, जिनमें कमल खिले हुए थे तथा हंस, कारण्डव एवं चक्रवाक आदि पक्षी तैर रहे थे।[7] मन्दसोर के लेख से विदित होता है कि दशपुर नगर के जलाशयों का जल तट पर स्थित वृक्षों से गिरे हुए पुष्पों के द्वारा विभिन्न रङ्ग का हो गया था।[8] जलाशय में नागरिक जलक्रीड़ा करते थे। इनके जल से ग्राह आदि भयङ्कर जन्तु निकाल दिये जाते थे

---

१. "तुरङ्गाधिरुह्योऽवरोधिकाः"––शिशुपालवध, १२, २०।

२. "यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्।"––मृच्छकटिक, अङ्क ४।

३. "भो पश्य पश्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानस्य सश्रीकताम्।"––वही, अङ्क ७।

४. "पञ्च चोद्यानशतानि समन्तान्नगरस्य प्रादुर्बभूवुर्बोधिसत्वस्य।"
––ललितविस्तर, ७, ९५।

५. रघुवंश, ६, ३५।

६. कामसूत्र, पृष्ठ ५३, सूत्र ४०-४१।

७. "सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥"
––महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, ७७।

८. "तटोत्थवृक्षच्युतनैकपुष्पविचित्रतीरान्तजलानि भान्ति।
प्रफुल्लपद्माभरणानि यत्र सरांसि कारण्डवसंकुलानि ॥"
––सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९१।

ताकि कोई दुर्घटना न हो।[1] जलक्रीड़ा के उपरान्त सरोवर के किनारे बैठकर नागरिक वाद्य एवं सङ्गीत के द्वारा अपना मनोरञ्जन करते थे।[2]

द्यूत——द्यूत भी नागरिकों के मनोरञ्जन का एक प्रिय साधन था। मृच्छकटिक में एक जूआ खेलने वाला (आक्षिक) द्यूत की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हुआ कहता है कि जूआ खेलना मानों सिंहासनरहित राज्य प्राप्त करना है।[3] इस ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर द्यूत, समस्त भौतिक सुखों की प्राप्ति का साधन माना गया है[4]। जूए के खेल में हारा हुआ उज्जयिनी का एक नागरिक जूआ खेलने की इच्छा को जैसे-तैसे रोकता हुआ कहता है कि कौड़ियों की आवाज़ मेरे मन को उसी प्रकार लुभा रही है, जिस प्रकार हाथ से राज्य निकल जाने वाले किसी राजा के हृदय में भेरी का शब्द युद्धादि के लिये लालसा उत्पन्न कर देता है।[5] मैं यद्यपि यह जानता हूँ कि जूआ सुमेरु शिखर से गिरने के समान हानिकर है, अतः नहीं खेलूँगा, तथापि कोकिल के कलकण्ठ से निकले हुए मधुर शब्द के समान पासे का शब्द मेरे मन को आकृष्ट कर रहा है। मैं तो द्यूत से अपने को हटाने में सर्वथा असमर्थ हूँ।[6] जैसे बन्धन से छूटी हुई गर्दभी दूसरों को ताड़ित करती है, वैसे ही मैं भी इस गर्दभी (जूये में प्रयुक्त कौड़ी आदि) से बुरी तरह पछाड़ा गया हूँ। इस शक्ति (कौड़ी) से मैं उसी प्रकार आक्रान्त हुआ हूँ, जिस प्रकार कि अङ्गराज कर्ण की शक्ति से घटोत्कच आक्रान्त हुआ था।[7] जूआ खेलने वाले को द्यूतकर, जूआ खेलने वालों के समूह को द्यूतकर-मण्डली तथा इसके अध्यक्ष को सभिक कहा जाता था।[8] यदि द्यूतकरों में किसी

---

१. "एतेन रचितोदग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीड़ागमने विख्यातम्।"
——कामसूत्र, पृष्ठ ५३, सूत्र ४६।

२. "गीतानुरागं वारिमृदङ्गवाद्यम्।"——कामसूत्र, पृष्ठ ५३, सूत्र ४१।

३. "द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनम् राज्यम्"——मृच्छकटिक, अङ्क २।

४. "द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारामित्रं द्यूतेनैव"——वही, अङ्क २।

५. "ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्य।
जानामि न क्रीडिष्यामि कत्ताशब्दो मनो हरति॥"——वही, अङ्क २।

६. "जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसन्निभं द्यूतम्।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति॥"——वही, अङ्क २।

७. "नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताड़ितोऽस्मि गर्दभ्या।
अङ्गराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या॥"
——वही, अङ्क २।

८. वही, अङ्क २।

बात पर झगड़ा खड़ा होता था, तो सभिक द्यूतसम्बन्धी नियमों के अनुसार निर्णय देता था। मृच्छकटिक में जूए में हारा हुआ उज्जयिनी का नागरिक धनाभाव के कारण हारे हुए द्रव्य को जब चुकता करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है, उस समय सभिक उसे फटकारता है तथा शरीर को बेंचकर रुपया लौटाने का आदेश देता है।[1] जब नगर-वेश्या वसन्तसेना मध्यस्थता करती है, उस समय बड़ी कठिनाई से उसे मुक्ति मिल पाती है। वह सभिक को फटकार लगाती हुई कहती है कि अरे दुर्बल, तू तो नष्ट हो चुका। केवल कतिपय मुहरों के लिये पाँच इन्द्रियों वाले (ईश्वर की अनुपम रचना) मनुष्य को मार रहा है।[2] सभिक के अधिकार अधिक थे। असहाय अवस्था में पाने पर वह पराजित व्यक्ति को द्रव्यदान से मुक्ति का आदेश दे सकता था। मृच्छकटिक में जीता हुआ जुआड़ी हारे से कहता है कि यदि इस समय तू पाताल में अथवा इन्द्र की शरण में भी जाता है, तो भी सभिक को छोड़कर रुद्र भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते।[3] द्यूत पर नियन्त्रण रखने के लिये नगरों में द्यूताध्यक्ष नामक एक कर्मचारी रहता था, जिसके कार्यों का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

पशुपक्षिपालन—नागरिकों के मनोविनोद का एक अन्य प्रिय साधन पशु-पक्षिपालन था। महाभारत में कहा गया है कि पक्षियों का पालन दिलबहलाव के लिये किया जाता था।[4] धनिक व्यक्तियों के घरों में पक्षिशाला बनी होती थी; जिनमें शुक, सारिका, कोयल, काक, तीतर, चातक, मोर तथा हंस एवं कबूतर आदि पक्षी पाले जाते थे। उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना के घर में एक पक्षिशाला बनी हुई थी, जिसमें सुनिर्मित पिञ्जरों में सुखपूर्वक बैठ हुए कबूतरों के जोड़े आलिङ्गन में रत होकर सुख का अनुभव कर रहे थे। पिजरे में बैठा हुआ तोता दही-भात से पेट भरकर सूक्तिपाठ कर रहा था। सम्मान पाकर घमण्ड में रहने वाली मैना गृहदासी के समान बहुत बोल रही थी। नाना प्रकार के सरस फल खाने से मुदित

---

१. "आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ"—मृच्छकटिक, अङ्क २।

२. "दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया॥"—वही, अङ्क २।

३. "यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं च साम्प्रतं यासि।
सभिकं वर्जयित्वैकं रुद्रोऽपि न रक्षितुं॥"
—वही, अङ्क २।

४. "क्रीडनार्थं वा नराः वाञ्छन्ति पक्षिणम्"
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय १३९, ६०।

कलकण्ठ कोकिल कूजन कर रही थी।[१] खूँटियों पर पिजरे लटकाये गये थे । कहीं बटेर लड़ाये जा रहे थे । कहीं तीतरों से बातें की जा रही थीं, कहीं पालतू कबूतर भेजे जा रहे थे, कहीं भाँति-भाँति की मणियों से चित्रित सा मयूर हर्षपूर्वक नाचता हुआ, सूर्य की कठोर किरणों से सन्तप्त प्रासाद को अपने पङ्ख फड़फड़ाकर मानो हवा कर रहा था। एकीभूत चन्द्रमा की किरणों के समान राजहंस-युगल रमणियों के पीछे चलते हुए उनको मानो गतिशिक्षा दे रहे थे।[२] इन पक्षियों के पालन का उल्लेख कतिपय अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है; उदाहरणार्थ कालिदास ने यक्षपत्नी के घर मधुरवचना सारिका के पञ्जरस्थ होने का वर्णन किया है।[३] वात्स्यायन ने भी कहा है कि बोलने में प्रवीण शुक एवं सारिका आदि पक्षी नागरिकों के द्वारा पाले जायँ।[४] पशुओं में विशेषतः मेष, वानर तथा मृग आदि पाले जाते थे।[५] मनोविनोद के लिये पशुओं एवं पक्षियों के युद्ध का आयोजन किया जाता था। उद्यान-यात्रा के सम्बन्ध में मेष-युद्ध, लावकयुद्ध तथा कुक्कुटयुद्ध का वर्णन मिलता है।[६] कामसूत्र में कुक्कुटयुद्ध को चौंसठ कलाओं में स्थान दिया गया है।[७] इस साक्ष्य से नागरिकों में इसकी लोकप्रियता स्पष्ट है।

---

१. "अन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्त-पूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा-सम्माननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठाः कुम्भदासीव कूजति परिपुष्टा।"
—मृच्छकटिक, अङ्क ४।

२. "आलम्बिता नागदन्तेषु पञ्जरपरम्पराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन् रविकिरणसन्तप्तं पक्षोत्क्षपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि"—वही, अङ्क ४।

३. "पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थाम्"—उत्तर मेघ, २५।

४. "शुकसारिका प्रलपनव्यापाराः"—कामसूत्र, पृष्ठ ४७, सूत्र २१।

५. वही, पृष्ठ २२९, सूत्र ३३।

६. "तत्रैवानुभूयकुक्कुटलावकमेषद्यूतयुद्धैः"—वही, पृष्ठ ५३।

७. वही, पृष्ठ ३२।

आसवपान—आसवपान राजवर्ग का प्रिय व्यसन था। हर्षचरित से विदित होता है कि हर्ष के जन्म के अवसर पर थानेश्वर के दरबार में मदिरा की धारा बह रही थी।[१] राजकुल की स्त्रियाँ भी मदिरा का पान करती थीं, उदाहरणार्थ—मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र की भार्या इरावती मदोन्मत्ता दिखाई गई है।[२] कभी-कभी उच्च वर्ग के नागरिकों की स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं।[३] मन्दसोर की प्रशस्ति में उदयकालीन सूर्य की लालिमा की तुलना मतवाली स्त्री के लाल कपोलों से की गई है।[४] इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरललनाएँ कभी-कभी इसका प्रयोग करती थीं। दशकुमारचरित में मद्यपान का गुणानुवाद किया गया है।[५] इससे नागरिकों में आसव की लोकप्रियता स्पष्ट है। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण-वर्ग तथा धार्मिक व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति गर्हित समझी जाती थी। समस्त देश में मद्यपानगृह की शून्यता का निर्देश करने वाले भक्त चीनी यात्री (य्वान्च्वाङ्) का सङ्केत सम्भवतः इसी ओर है।[६] कभी-कभी नागरिक अपने मित्रों को मदिरा का प्रीतिभोज कराता था। इसको वात्स्यायन ने **"आपानक"** कहा है। इस अवसर पर विभिन्न रुचि एवं स्वाद वाली मदिराएँ पिलायी जाती थीं।[७] ये मदिराएँ प्यालों में भरी होती थीं, जिनके द्वारा इनका पान किया जाता था। इन प्यालों को चषक कहा जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न पानों का उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ —आसव[८], वारुणी[९], कादम्बरी[१०], नारिकेलासव[११] एवं पुष्पासव।[१२] य्वान् च्वांग के यात्राविवरण से भी स्पष्ट है कि नागरिक कई पानों का प्रयोग करते थे।[१३]

---

१. हर्षचरित, पृष्ठ १७८।
२. मालविकाग्निमित्रम्, पृष्ठ ४९।
३. रत्नावली, पृष्ठ ३८।
४. "क्षीवाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः"—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, २९०।
५. दशकुमारचरित, पृष्ठ २१० (काले)।
६. वाटर्स, १, १७८।
७. "चषकहस्तः पाययेत्"—कामसूत्र, पृष्ठ १७४, सूत्र १५
८. ऋतुसंहार, ४, ११।
९. कुमारसम्भव, ४, १२।
१०. ऋतुसंहार, २, १६।
११. रघुवंश, १९, १२।
१२. कुमारसम्भव, ३, ३८।
१३. वाटर्स, १, १७८।

मृगया—मनोरञ्जन के अन्य साधनों में मृगया भी उल्लेखनीय है। शाकुन्तल में इसे विनोद का सर्वोत्तम साधन कहा गया है। लेखक ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि मृगया के कारण चर्बी कट जाती है तथा परिणामस्वरूप कटि-प्रदेश पतला एवं शरीर हल्का और उठाने योग्य हो जाता है। शिकार के अवसर पर भय तथा क्रोध की अवस्थाओं के कारण जीवों का विकारयुक्त चित्त दिखाई देता है। चलायमान लक्ष्य पर बाण का लग जाना धनुर्धारियों का महान् गुण है। व्यर्थ ही लोग मृगया की निन्दा करने लगते हैं। ऐसा मनोरञ्जन अन्यत्र कहाँ सम्भव हो ही सकता है।[१] दशकुमारचरित के लेखक ने भी मृगया की प्रशंसा करते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ व्यायाम कहा है।[२]

अभिनय—नागरिकों के विलास तथा कौतुक का प्रिय साधन नाटकों का अभिनय था। अभिनय का वास्तविक कार्य नाट्यशालाओं में किया जाता था। इन्हें प्रेक्षागृह तथा रङ्गशाला कहते थे। अभिनय का उद्देश्य सभ्यों का श्रुतिप्रसादन था। शाकुन्तल में सूत्रधार कहता है कि दर्शकों को प्रसन्न करना अभिनेता का वास्तविक कार्य है।[३] यही कारण है कि प्रयोगविज्ञान की सफलता का निर्धारण परिषद् के परितोष के द्वारा निर्धारित किया जाता था।[४] प्रेक्षागृह में नागरिक अत्यन्त शान्तिपूर्वक बैठते थे। शाकुन्तल में कहा गया है कि जिस समय इस नाटक का अभिनय हो रहा था, उस समय दर्शक चित्रलिखित के समान बैठे हुए थे।[५]

नृत्य—नृत्य नागरिकों के आमोद-प्रमोद का सामान्य साधन था। नगरों में नृत्य की शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे। इन्हें नाट्याचार्य कहा जाता था।[६] मालविकाग्निमित्र में गणदास नामक एक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[७] इस ग्रन्थ में सफल नाट्याचार्य के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है कि जो नृत्य की

---

१. "मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः।
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः॥
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले।
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥"—शाकुन्तलम्, अङ्क २।

२. दशकुमारचरित, पृष्ठ २०९ (काले)।

३. "किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः।"—शाकुन्तलम्, (प्रस्तावना)।

४. "आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।" वही, (प्रस्तावना)।

५. "अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः।"—वही, (प्रस्तावना)

६. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क १।

७. वही, अङ्क १।

शिक्षा तथा क्रिया दोनों में प्रवीण हो, वह विशेष रूप से सम्माननीय है।[1] राजकुल तथा सभ्य घरानों की कन्याओं को नृत्य की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। ये नृत्य का अभ्यास व्यक्तिगत मनोविनोद के लिये करती थीं। सामूहिक मनोविनोद के लिये नर्तकियों तथा नर्तकों की मण्डलियाँ दर्शकों के सामने अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। दशकुमारचरित से विदित होता है कि नर्तकियों की कला का सम्मान नागरिकों में विशेष था।[2] मथुरा की कला में एक नर्तकी एक छोटे मण्डप में नृत्य करती हुयी दिखायी गयी है। मण्डप के भीतर कई व्यक्ति बाजा बजाते हुए दिखाये गये हैं। मण्डप के सामने दर्शकों का एक समूह है। कुछ दर्शक प्रशंसा के भाव में अपने हाथ को ऊपर उठाये हुए हैं—(फलक ११, चित्र १२)। कभी-कभी नगरों में नृत्यप्रतियोगिता भी हुआ करती थी। मालविकाग्निमित्र में हरदत्त तथा गणदास नामक नाटचाचार्यों की नृत्यप्रतियोगिता का वर्णन किया गया है।[3]

गोष्ठी—समान विद्या, बुद्धि, शील, वित्त तथा अवस्था वाले नागरिक एक स्थान पर मिलते थे। उनके इस जमावड़े को गोष्ठी कहा जाता था। वहाँ पर ये लोग बौद्धिक चिन्तन के द्वारा अपना मनोविनोद करते थे। गोष्ठी में इन लोगों के द्वारा प्रायः काव्यसमस्या अथवा कलासमस्या पर विचार किया जाता था।[4] कभी-कभी इनमें काव्यरचना, काव्यसमस्या की पूर्ति, पुस्तकों का, वाचन, भाषाओं एवं छन्दों का ज्ञान, नाटकों एवं आख्यायिकाओं का पठनपाठन, गीत, वाद्य, नृत्य एवं आलेख्य का अभ्यास किया जाता था।[5] अफसड़ के लेख में कहा गया है कि

---

१. "शिक्षाक्रियाकश्चिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषरूपा।
उभे च यत्साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥"
—वही, अङ्क १।

२. दशकुमारचरित, पृष्ठ २१० (काले)।

३. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क २।

४. "समानविद्याबुद्धिशीलवित्तवयसां सह वेश्याभिरनुरूपैरालापैरासनवन्धो गोष्ठी। तत्र चैषां काव्यसमस्या कलासमस्या च।"
—कामसूत्र, पृष्ठ ५१, सूत्र ३४-३५।

५. "मानसी काव्यक्रिया, काव्यसमस्यापूरणं, पुस्तकवाचनं, दुर्वाचकयोगा म्लेच्छितविकल्पाः देशभाषाविज्ञानम्, अभिधानकोष:, छन्दोज्ञानम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, प्रतिमाला, गीतम्, नृत्यम्, आलेख्यम्॥"
—वही, पृष्ठ ३२।

आदित्यसेन नामक उत्तरगुप्त वंशी मगध-नरेश गोष्ठियों में काफी परिहासशील था—(गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशील:)।[१] गोष्ठी में कलाओं का ज्ञान विशेष रूप से आवश्यक माना जाता था। कामसूत्र में कहा गया है कि यदि गोष्ठी के किसी शास्त्रज्ञान से रहित सदस्य को कलाओं का ज्ञान ठीक हो, तो वह गोष्ठी के भीतर सम्मान पाता है पर इसके प्रतिकूल शास्त्रों का अच्छा ज्ञान होने पर भी यदि वह कलाज्ञान से रहित हो, तो उसे गोष्ठी में सम्मान नहीं प्राप्त होता था।[२] संस्कृत एवं देशभाषा के बीच के मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति गोष्ठी में अधिक प्रतिष्ठा पाता था।[३]

उत्सव—नागरिक निम्नलिखित उत्सवों को विशेष रूप से मनाते थे—(१) कौमुदीमहोत्सव, (२) दीपोत्सव, (३) वसन्तोत्सव, (४) शिवपूजा, (५) शालभञ्जिका, (६) रथयात्रा तथा (७) समाज। कौमुदीमहोत्सव नागरिकों का एक प्रिय उत्सव था। शरद् की पूर्णिमा के अवसर पर इस उत्सव को मनाया जाता था। पाटलिपुत्र के नागरिक इस उत्सव को बहुत धूमधाम से मनाते थे।[४] 'कौमुदीमहोत्सव' नामक नाटक में इस उत्सव का उल्लेख मिलता है।[५] दीपोत्सव भारत का राष्ट्रीय पर्व था। प्रारम्भिक काल में यक्षाधिपति कुवेर की पूजा के निमित्त लोग इस उत्सव को मनाते थे।[६] यही कारण है कि इस उत्सव को वात्स्यायन ने कामसूत्र में यक्षरात्रि कहा है।[७] कालान्तर में इस उत्सव के लिये दीपपूजा शब्द का प्रयोग होने लगा।[८] लोगों का विश्वास था कि इस अवसर पर लक्ष्मी का जागरण

---

१. अफसढ़ का लेख, पंक्ति ४४।

२. "ब्रुवन्नप्यन्यशास्त्राणि चतुःषष्टिविवर्जितः।
विद्वत्संसदि नात्यर्थं कथासु परिपूज्यते॥
वर्जितोऽप्यन्यविज्ञानैरेतया यस्त्वलङ्कृतः।
स गोष्ठ्यां नरनारीणां कथास्वग्रं विगाह्यते॥"
—वही, पृष्ठ १८२, सूत्र ५०-५१।

३. "नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत्॥"—वही, पृष्ठ ५८, सूत्र ५०।

४. "कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः"—मुद्राराक्षस, अङ्क ३।

५. कौमुदीमहोत्सव, अङ्क ५।

६. पी० के० गोड़े, भारतीय विद्या, १९४७, पृष्ठ ५५।

७. वही, पृष्ठ ६२।

८. वही, पृष्ठ ५५।

(लक्ष्मीप्रबोध) होता है।[१] अल्बरूनी ने लिखा है कि भारत के लोग इस उत्सव को बड़े समारोह के साथ मनाते थे।[२]

वसन्त के आगमन के अवसर पर वसन्तोत्सव मनाया जाता था।[३] इसके लिये कहीं-कहीं मधूत्सव शब्द भी आता है।[४] इस अवसर पर कामदेव की पूजा की जाती थी।[५] इस कारण कतिपय ग्रन्थों में इसे मदनोत्सव भी कहा गया है।[६] रत्नावली से विदित होता है कि कौशाम्बी के नागरिक मदनोत्सव बहुत ठाठ-बाट से मनाते थे। इस अवसर पर मृदङ्ग तथा चर्चरी (वाद्यविशेष) बजाये जाते थे।[७] कौशाम्बी-नागरिकों के द्वारा आयोजित इस उत्सव को महाराज उदयन अपने प्रासाद के कोठे पर चढ़कर देख रहे थे।[८] कभी-कभी इस उत्सव के आयोजन में राजकीय सहायता भी मिलती थी। रत्नावली में कहा गया है कि कौशाम्बी में एक बार महाराज उदयन ने अपने पदाधिकारियों के द्वारा मदनोत्सव का आयोजन किया था। इसको वे बड़ी उत्सुकता के साथ देख रहे थे।[९] इस अवसर पर शराब पीकर कौशाम्बी के युवक तथा युवतियाँ परस्पर आलिङ्गन करते हुए नाच रही थीं। युवतियों के हाथ में पिचकारियाँ थीं, जिनसे वे पुरजनों के ऊपर रङ्ग फेंक रही थीं और इससे प्रेरित होकर वे भी नाच रहे थे।[१०] इस समय मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों के ऊपर पीले रङ्ग का अबीर फेंका जा रहा था। इस कारण राजपथ एवं गलियाँ पीली हो उठती थीं।[११] रह-रह कर घड़ों में भरे हुए पीले रंग पथिकों के ऊपर फेंके जा रहे थे। लगता था, मानों कौशाम्वी का नगर पीला हो उठा

---

१. पी० के० गोड़े, भारतीय विद्या, १९४७, पृष्ठ ५७।

२. साचो, अल्बरूनीज इण्डिया, २, १८२।

३. शाकुन्तलम्, अङ्क ६।

४. वही, अङ्क ६।

५. "चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।"—वही, अङ्क ६।

६. वही, अङ्क ६।

७. रत्नावली, अङ्क १।

८. "पुरजनप्रमोदमवलोकयितुं प्रासादाभिमुखं प्रस्थितो देवः"—रत्नावली, अङ्क १।

९. "पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय"—वही, अङ्क १।

१०. "मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीतश्रृङ्गकजलप्रहारनृत्यन्नागरजनजनित-कौतूहलस्य"—वही, अङ्क १।

११. वही, अङ्क १।

हो।[1] इस अवसर पर नागरिक खूब शृङ्गार करते थे। रत्नावली में कौशाम्बी की वधुएँ इस अवसर पर विभिन्न प्रकार के सोने के गहने तथा फूलों की मालाओं को पहने हुए दिखायी गयी हैं।[2]

रत्नावली के द्वारा मदनमहोत्सव के बारे में कुछ और महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ इस प्रकार मिलती हैं:—(१) कामदेव की पूजा नगर में स्थित कामदेव के उद्यान (मकरन्दोद्यान) में की जाती थी।[3] (२) लाल अशोक के नीचे कामदेव की प्रतिमा स्थापित करने के उपरान्त पुष्प (कुसुमानि), कुंकुम एवं चन्दन के रस आदि विभिन्न उपकरणों के द्वारा उसकी पूजा की जाती थी।[4] (३) इस अवसर पर पति का रहना भी आवश्यक था।[5] कामदेव की पूजा कर लेने के उपरान्त स्त्रियाँ पुनः पति की पूजा करती थीं।[6] सम्भवतः वे उसी पति को जन्मजन्मान्तर तक पाने के लिये ऐसा करती थीं। (४) अविवाहित युवतियों के कामदेव की अर्चना का उद्देश्य मनोनुकूल पति का पाना था। नाटक में सागरिका मनोवाञ्छित पति की प्राप्ति के लिये कामदेव से प्रार्थना करती हैं[7] और कहती हैं कि हे देव! तुम्हारा दर्शन निष्फल न जाय।[8]

शिवरात्रि के अवसर पर शिव की पूजा बड़े समारोह के साथ की जाती थी। दशकुमारचरित में कहा गया है कि श्रावस्ती के नागरिक इसे बड़े प्रेम के साथ मनाते थे।[9] शालभञ्जिका का उत्सव विशेष प्रकार से मनाया जाता था। शाल-वृक्षों के नीचे खड़े होकर नागरिक उसके पुष्पों को चुनते थे तथा एक दूसरे के साथ क्रीड़ा एवं विनोद करते थे। अवदानशतक में भी कहा गया है कि श्रावस्ती के नागरिक शालभञ्जिका का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाते थे। इसमें वर्णन मिलता है कि एक बार जब गौतम बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में ठहरे हुए थे, उस

---

१. "कौशाम्बी . . . पीता विभाति"—रत्नावली, अङ्क १।

२. वही, अङ्क १।

३. वही, अङ्क १।

४. "रक्ताशोकपादपतलसंस्थापितस्य भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निवर्तयितव्या।"—वही, अङ्क १।

५. वही, अङ्क १।

६. वही, अङ्क १।

७. वही, अङ्क १।

८. "अमोघदर्शनो मे भविष्यति"—वही, अङ्क १।

९. दशकुमारचरित (काले), पृष्ठ १०९।

समय सारी श्रावस्ती में शालभञ्जिका का उत्सव मनाया जा रहा था। कई हजार व्यक्ति उसमें भाग लेने के लिये एकत्र हुए और पुष्पित शालवृक्षों के फूल चुनकर वे एक दूसरे के साथ क्रीड़ा और विनोद करते हुए इधर-उधर मन बहलाने लगे।[१] निदानकथा में शालभञ्जिका का मनोरम वर्णन मिलता है। इसमें कहा गया है कि "उन दोनों नगरों (कपिलवस्तु और देवदह) के बीच में लुम्बिनी वन नामक मङ्गल शालवन था, जो उभयनगरवासियों के उपभोग में आता था। उस समय में मूल से लेकर फुनगी तक सारा बन फूलों से अकस्मात् लद गया था। शाखाओं और पुष्पों के बीच पञ्चरङ्गी तितलियाँ और नाना प्रकार के पक्षी मधुर स्वर से कूजते हुए विचर रहे थे। सारा लुम्बिनीवन रङ्ग-विरङ्गी लताओं के वन के समान या किसी वैभवशाली राजा के सुसज्जित हाट के समान हो गया था। उसे देखकर रानी मायादेवी के मन में शालवन की क्रीड़ा करने की कामना उत्पन्न हुई। अमात्य देवी के साथ शालवन में आये। रानी ने माङ्गलिक शाल के नीचे जाकर उसकी शाखा को पकड़ने की इच्छा की। शाल की शाखा भपारा दिये हुए बेंत के समान झुककर देवी के हाथ की पहुँच के भीतर आ गयी। उसने हाथ बढ़ाकर शाखा को पकड़ लिया।"[२]

रथयात्रा के उत्सव का सुन्दर वर्णन फाहियान ने किया है। उसने लिखा है कि "वैशाख की अष्टमी को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। रथ बीस हाथ ऊँचा तथा सुन्दर आकार का होता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। भाँति-भाँति की रँगाई होती है। देवताओं की भव्य-मूर्तियाँ सोने, चाँदी तथा स्फटिक की बनती हैं। रेशम की ध्वजा तथा चाँदनी लगती है। चारो ओर कलँगियाँ लगती हैं। बीस रथ होते हैं। देखने में वे एक से एक सुन्दर और भड़कीले होते हैं। नियत दिन पर आसपास के यति तथा गृही इकट्ठा होते हैं और गाने बजाने वालों को साथ ले लेते हैं। बारी-बारी से नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात्रियाँ बीत जाती हैं। गाना, बजाना तथा पूजन होता है। प्रत्येक जनपद में ऐसा ही होता है।"[३] फाहियान के वर्णन से स्पष्ट है कि यह उत्सव देवताओं के सम्मान में मनाया जाता था।

देवताओं के सम्मान में कुछ और भी उत्सव किये जाते थे, उदाहरणार्थ—'समाज' जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने किया है। इनके अनुसार प्रत्येक पक्ष में

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १६३।
२. वही, पृष्ठ १६३-६४।
३. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ५९-६०।

एक बार सरस्वती के मन्दिर के सामने समाज का आयोजन किया जाता था। इस अवसर पर नागरिक इकट्ठा होते थे तथा खूब गाना-बजाना होता था। यदि बाहर से नगर में नाटक खेलने वाले तथा नर्तक आ जाते थे, तो ऐसे अवसर पर उन्हें गाने-बजाने के लिये आमन्त्रित किया जाता था। 'समाज' के दूसरे दिन इन्हें पुरस्कार देकर या तो विदा कर दिया जाता था अथवा यदि इनका खेल अधिक जँचता था, तो आगे होने वाले 'समाज' के अवसर पर इन्हें अपनी कला को दिखाने के लिये रोक दिया जाता था। कभी-कभी समाज के अवसर पर गाने-बजाने वाली कई मण्डलियाँ सम्मिलित रूप में कला का प्रदर्शन करतो थीं। इस उत्सव को देखने के लिये यदि बाहर से कोई सम्मानित व्यक्ति आता था, तो उसे आदरपूर्वक बैठने के लिये स्थान दिया जाता था।[१] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि 'समाज' का उल्लेख अशोक के गिरिनार के प्रथम लेख में हुआ है (न च समाजो कतव्यो)। हाथीगुम्फा के लेख के अनुसार खारवेल ने 'समाज' के आयोजन के द्वारा अपनी राजधानी के नागरिकों का मनोविनोद किया था (समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरि)।[२]

पर्दा—उच्च कुलों में पर्दे की प्रथा प्रचलित थी। रामायण मे सीता को आकाशचारियों के द्वारा अगोचर बताकर इस प्रथा का समर्थन किया गया है।[३] इस ग्रन्थ के अनुसार केवल विवाह, स्वयंवर, पूजा तथा व्यसन के अवसर पर उच्च कुल की स्त्रियाँ बाहर निकलती थीं।[४] महाभारत के लेखक ने भी राजकुल की स्त्रियों को सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा अदर्शनीय बताकर पर्दे की प्रथा के प्रचार का समर्थन किया

---

१. "पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्य्यता। आगन्तूनां च कृतसमवायानां पूजनम्।"
—कामसूत्र, पृष्ठ ४९-५१, सूत्र २७-३३।

२. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २०७-२०८।

३. "या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥" —रामायण ६, २३, ८।

४. "व्यसनेषु च कृच्छेषु नो युधे नो स्वयंवरे।
न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियः॥" —वही, ६, ११६, २८।

है।[1] स्वप्नवासवदत्तम् में पद्मावती नामक राजमहिषी को पर्दा करते हुए दिखाया गया है।[2] शाकुन्तलम् में शकुन्तला को दुष्यन्त के दरबार में अवगुण्ठनयुक्त पाते हैं।[3] ललितविस्तर में गोपा नामक राजकन्या मुख का प्रतिच्छादन कर राजसभा में आती है।[4] प्राचीन समाज में इस प्रथा के विरुद्ध धीरे-धीरे जागृति होने लगी थी। ललित-विस्तर में मन की शुद्धता को प्रधान तथा अवगुण्ठन को गौण बताकर इस प्रथा का खण्डन किया गया है।[5]

अनुरञ्जन—नागरिक कभी-कभी अपना विवाह स्वयं निश्चित करता था। वात्स्यायन के अनुसार कुछ प्रकार के लोग अपना विवाह स्वयं कर सकते थे—(१) वह गुणवान् व्यक्ति जिसका विवाह धनहीनता के कारण न हो पा रहा हो, (२) नीच कुल में जन्म तथा सामान्य गुणों के कारण जिसका कोई विवाह न कर रहा हो, (३) धनी होने पर भी पड़ोसी होने के कारण जिसका विवाह न हो पा रहा हो, (४) माता, पिता तथा भाई के ऊपर निर्भर रहने के कारण जिसका विवाह न किया जा रहा हो, तथा (५) कम अवस्था के कारण जिसका विवाह रुका हो। उनके अनुसार इस प्रकार के लोग उस कन्या के साथ विवाह कर सकते हैं, जिसके ऊपर वे बाल्यावस्था से ही अनुरक्त हों।[6] उसे प्रभावित करने के लिये वह युवक उसके साथ पुष्पचयन करता था, माला गुहता था तथा विभिन्न प्रकार के खेल भी खेलता था।[7] समय-समय पर उसे वह मनोवाञ्छित वस्तुओं को समर्पित

---

१. "या नापश्यच्चन्द्रमा नैव सूर्यो रामाः काश्चितास्तस्मिन्नरेन्द्रे।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः।।"
—महाभारत, १५, १६, १३।

२. स्वप्नवासवदत्तम्, अङ्क ६।

३. शाकुन्तलम्, अङ्क ६।

४. "गोपा शाक्यकन्या न कञ्चन् दृष्ट्वा वदनं छादयतिस्म"
—ललितविस्तर, सर्ग १६।

५. "ये कायसंवृता गुप्तेन्द्रियाः सुनिवृताश्च।
मनःप्रसन्ना किं तादृशानां वदनं प्रतिच्छादयित्वा।।"—वही, सर्ग १६।

६. "धनहीनस्तु गुणयुक्तोऽपि, मध्यस्थगुणो हीनापदेशो वा, सधनो वा प्रतिवेश्यो, मातापिताभ्रातृषु च परतन्त्रो, कालवृत्तिरुचितप्रवेशो वा कन्यामलभ्यत्वान्न वारयेत्। बाल्यात् प्रभृति चैनां स्वयमेवानुरञ्जयेत्।"
—कामसूत्र, पृष्ठ २००।

७. "तया सह पुष्पावचयं ग्रथनं दुहितृकाक्रीड़ायोजनम्।"—वही, पृष्ठ २०१।

भी करता था।[१] उसके मन में अधिक अनुराग पैदा करने के लिये वह उसे चित्ताकर्षक कथाएँ तथा आख्यान सुनाता था।[२] सुन्दर वस्त्रों से विभूषित होकर वह प्रेयसी के पास जाता था, क्योंकि युवतियाँ दर्शनीय व्यक्ति से अधिक प्रभावित होती हैं।[३] प्रियतमा के भावों एवं सङ्केतों के द्वारा उसके हृदय में वह प्रेम के बीजाङ्कुरण को समझने की चेष्टा करता था।[४] कभी-कभी सामने आने पर उसकी व्रीड़ा से ही वह इस बात का अनुमान लगा लेता था।[५] शाकुन्तलम् में दुष्यन्त को अपनी हृदयवल्लभा के मनोभाव का ज्ञान हम इसी रूप में करते हुए पाते हैं।[६]

कभी-कभी युवती भी पतिप्राप्ति के लिये स्वयं चेष्टा करती थी। महाभारत में कहा गया है कि ऋतुमती होने के उपरान्त तीन वर्षों तक जिस युवती का विवाह उसके घर वाले न करें, वह स्वयं अपने पाणिग्रहण की चेष्टा करे।[७] वात्स्यायन के अनुसार निम्न परिस्थितियों में युवती पाणिग्रहण की चेष्टा कर सकती थी :—(१) गुणवती होने पर भी नीच कुल के कारण जिसका विवाह न हो रहा हो, (२) धन से रहित होने पर भी जो कुलीना हो, (३) जिसका विवाह समान वर्ण में न हो पा रहा हो, (४) जिसके माँ-बाप मर चुके हों, (५) जिसकी जाति एवं कुल श्रेष्ठ हों तथा (६) जो प्राप्तयौवना हो चुकी हो।[८] इस प्रकार की युवती को स्वयंवरा अथवा पतिंवरा कहा जाता था।[९] इसके द्वारा गुणवान्, शक्त एवं

---

१. कामसूत्र, पृष्ठ २०२।

२. "वर्धमानानुरागां वाख्यानके मनः कुर्वतीमन्वर्थाभिः कथाभिश्चित्तहारिणीभिश्च रञ्जयेत्।"—वही, पृष्ठ २०३।

३. "उदारवेशश्च स्वयमनुपहतदर्शनश्च स्यात्। युवतयो हि संसृष्टमभीक्ष्णदर्शनं च पुरुषं प्रथमं कामयन्ते॥"—वही, पृष्ठ २०३।

४. "भावं च कुर्वतीमिङ्गिताकारैः सूचयेत्"—वही, पृष्ठ २०३।

५. "सम्मुखं न वीक्षेत्, तु तं वीक्षता व्रीडां दर्शयति"—वही, पृष्ठ २०६।

६. शाकुन्तलम्, अङ्क २।

७. "त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थेत्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत्॥"
—महाभारत, १३, ४४, १६।

८. "मन्दापदेशा गुणवत्यपिकन्याधनहीना कुलीनापि समानैरयाच्यमाना मातृपितृविमुक्ता वा ज्ञातिकुलवर्तिनी वा प्राप्तयौवना पाणिग्रहणं स्वयमभीप्सेत्।"—कामसूत्र, पृष्ठ २१३।

९. अमरकोष, २, ७।

सुन्दर पति का वरण ठीक माना जाता था।[1] यदि वह अपनी जाति के किसी व्यक्ति का वरण करती थी, तो वह शास्त्रानुकूल एवं लौकिक समझा जाता था।[2]

लोकविश्वास—यहाँ पर नागरिकों के कतिपय प्रिय विश्वास उल्लेखनीय हैं। इनको वास्तव में अन्धविश्वास ही कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—स्त्रियों के दक्षिण नेत्र का स्फुरण अशुभ समझा जाता था।[3] दुष्यन्त के दरबार में जब शकुन्तला की दाईं आँख फड़कने लगती है, उस समय वह अशुभ की आशङ्का करती है।[4] परन्तु इसके प्रतिकूल पुरुष के वामेतर अङ्ग का फड़कना शुभ माना जाता था। कण्व के आश्रम में दुष्यन्त अपने दायें अङ्ग के फड़कने पर शुभ का अर्थ लगाते हैं।[5] पुरुषवर्ग में वामाङ्ग का स्फुरण अमङ्गल का सूचक समझा जाता था। मृच्छकटिक में चारुदत्त कहता है कि मेरी बाईं आँख फड़क रही है, भगवान ही मेरा अब कल्याण करें।[6] चारुदत्त नामक नाटक में उसका नायक बाईं आँख के फड़कने पर चोर के द्वारा सन्धिच्छेद की आशङ्का करता है।[7] यात्रा के समय कौवे का बोलना (विरौति वायसः) तथा सर्प के द्वारा मार्ग को रोक लेना (पन्था सर्पेण रुद्धोऽयम्) अशुभ माना जाता था।[8] यदि हरिण मार्ग काट देता था, तो उस समय यात्रा स्थगित की जाती थी।[9] शुभ अवसर पर ब्राह्मणों को दान दिया जाता था। बाण, जिस समय हर्ष से मिलने के लिये निकले थे, उस समय उन्होंने वित्तानुसार ब्राह्मणों को दान दिया था।[10] अनिष्ट से बचाव के लिये कवच (रक्षाकरण्ड) बाँधा जाता था।[11] स्वप्न की व्याख्या की जाती थी।[12] भाग्यचक्र

---

१. "सा तु गुणवन्तं शक्तं सुदर्शनं बालप्रीत्याभियोजयेत्"—कामसूत्र, पृष्ठ २१४।
२. वही, पृष्ठ ५८।
३. शाकुन्तलम्, अङ्क ५।
४. "किं मे वामेतरं नयनं स्फुरति"—वही, अङ्क ५।
५. "शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य"—वही, अङ्क १।
६. "सव्यं मे स्पन्दते चक्षुः . . . स्वस्ति चास्मास्तु दैवतः"—मृच्छकटिक, अङ्क ९।
७. "वामं खलु तावत मेऽक्षि स्पन्दते। चौरः सन्धि छिन्नत्तीव पश्यामि"—चारुदत्त, अङ्क ३।
८. वही, अङ्क ९।
९. हर्षचरित, पृष्ठ १३५।
१०. "दत्वा द्युम्नं यथाविद्यमानं द्विजेभ्यः"—हर्षचरित, पृष्ठ १३४।
११. शाकुन्तलम्, अङ्क ७।
१२. वायुपुराण, अध्याय १९, श्लोक २४ तथा २६।

के विधान को लोग मानते थे। मृच्छकटिक में सङ्कटापन्न चारुदत्त अपने प्रारब्ध को दोष देता है। सामुद्रिक विद्या एवं ज्योतिष में लोगों का विश्वास था। भविष्य-वक्ता इसके द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन करते थे।[१] शमप्रधान तपोधनों के दाहात्मक तेज में लोगों का अटल प्रत्यय था।[२] इन्द्रजाल[३] एवं शाप[४] में भी लोगों का विश्वास था।

दास-प्रथा—नगर-जीवन में दास-प्रथा के विद्यमान होने की सूचना मिलती है। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है:—(१) ध्वजाहृत (युद्ध में जीता गया), (२) भक्तदास (जिसने आत्मसमर्पण कर दिया हो), (३) गृहज (दासी का पुत्र), (४) क्रीत (खरीदा हुआ), (५) दत्रिम (दूसरे स्वामी का दिया हुआ), (६) पैत्रिक (दास के वंशज) तथा (७) दण्डदास (दण्ड के रूप में बनाया हुआ दास)।[५] शास्त्रों के अनुसार दास के साथ दुर्व्यवहार करना अपराध समझा जाता था। कौटिल्य ने कहा है कि यदि स्वामी दास के साथ अनुचित व्यवहार करे, तो उसे दण्ड दिया जाय।[६] यदि दास ऋण को चुकता कर दे, तो स्वामी उसे स्वतन्त्र कर दे।[७] स्मृतियों में कहा गया है कि यदि दास स्वामी के प्राण को बचा ले, तो उसे राजा स्वयं मुक्त कर दे।[८] पर ऐसा प्रतीत होता है कि व्यावहारिक जीवन में स्वामी, दास के ऊपर काफी अत्याचार करता था। मृच्छकटिक में एक दास, स्वामी को अपने शरीर का अधीश्वर बताता है।[९] वह अपने दयनीय जीवन पर रोता हुआ दासता को धिक्कारता है।[१०] जब स्वामी उससे वसन्तसेना की हत्या कराना चाहता है, उस समय वह कहता है कि चाहे आप मुझे मारें

---

१. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ३०८, (शास्त्री-अनूदित)।
२. शाकुन्तलम्, अङ्क २।
३. दशकुमारचरित, पृष्ठ २५।
४. शाकुन्तलम्, अङ्क ४।
५. "ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥"
—मनु, ८, ४१५।
६. अर्थशास्त्र, भाग ४, अध्याय १३ (शास्त्री)।
७. वही, भाग ३, अध्याय १३ (शास्त्री)।
८. "स्वामीप्राणप्रदोभक्तः त्यागान्तन्निष्क्रियादपि"—याज्ञवल्क्य, २, १८२।
९. "प्रभवति भट्टकः शरीरस्य"—मृच्छकटिक, अङ्क ८।
१०. "हन्त ईदृशो दासभावः"—वही, अङ्क ९।

अथवा पीटें, मैं पाप न करूँगा।[१] इससे विदित होता है कि दास की कोई स्वतन्त्रेच्छा नहीं थी तथा उससे स्वामी गलत से गलत काम ले सकता था। वह दास पाप से डरता हुआ कहता है कि मैं पूर्व जन्म के पापों से इस जन्म में दास बना हुआ हूँ। अब और अधिक अकार्य करके पाप मोल न लूँगा। मैं कदापि अनर्थ नहीं कर सकता।[२]

चण्डाल--समाज में चण्डालों का स्थान निम्न था। इन्हें शास्त्रों में अन्त्यज तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न कहा गया है।[३] इनको लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन्हें नगर के बाहर अपना निवासस्थान बनाना पड़ता था। फाहियान ने लिखा है कि जब वे नगर में प्रवेश करते थे, तो सूचना देने के लिये लकड़ी से ढोल बजाते थे, जिससे लोग उनके मार्ग से हट जायँ तथा स्पर्श बचाकर चलें।[४] ह्वान् च्वाङ्ग के अनुसार मछुए, जल्लाद तथा नट आदि की गणना चण्डालों की कोटि में होती थी। वे अपने निवासस्थान पर पहचान के लिये चिन्ह लगा देते थे। उसने भी लिखा है कि उन्हें बस्ती के बाहर रहना पड़ता था तथा नगर में चलते समय इनको बाईं ओर दबक कर चलना पड़ता था।[५] बाण ने कादम्बरी में चण्डालों को अस्पृश्य बताया है। उसने एक परम सुन्दरी चण्डाल-कन्या के विषय में लिखा है कि वह न दिखाई देने वाली वस्तु के समान स्पर्शवर्जिता तथा चित्रलिखित वस्तु के समान दर्शनमात्र का फल थी।[६] जब इस सुन्दरी ने विदिशा के राजा शूद्रक के दरबार में प्रवेश किया, उस समय दरबारियों को सूचना प्रदान करने के लिये उसने सभा की फर्श पर बेंत की छड़ी (वेणुलता) से प्रहार

---

१. **"ताडयतु भट्टकः, मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि"**

--वही, अङ्क ८।

२. **"येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।**
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं न करिष्यामि॥"

--वही, अङ्क ८, २५।

३. **"शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्।**
वैश्याराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः॥"

--मनु, १०, १२।

४. **गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ४३।**

५. **वाटर्स, १, १४७।**

६. **"अमूर्तामिव स्पर्शवर्जितामालेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलाम्"**

--कादम्बरी, पृष्ठ २५।

किया था।[१] कादम्बरी से विदित होता है कि इनके रहने का ढङ्ग गर्हित तथा घृणित था।[२]

वेश्या—वेश्याएँ प्रायः नगरों में अधिक रहती थीं। सामाजिक नियमों के अनुसार धन देने वाले सभी व्यक्तियों का सम्मान उसे करना पड़ता था। मृच्छकटिक में उसकी तुलना उस बावड़ी से की गई है, जिसमें द्विजवर तथा मूर्ख दोनों ही स्नान कर सकते हैं। उसे वह लता बताया गया है, जहाँ पर मयूर तथा कौवे समान रूप से बैठते हैं। उसकी तुलना उस नौका से की गई है, जहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी बैठ सकते हैं।[३] इस ग्रन्थ में वेश्या के घर को युवकों का निवासस्थान कहा गया है। उसे मार्ग की लता के समान जनसम्पत्ति समझा जाता था। उसका शरीर पण्यभूत एवं धनहार्य था। प्रिय एवं अप्रिय की पाशविक मनोवत्तियों एवं वासनाओं की तृप्ति उसे अपनी असहाय अवस्था के कारण करनी पड़ती थी।[४] धनलोभ के कारण गणिका अपने प्यार का भाजन द्ररिद्र को प्रायः नहीं बनाती थी।[५] सभ्य कुल की महिलाएँ वेश्याओं से दूर रखी जाती थीं। उच्च कुल के नागरिकों के अन्तःपुर में इनका प्रवेश निषिद्ध था।[६] वेश्यागामी को समाज निम्न दृष्टि से देखता था। यही कारण है कि मृच्छकटिक में न्यायाधीश के पूछने पर चारुदत्त नगरवेश्या के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करने में लज्जा का अनुभव करता है।[७] इस ग्रन्थ में कहा गया है कि वेश्याएँ धन के लिये क्षण में हँसती तथा क्षण में

---

१. "प्रविश्य च सा...वेणुलतामादाय नरपतिप्रबोधनार्थं...संस्कृतसभाकुट्टिममाजघान"—कादम्बरी, पृष्ठ २५।

२. वही, पृष्ठ ४१-४२ (काले-अनूदित)।

३. "वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः।
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा॥
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावातयेवेतरे।
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥"
—मृच्छकटिक, अङ्क १, ३२।

४. "तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो विगणय गणिका त्वंमार्गजाता लतेव।
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं सममुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च॥"
—वही, अङ्क १, ३१।

५. "हा धिक्। दरिद्रः खलु सः"—चारुदत्त, अङ्क २।

६. मृच्छकटिक, अङ्क १।

७. "आर्य! गणिका तव मित्रम्"—वही, अङ्क ९।

रोती हैं। पुरुषों को तो वे बाहर से विश्वास दिलाती हैं पर भीतर उनके प्रति छल रखती हैं। इसलिये कुल और शील से युक्त मनुष्य को वेश्याओं का, श्मशान के पुष्पों की भाँति परित्याग कर देना चाहिये।[1] वे समुद्र की तरङ्गों के समान चञ्चल तथा सन्ध्याकालीन मेघों की पंक्ति के समान क्षणिक 'राग' (प्रेम) वाली होती हैं। ये पुरुष का धन लेकर उनको निस्तत्व लाक्षा (लाख) की भाँति छोड़ देती हैं।[2] ये हृदय में किसी अन्य को रखकर दृष्टि से किसी और को ही बुलाती हैं। ये मनसा, वाचा तथा कर्मणा छलमयी होती हैं, अतएव इनका विश्वास नहीं करना चाहिये।[3] जिस प्रकार कमलिनी शैल-शिखर पर नहीं उगती, गधे कभी घोड़े का कार्य नहीं करते तथा खेत में फेंका हुआ जौ धान नहीं बन सकता, उसी प्रकार वेश्याएँ भी पवित्र नहीं हो सकतीं।[4] मनु ने गणिका के द्वारा छूये हुए अन्न को अखाद्य कहा है।[5] गणिकाओं की गन्धर्वशालाओं में उच्च कुल की कन्या कलाज्ञान के लिये नहीं भेजी जाती थी।[6] दशकुमारचरित के लेखक ने वेश्याओं को दुष्ट कहा है।[7]

कतिपय गणिकाओं का आचरण अपेक्षाकृत उच्च था। वैशाली की गणिका आम्रपाली तथा उज्जयिनी की सुप्रसिद्ध वेश्या वसन्तसेना को समाज उच्च दृष्टि से देखता था। महावग्ग में आम्रपाली को नगर की शोभा कहा गया है।[8] इसी प्रकार

---

१. "एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥"
—मृच्छकटिक, अङ्क ४, १४।

२. "समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रिया हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति॥"
—वही, अङ्क ४, १५।

३. "अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वा, अन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्यं शरीरेण च कामयन्ते॥"
—वही, अङ्क ४, १६।

४. "न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः॥
—वही, अङ्क ५, १७।

५. "गणिकान्नं...विदुषां...जुगुप्सितम्"—मनु, ४, २०९।

६. कामसूत्र, पृष्ठ २६४।

७. दशकुमारचरित, पृष्ठ १११ (काले)।

८. महावग्ग, ५, ३०।

मृच्छकटिक में वसन्तसेना को उज्जयिनी की वसन्तशोभा कहा गया है।[1] दरिद्र चारुदत्त में अनुरक्त होने के कारण वह सर्वथा अवचनीया थी।[2] वात्स्यायन ने लिखा है कि इस प्रकार की शीलरूपगुणान्विता वेश्या राजा तथा गुणवानों की मण्डली के द्वारा सर्वथा पूजित थी।[3] ललितविस्तर में शास्त्रों में निपुण तथा कलाओं में प्रवीण गणिकाओं का उल्लेख मिलता है। शुद्धोधन इसी प्रकार की गणिकाओं के समान शास्त्रज्ञा एवं कलामर्मज्ञा पुत्रवधू की कामना करते हुए उपर्युक्त ग्रन्थ में दिखाये गये हैं।[4] राजशेखर ने काव्यमीमांसा में शास्त्रप्रहितबुद्धि वाली गणिकाओं का उल्लेख किया है।[5] नाटकों में भरतमुनि ने ऐसी वेश्याओं को संस्कृत में बोलने को कहा है।[6]

कुट्टनी—नगरों में वेश्याओं के समान कुट्टनियाँ भी रहती थीं। प्राचीन ग्रन्थों में कुट्टनी को 'दूती' कहा गया है। दशकुमारचरित में इनके जीवन का विशद वर्णन मिलता है। नायक, दूती को सन्देशवाहिका बनाकर नायिका के पास भेजता था। नायक के गुणगान के द्वारा नायिका में नायक के प्रति प्रेम उत्पन्न करना इनका काम था।[7] कभी-कभी नायिका के द्वारा भी नायक के पास दूती भेजने का उल्लेख मिलता है।[8] दामोदरगुप्त के 'कुट्टनीमतम्' में कहा गया है कि दूती स्वभाव से चतुर, बातचीत करने में निपुण तथा दूसरे के चित्त को समझने में कुशल हुआ करती थीं।[9] दशरूपक में दूती के सात भेद बताये गये हैं:—(१) सखी, (२) दासी,

---

१. "वसन्तशोभेववसन्तसेना"—मृच्छकटिक, अङ्क १।

२. "दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति"
—वही, अङ्क २।

३. "आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि।।
पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता।
प्रार्थनीयाऽभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते।।"
—कामसूत्र, पृष्ठ ४४, सूत्र २०-२१।

४. "शास्त्रेणविधिज्ञकुशला गणिका"—ललितविस्तर, १२, १३९।

५. "गणिका...शास्त्रप्रहितबुद्धयः"—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५३।

६. नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, १९।

७. दशकुमारचरित, पृष्ठ ७८ (काले)।

८. वही, पृष्ठ ६२ (काले)।

९. "चतुरा प्रगल्भवती परचित्तज्ञानकौशलोपेता"—कुट्टनीमतम्, पंक्ति १७५।

(३) कारु (धोबिन), (४) धात्रेयी (दाई), (५) प्रतिवेशिका (पड़ोस में रहने वाली), (६) लिङ्गिनी (भिक्षुकी) तथा (७) शिल्पिनी (चित्रकारी आदि का ज्ञान रखने वाली)।[१] दूतीकर्मप्रकाश में तो दूती के इक्कीस भेद बताये गये हैं:—(१) सखी, (२) विप्रश्निका, (३) चेटी, (४) स्वयंदूती, (५) शिल्पिनी, (६) विचित्रवदना, (७) गानवती, (८) धात्री, (९) कुमारिका, (१०) प्रासङ्गिनी, (११) मालिनी, (१२) स्खलिता, (१३) प्रतिवेशिनी, (१४) परिचित्तविशेषज्ञा, (१५) रजकी, (१६) चेष्टासङ्केतकोविदा, (१७) सौचिकी, (१८) वेषधारिणी, (१९) मणिहारिणी, (२०) कथिनी तथा (२१) नापिकी।[२] लेखक ने लिखा है कि इनके रहस्यमय चरित्र को ब्रह्मा भी नहीं समझ सकते, मानव की तो कोई बात ही नहीं।[३]

चौर—धनिकों का केन्द्र होने के कारण नगरों में चोरों का भी होना स्वाभाविक ही था। 'चारुदत्त' से विदित होता है कि नगरों में कुछ लोग चौर-कार्य का अभ्यास कला के रूप में करते थे। इस ग्रन्थ में 'चौर-विज्ञान' के एक विद्यार्थी का उल्लेख मिलता है।[४] चौर-वर्ग में यह कार्य घृणित नहीं समझा जाता था। मृच्छकटिक में अपने आचरण के समर्थन में एक चोर महाभारत से उस अश्वत्थामा को उद्धृत करता है जिसने चोरी के साथ अपने शत्रुओं का वध किया था।[५] वह इसको जीविका का स्वाधीन मार्ग तथा सेवाञ्जलि से श्रेयस्कर बताता है।[६] इस ग्रन्थ में चौर-कार्य को शौर्य कहा गया है।[७] नगरों में पुलिस का भय सर्वदा बना रहता था। चारुदत्त में उज्जयिनी के एक चोर को हम रक्षकों के भय से आतङ्कित पाते हैं।[८] इस नाटक में उसकी शङ्कित आत्मा का वर्णन भी किया गया है। सेंध लगाने के लिये वे एक नापने वाली रेखा तथा विशेष प्रकार का शस्त्र रखते थे।[९] सेंध के

---

१. "दूत्यो दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विता॥"—दशरूपक, २, २९।

२. काव्यमाला, गुच्छक १३, (दूतीकर्मप्रकाश), श्लोक २-४।

३. "तच्चरित्रमिति ज्ञातुं ब्रह्मणापि न शक्यते"—वही, श्लोक ५।

४. चारुदत्त, अङ्क ३।

५. "मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना"—मृच्छकटिक, अङ्क ३।

६. "स्वाधीना वचनीयतापि तु वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः"—वही, अङ्क ३।

७. "विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत्"—वही, अङ्क ३।

८. चारुदत्त, अङ्क ३।

९. वही, अङ्क ३।

रास्ते से घर में प्रवेश करने के पूर्व स्कन्द, देव, खरपट तथा रात्रिगोचर देवों का नाम लेते थे।[१] मृच्छकटिक में एक चोर, छल एवं प्रतारणा के क्षेत्र में अपनी दक्षता एवं कौशल पर गर्व प्रकट करता है।[२] दशकुमारचरित में चोरों के कार्यकलापों का विशद विवरण उपलब्ध होता है।[३]

आदर्श नागरिक—कुट्टनी तथा चौरादि का जीवन बहुत ही गर्हित समझा जाता था, क्योंकि चरित्र-सङ्गठन की उत्कृष्टता ही नगर-जीवन में सर्वथा सम्मानित थी। इनके तथा आदर्श नागरिक के जीवन में महान् अन्तर था। आदर्श नागरिक के चरित्र का ज्वलन्त प्रतीक मृच्छकटिक में वर्णित चारुदत्त के व्यक्तित्व में प्राप्त होता है। वह दीनों के लिये कल्पतरु (दीनानां कल्पवृक्षः), अपने गुण रूपी फलों से नम्र (स्वगुणफलनतः), सज्जनों के लिये स्वजनतुल्य (सज्जनानां कुटुम्बी), शिक्षितों का आदर्श (आदर्शः शिक्षितानां), सज्जनों के लिये कसौटी (सुचरित-निकषः), शील रूपी वेला का समुद्र (शीलवेलासमुद्रः), परोपकारी (सत्कर्ता), किसी का अपमान न करने वाला (नावमन्ता), सद्गुणों का केन्द्र (पुरुषगुणनिधिः), कुशल (दक्षिण), उदार (उदारसत्व), अन्धों के लिये दृष्टि की भाँति (अन्धस्य दृष्टिरिव) तथा रोगी के लिये शारीरिक शक्ति के समान (पुष्टिरिवातुरस्य) था।[४] वसन्तसेना वेश्या होते हुए भी दरिद्र किन्तु गुणवान् चारुदत्त पर अनुरक्त थी।[५] इसमें हम उसके पवित्र चरित्र की सुन्दर झलक पाते हैं। चारुदत्त की पत्नी धूता आदर्श गृहिणी थी। वेश्या से सम्बन्ध रखने वाला पति भी उन्हें प्राणों से अधिक प्यारा था। सापत्न्यभाव उसमें शून्य था। यही कारण है कि वह प्रसन्नचित्ता थी तथा वसन्तसेना से प्रेम करती थी। वसन्तसेना भी स्वयं को धूता की दासी मानती थी।[६]

---

१. "नमः खरपटाय नमो रात्रिगोचरेभ्यो देवेभ्यः"—चारुदत्त, अङ्क ३।

२. मृच्छकटिक, अङ्क ३।

३. दशकुमारचरित, पृष्ठ ५८ (काले)।

४. मृच्छकटिक, अङ्क १।

५. वही, अङ्क १।

६. "अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी तदा तुम्हाणंपि"—वही, अङ्क ६।

अध्याय १४

भारतीय कला में नगर, नगर-द्वार तथा राजप्रासादों का अङ्कन

भारतीय कला भी नगर, नगर-द्वार तथा राजप्रासाद के स्थापत्य पर प्रकाश डालती है। **भरहुत, साँची, अमरावती, मथुरा,** अजन्ता, कार्ले, बेदसा, **कोन्दाने** तथा **भाजा** आदि की कला में यत्र-तत्र इन विषयों का अङ्कन हुआ है, जिनके द्वारा इनके बारे में निम्न परिचय प्राप्त होता है।

साँची-स्तूप के पूर्वी तोरण पर शाक्यों की राजधानी **कपिलवस्तु** का जो चित्रण किया गया है, उसमें इस नगर का प्राकार तथा परिखा दिखायी गयी है। नगर के भवन, प्राकार के अन्दर अंकित हैं। इनमें बैठी हुई आकृतियां बाहर की ओर देखती हुयी प्रदर्शित की गयी हैं। परिखा के ऊपर एक पुल भी बना हुआ है। नगर की स्त्रियाँ अपने हाथों में घड़ा लिये हुए दिखायी गयी हैं। वे इनमें परिखा का जल भरकर नगर की ओर लौटती हैं। एक युवती के हाथ में पानी भरने वाला एक बहुत ही सुन्दर वर्तन दिखाया गया है। यह पात्र एक बड़े कमण्डल के आकार का है। इसके ऊपरी भाग में पकड़ने के लिये एक मुठिया बनी हुयी है। पानी को गिराने के लिये वर्तन के अगले भाग में एक टोंटी है। वर्तन ऊपर से ढका हुआ है ताकि जल बाहर न गिर सके। बगल में एक दूसरी स्त्री घड़ा लिये हुए है, जो कि आकार में बड़ी सुराही के तुल्य है। इसके भी ऊपरी भाग में पकड़ने के लिये एक मुठिया बनी हुयी है। ये वर्तन धातुओं के बने प्रतीत होते हैं। नगर के प्रधान द्वार के पास ही एक पहरेदार है। उसके शरीर का केवल ऊपरी भाग दिखायी देता है। इस द्वार से गौतम बुद्ध घोड़े पर सवार होकर निकलते हैं। एक सेवक उनके ऊपर छत्र ताने हुए दिखाया गया है। यह नगर-द्वार पक्का और सुदृढ़ दीख पड़ता है। इसके दोनों खम्भे आकार में गोल तथा चौड़े हैं। नगर-द्वार के तोरण में नक्काशी की गयी है:—(फलक १२, चित्र १३)।

साँची-स्तूप के दक्षिण तोरण पर मल्लों की राजधानी तथा गौतमबुद्ध की निर्वाण-भूमि **कुशीनगर** के बाहरी दृश्य का चित्रण किया गया है। तोरण के मध्य भाग में नीचे की ओर नगर के प्राकार तथा परिखा का अङ्कन मिलता है। प्राकार के भीतर नगर के कुछ विशिष्ट भवन दृष्टिगोचर होते हैं। नगर के दाईं ओर एक द्वार

दीख पड़ता है। इसके ऊपरी भाग पर एक सशस्त्र सैनिक चित्रित किया गया है। नगर के बाईं ओर भी एक द्वार दृष्टिगोचर होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नगर-द्वार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके ऊपरी भाग में एक कमरा है, जिसमें तीन सैनिक दृष्टिगोचर होते हैं। एक के हाथ में धनुषबाण, दूसरे के हाथ में गदा तथा तीसरे के हाथ में भाले जैसा शस्त्र दीख पड़ता है—(फलक १२, चित्र १४)। जब शत्रु दुर्ग के ऊपर आक्रमण करते थे, उस समय इनका कार्य नीचे की शत्रुसेना पर बाण तथा शस्त्र आदि का फेंकना था। शास्त्रों में नगरद्वार के ऊपर इस उद्देश्य से सैनिकों की नियुक्ति का निर्देश किया गया है। दोनों द्वारों के सामने शत्रुओं की सेनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सेना के नायक रथ, घोड़े तथा हाथी पर बैठे हुए हैं। मल्लों के ये शत्रु भारत के अनेक शासक प्रतीत होते हैं, जो गौतमबुद्ध की मृत्यु के उपरान्त उनके शरीर के अवशेष को छीनना चाहते थे। कपिलवस्तु के समान ही यहाँ के भवनों के वातायनों में भी कुछ आकृतियाँ दिखायी गयी हैं। वे यहाँ के सम्मानित नागरिक हैं, जो कि नीचे के दृश्य को देख रहे हैं—(फलक १३, चित्र १५)।

इस स्तूप के पश्चिमी तोरण पर भी **कुशीनगर** का चित्रण मिलता है। इसमें नगर का एक छोटा सा भाग अङ्कित किया गया है। इस भाग में नगर के घेरे का दृश्य मिलता है। नगर के सामने एक बड़ी सेना दिखायी गयी है, जिसमें रथ, हाथी तथा पैदल सैनिक सम्मिलित हैं। सेना में सात सरदार दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके ऊपर छत्र का आवरण किया गया है। ये वे ही सात शासक हैं, जिन्होंने गौतम बुद्ध की अस्थियों पर अपना दावा पेश किया था। नगर के भीतर जो घर दिखायी देते हैं, उनमें स्थान-स्थान पर खिड़कियाँ खोली गयी हैं। इनमें कुछ आकृतियाँ दिखाई देती हैं, जिनमें अधिकांश पुरुषों की हैं। ये मल्लों के प्रधान प्रतीत होते हैं, जो नीचे के दृश्य को ध्यानपूर्वक देख रहे हैं—(फलक १३, चित्र १६)।

साँची के उत्तरी तोरण पर **जेतुत्तर** नगर का अङ्कन किया गया है। नगर का प्राकार तथा प्रधान द्वार यहाँ पर चित्रित किया गया है। नगर के भवन प्राकार के भीतर दिखाये गये हैं। स्त्रियाँ हाथ में घड़ा लिये हुए नगर-द्वार से निकलती हुयी दिखायी गयी हैं। द्वार के दाहिनी ओर प्राकार में एक बुर्ज़ भी बना हुआ है। द्वार के ऊपर दो मञ्जिलों वाला घर बना हुआ है।[1] इसका निर्माण सैनिकों के प्रयोग के लिये किया गया होगा।

साँची के उत्तरी तोरण पर **श्रावस्ती** का भी अङ्कन किया गया है। बाईं ओर कुछ भवन तथा नगर का प्रधान द्वार दृष्टिगोचर होता है। दाईं ओर नगर की

---

१. फलक १४, चित्र १७।

दीवाल दिखायी पड़ती है।[1] इस स्तूप के पूर्वी तोरण पर **राजगृह** का दृश्य अङ्कित है। इसमें भी नगर का प्राकार तथा प्रधान द्वार दिखाया गया है। इस द्वार से एक रथ बाहर निकलता हुआ प्रदर्शित किया गया है। नगर के भीतर एक भवन तथा नगर की दीवाल में एक बुर्ज दिखाया गया है।[2] सांची के उत्तरी तोरण में भी राजगृह का अङ्कन देखने को मिलता है। इसमें नगर का प्राकार तथा प्राकार के भीतर नागरिकों की शालाएँ भी वर्तमान हैं। नगर के प्रधान द्वार से राजा का रथ निकलता हुआ दिखाया गया है।[3]

अमरावती के स्तूप पर भी नगरों का अङ्कन किया गया है। इसमें एक स्थान पर **वाराणसी** का चित्रण मिलता है। इसमें नगर की दीवाल का थोड़ा सा भाग दीख पड़ता है। दीवाल के भीतर राजा का प्रासाद है। इसके प्रधान द्वार से लोग भीतर तथा बाहर आते-जाते हुए दिखाये गये हैं।[4] इस स्तूप पर अन्यत्र **कुशीनगर** का भी अङ्कन किया गया है। इसमें नगर की दीवाल का एक भाग बुर्ज के साथ प्रदर्शित किया गया है। नगर के भीतर गौतमबुद्ध की अस्थियों का बटवारा दिखाया गया है। साथ ही कुछ नर्तकियां भी दिखायी गयी हैं, जो कि अस्थियों के सम्मान में नृत्यकला का प्रदर्शन करती हैं। नगर के प्रधान द्वार से एक मल्ल सरदार गजारूढ़ होकर बाहर आता हुआ दिखाया गया है।[5] इस प्रकार की भावना का उल्लेख पालिग्रन्थों में बहुधा मिलता है। उदाहरणार्थ, मज्झिमनिकाय में कोशल-नरेश प्रसेनजित, पुण्डरीक नामक हाथी की पीठ पर बैठ कर नगर के प्रधान द्वार से बाहर निकलते हुए उल्लिखित किये गये हैं।[6]

साँची तथा अमरावती की कला के द्वारा नगर-द्वारों के विषय में जो जानकारी प्राप्त होती है, उसमें कुछ अधिक योग ११०० ई० के लगभग के एक नगर-द्वार के द्वारा प्राप्त होता है। यह **दभोई** नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जहाँ पर सोलङ्कियों के काल में एक वैभवशाली नगर वर्तमान था। श्री कुमारस्वामी के शब्दों में इस नगर-द्वार के स्थापत्य में प्रारम्भिक नगर-द्वार की निर्माणशैली की समस्त

---

१. मार्शल, गाइड ट साँची, पृष्ठ ६५।

२. वही, पृष्ठ ६५।

३. वही, पृष्ठ ६०।

४. ईस्टर्न आर्ट, जिल्द २, १९३०, पृष्ठ २२३।

५. फलक १४, चित्र १८।

६. "राजा पसेनदि-कोसलो एकपुण्डरीकं नागं अधिरूहित्वा सावत्थिया निय्याति"—मज्झिम निकाय, २, ११२।

परम्पराएँ विद्यमान हैं।[1] यह काफी अच्छी दशा में प्राप्त हुआ है, जिससे इसके विभिन्न अङ्गों को भली-भाँति समझने में सहायता मिलती है। यह द्वार नगर की दीवाल में बना हुआ है। इसके निर्माण में विशेषतया प्रस्तरखण्डों का उपयोग किया गया है। द्वार के दोनों खम्भों पर नक्काशी का काम बहुत अच्छी तरह किया गया है। द्वार के भीतरी भाग में भी कई खम्भे बने हुए हैं, जिन पर उसी ढङ्ग से उकेरी का काम हुआ है। द्वार का निचला भाग काफी चौड़ा है, पर ऊपरी भाग अपेक्षाकृत कम चौड़ा तथा आकार में मेहराब के समान है। द्वार के भीतर एक ही साथ कई सवारियाँ जा सकती थीं। द्वार के पास ही भीतर की ओर कमरे भी बने हुए हैं। ये पहरेदारों के रहने के निमित्त बनाये गये होंगे—(फलक १५, चित्र १९)।

भारतीय कला में कभी-कभी नगर के भीतरी भाग का भी चित्रण हुआ है, उदाहरणार्थ बाज़ार का दृश्य। भरहुत में बाज़ार के एक दृश्य में तीन घर एक ही साथ दिखाये गये हैं। इसमें दूकान के सामने एक ग्राहक हाथ में थाली लिये हुए खड़ा है। दूकानदार उसकी थाली में कोई ऐसी वस्तु एक वर्तन को उलटकर भर रहा है, जिसको कि वह खरीदना चाहता है। पास ही एक दूसरा आदमी भी खड़ा है, जो कि मजदूर प्रतीत होता है। उसके हाथ में एक बहँगी है, जिसमें दो मटके दोनों ओर लटके हुए दिखाये गये हैं—(फलक १५, चित्र २०)। भरहुत में दूकान का एक दूसरा दृश्य भी प्रदर्शित किया गया है। इसमें दो व्यापारी पास ही बैठे हुए हैं। उनके सामने गाँठ में बन्द कपड़े रखे हुए हैं। नीचे की ओर केले की एक घौद है। उनके सामने दो व्यक्ति खड़े हैं, जो सम्भवतः माल खरीदना चाहते हैं और इसके लिये आपस में कुछ सलाह कर रहे हैं—(फलक १६, चित्र २१)। अजन्ता के भित्तिचित्रों में बाज़ार के बहुत सुन्दर नमूने प्राप्त हुए हैं। इसमें तीन दूकानें एक ही साथ दिखायी गयी हैं। पहली दूकान में एक दूकानदार है, जिसके सामने माल से भरे हुए दो घड़े हैं। वह सम्भवतः किसी सम्मानित व्यक्ति को प्रणाम करता हुआ प्रदर्शित किया गया है। दूसरा दूकानदार सम्भवतः तेल का व्यापारी दीख पड़ता है। उसकी दूकान में कई वर्तन हैं। वह एक छोटे से पात्र में तेल भरता हुआ प्रदर्शित किया गया है। तीसरी दूकान में भी कई वर्तन दिखाये गये हैं। दूकानदार हाथ में तराजू लिये हुए कुछ तौल रहा है—(फलक १६, चित्र २२)।

नगर के जिन अन्य अन्तर्भागों के सम्बन्ध में भारतीय कला में सामग्री मिलती है, उनमें राजप्रासाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजप्रासाद का एक बहुत ही प्राचीन उदाहरण भरहुत की कला में देखने को मिलता है। इस भवन में तीन

---

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ११३।

मञ्जिलें स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं। यहाँ पर शास्त्रों के "त्रितलधाम" अथवा "त्रिभूमिक प्रासाद" का अङ्कन देखा जा सकता है। प्रासाद के सबसे निचले भाग में दो सुदृढ़ स्तम्भ दृष्टिगोचर होते हैं। इस भाग में कई आकृतियाँ भी दिखायी गयी हैं, जो सम्भवतः देवताओं की हैं। दूसरी मञ्जिल में तीन वातायन दिखाई पड़ते हैं, जिनमें किनारे के दो वातायन कुछ आगे की ओर अधिक बढ़े हुए हैं तथा मध्य का वातायन अपेक्षाकृत कुछ अन्दर की ओर घुसा हुआ प्रदर्शित किया गया है। प्रत्येक वातायन में एक आकृति नीचे के दृश्य को देखती हुई अङ्कित की गयी है। सबसे ऊपर की मञ्जिल में दो वातायन दिखाये गये हैं। इनमें भी दो आकृतियाँ नीचे की ओर देख रही हैं। ऊपर की मञ्जिल में छत दोनों ओर मुड़ी हुई दिखायी गई है--(फलक १७, चित्र २३)।

भरहुत के समान ही साँची के तोरणों पर भी राजप्रासादों का चित्रण यत्र-तत्र देखने को मिलता है। पूर्वी तोरण पर शाक्यनृपति शुद्धोधन का राजप्रासाद अङ्कित किया गया है। प्रासाद की दूसरी मञ्जिल में गौतमबुद्ध की माता माया सोती हुई प्रदर्शित की गयी हैं। उसके ऊपर तीसरी मञ्जिल का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। माया के सिर की ओर कुछ दूर पर एक और निर्माण दिखायी देता है, जिसका उद्देश्य कुछ निश्चयात्मक रूप से समझ में नहीं आता। उनके दाईं ओर गौतमबुद्ध सफेद हाथी के ऊपर से उतरते हुए दिखाये गये हैं। इसका वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। सबसे ऊपरी मञ्जिल की छत वक्राकार दिखायी गयी है। इस मञ्जिल की वेदिका पर कबूतर जैसा एक पक्षी बैठा हुआ है। प्रासाद की दाईं ओर दो महल दीख पड़ते हैं। सम्भवतः ये भी राजमहल के प्रसङ्ग में ही बने हुए हैं। राजप्रासाद के नीचे की ओर एक लम्बा जलूस दीख पड़ता है। सबसे निचले भाग में कुछ न्यग्रोध-वृक्ष दिखायी देते हैं। इन वृक्षों से तात्पर्य राजप्रासाद के उस उपवन से प्रतीत होता है, जिसमें न्यग्रोध-वृक्ष लगाये गये थे। यह सम्भव हो सकता है, क्योंकि पालि-साहित्य में शुद्धोधन के द्वारा अपने पुत्र सिद्धार्थ को एक न्यग्रोध-उपवन के समर्पण का उल्लेख मिलता है---(फलक १७, चित्र २४)।

साँची के पूर्वी तोरण में एक स्थान पर प्रासादों की ६ मञ्जिलें दिखायी गयी हैं। मार्शल महोदय का मत है कि समस्त मञ्जिलें एक ही प्रासाद की नहीं हो सकतीं। इनमें से प्रत्येक पृथक् प्रासाद की हैं। प्रत्येक मञ्जिल के सामने उसका बरामदा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक बरामदे में खम्भे दृष्टिगोचर होते हैं, जो उसे तीन भागों में बाँटते हैं। सबसे बिचले भाग में एक देवता बैठा हुआ है, जिसके दाहिने हाथ में वज्र तथा बायें हाथ में अमृत का पात्र है। उसके पीछे स्त्रियाँ हैं, जो कि छत्र तथा चँवर धारण किये हुए हैं। दायें भाग में एक और

देवता है तथा बायें भाग में सङ्गीतज्ञ एवं नर्तक हैं। प्रत्येक प्रासाद में कुछ विभेद के साथ प्रायः ये ही बातें देखने को मिलती हैं। प्रासादों में जो खम्भे लगे हुए हैं, वे बहुत ही अलङ्कृत हैं। इनमें से कुछ के ऊपरी भाग में कमल दिखाया गया है। प्रासादों के अन्तर्भाग में यत्र-तत्र वृक्ष भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस आधार पर श्री कुमारस्वामी का मत है कि इन प्रासादों के चतुर्दिक् अनेक वृक्षों से युक्त उपवन रहे होंगे।[1] मार्शल महोदय का मत है कि इन ६ प्रासादों में बौद्धों के ६ स्वर्गलोकों (कामावचरक देवलोक) का दृश्य दिखाया गया है।[2] सबसे निचले प्रासाद में चतुर्महाराजिक देवलोक है। दूसरे में त्रयस्त्रिंश स्वर्ग का दृश्य प्रदर्शित है। तीसरे प्रासाद में वह स्वर्ग दिखाया गया है, जिसके अधिपति यम हैं तथा जिसमें रात्रि एवं दिन का कोई विभेद प्रतीत नहीं होता। चौथे में उस तुषित स्वर्ग का दृश्य अङ्कित किया गया है, जिसे बौद्धमतावलम्बी बोधिसत्वों की जन्मभूमि मानते हैं। पाँचवें प्रासाद में निर्माणरति के देवलोक का अङ्कन किया गया है। छठें में एक दूसरे स्वर्गलोक का दृश्य दिखाया गया है, जो बौद्धों के अनुसार परिनिर्मित-वशवर्तिन देवताओं का लोक समझा जाता है—(फलक १७, चित्र २५)।

भरहुत के समान ही साँची के उत्तरी तोरण पर तीन मञ्जिलों वाला एक प्रासाद अङ्कित किया गया है। इसकी तुलना शास्त्रों में वर्णित **त्रिभूमिक प्रासाद** अथवा **त्रितलधाम** से की जा सकती है। निचली मञ्जिल में खम्भे दृष्टिगोचर होते हैं। इसकी छत भी दोनों ओर चिपटी है। तोरण के दाहिनी ओर एक सड़क पर जलूस जाता हुआ प्रदर्शित किया गया है—(फलक १७, चित्र २६)।

साँची के पूर्वी तोरण पर बाईं ओर चार मञ्जिलों से युक्त एक प्रासाद अङ्कित है। इसकी तुलना जातकों में वर्णित "चतुभूमिक पासाद" (**चतुर्भूमिकप्रासाद**)[3] से की जा सकती है। तोरण के दाईं ओर दो मञ्जिलों वाला (**द्विभूमिक प्रासाद**) भी दृष्टिगोचर होता है। नीचे की ओर सड़क पर एक जलूस का भी दृश्य चित्रित किया गया है। प्रासाद में लगे हुए खम्भे भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं—(फलक १८, चित्र २७)।

अमरावती की कला में एक स्थल पर राजा शुद्धोधन के राजप्रासाद के दो कोष्ठ दिखाये गये हैं। बायें कोष्ठ में उनकी पत्नी माया चित्रित की गयी हैं। कमरे में रानी की दासियाँ सो रही हैं। पास ही चार देवता रखवाली कर रहे हैं। दायें

---

१. ईस्टर्न आर्ट, जिल्द ३, १९३१, पृष्ठ २०९।

२. गाइड टू साँची, पृष्ठ ६३।

३. जातक, ४, १०५।

कोष्ठ में शुद्धोधन रानी के स्वप्न की व्याख्या सुनते हुए दिखाये गये हैं। दोनों कोष्ठों के बीच एक दीवाल है।[१] अमरावती की कला में दो **शिविकाओं** का चित्रण किया गया है, जिसमें एक घर की भाँति लगती हैं। इससे साहित्य में वर्णित शिविका-गर्भ का अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें कई मञ्जिलें दिखायी गयी हैं। बीच-बीच में खिड़कियाँ खुली हुई हैं, जिससे यह काफी हवादार लगता है—(फलक १८, चित्र २८)।

मथुरा की कला में भी राजप्रासादों का अङ्कन किया गया है। इसमें एक स्थान पर **त्रिभूमिक (तीन मञ्जिल वाले) प्रासाद** का दृश्य उपस्थित किया गया है। यह विहार-प्रासाद प्रतीत होता है। सबसे ऊपरी मञ्जिल की छत खपड़ैल की है। राजप्रासाद के चतुर्दिक् एक उपवन दिखाया गया है। सामने की ओर एक प्राकार तथा अगल-बगल दो अट्टालक भी दिखाये गये हैं। प्रासाद के भीतर दरवाज़े भी दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकार के भीतर तथा बाहर महल के कई पहरेदार दिखाये गये हैं।[२] इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर प्रासाद की ऊपरी मञ्जिल दिखायी गयी है। इसके सामने के भाग में स्तम्भ दृष्टिगोचर होते हैं। इस भवन में जालीदार खिड़कियाँ खुली हुयी हैं। इसकी छत खपड़ैल की है।[३] मथुरा से प्राप्त एक स्तम्भ पर एक दूसरे प्रासाद की मञ्जिल अङ्कित की गयी है। इसमें बने हुए एक वातायन के कपाट अधखुले दृष्टिगोचर होते हैं। इस वातायन की तुलना मृच्छकटिक के अधखुले कपाट वाले वातायन (वातायनस्यार्द्धेन) से की जा सकती है। दूसरी खिड़की जालीदार दिखायी गयी है।[४] मथुरा की कला में एक बहुत बड़े सोपान का भी प्रदर्शन हुआ है, जिसकी तुलना जातकों में वर्णित (जातक, ६, ४२८) 'महा-सोपान' से की जा सकती है—(फलक १९, चित्र ३०)।

भाजा, कार्ली, कोन्दाने तथा **बेदसा** की कला में भी प्रासादों का अङ्कन हुआ है। भाजा में प्रासादमुख दृष्टिगोचर होता है। प्रासाद में तीन मञ्जिलें दिखायी गयी हैं। निचली मञ्जिल का अन्तर्भाग भी अङ्कित किया गया है—(फलक २०, चित्र ३१)। कार्ली में जिस प्रासाद का अङ्कन हुआ है, उसमें पाँच मञ्जिलें दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक मञ्जिल में वातायन खोले गये हैं, जो आकार में बहुत बड़े हैं। चौथी मञ्जिल के वातायन का ऊपरी भाग जालीदार है—(फलक २०, चित्र ३२)।

---

१. ईस्टर्न आर्ट, जिल्द ३, १९३१, पृष्ठ २०९।

२. फलक १९, चित्र २९।

३. ईस्टर्न आर्ट, जिल्द ३, १९३१, पृष्ठ २११।

४. वही, पृष्ठ २१३।

कोन्दाने की कला में एक स्थान पर त्रिभूमिक (तीन मञ्जिलवाले) प्रासाद का चित्रण किया गया है। ऊपर की मञ्जिल की दीवालों में काट-छाँट का काम बहुत बारीकी के साथ किया गया है। बरामदे में यत्र-तत्र स्तम्भ भी दीख पड़ते हैं--(फलक २१, चित्र ३३)। बेदसा में चतुर्भूमिक (चार मञ्जिल वाले) प्रासाद का अङ्कन किया गया है। इसमें भी जो वातायन खोले गये हैं, उनमें से कतिपय कार्ली के वातायनों के समान आकार में बड़े हैं--(फलक २१, चित्र ३४)।

अध्याय १५

उपसंहार

श्रम-विभाजन पर अवलम्बित नागरिक जीवन का विकास मूलतः उद्योग तथा व्यापार की वृद्धि का द्योतक है। ग्राम-समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में विविधता, जटिलता तथा गतिशीलता अधिक होती है, जिसके परिणामस्वरूप चिन्तन-सरणि में भेद होना तथा बुद्धि का जागरूक होकर नई दिशाओं में खोज करना स्वाभाविक है। अतएव वैदिक काल के अन्त से नागरिक जीवन की प्रगति के साथ बौद्धिक एवं आर्थिक जीवन में भी प्रगति परिलक्षित होती है। विशेषानुसरण का सामाजिक क्षेत्र में कर्म-भेद तथा विद्या के क्षेत्र में शास्त्र-भेद के रूप में विकास दृष्टिगोचर होता है। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से अनेक शास्त्रों का पृथक् धाराओं में उन्नत होना देखा जा सकता है; यथा, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, वेदाङ्गभूत शिक्षादि (विशेषतः व्याकरण), मोक्षप्रतिपादक अनेक समुदायों के आगम आदि। उनमें अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र का विकास विशेष रूप में नागरिक जीवन पर आधारित था। इसी प्रकार काव्य तथा कला की प्रगति का भी नागरिक जीवन से अन्तरङ्ग सम्बन्ध रहा है। उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा की उन्नति नगरों के ही विकास के कारण सम्भव हो सकी।

पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि ग्राम एवं नगरमें भेद माना जाता था। पाणिनि ने ग्राम एवं नगर को विभिन्न जनसन्निवेश माना है—(प्रचां ग्रामनगराणाम्)।[1] मृच्छकटिक में ग्राम एवं नगर का पृथक् उल्लेख करते हुए दोनों की विभिन्नता को स्वीकार किया गया है।[2] शिल्पशास्त्र पुर तथा ग्राम की अलग परिभाषा देते हुए दोनों की विभिन्नता को प्रमाणित करते हैं। मानसार में नगर को वस्तुओं के क्रय-विक्रय करने वालों से परिपूर्ण (जनैः परिवृतं क्रयविक्रयकादिभिः), विभिन्न जातियों का निवासस्थान (अनेक-जातिसंयुक्तम्) तथा कारीगरों का केन्द्र (कर्म्मकारैः समन्वितम्) बताया गया है।[3]

---

१. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ७७।**

२. **"अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः"—मृच्छकटिक, अङ्क १।**

३. **मानसार, अध्याय ९।**

मयमत में इसे क्रयविक्रय करने वाले वणिकों का निवासस्थान (क्रयविक्रयैर्युक्तम्) कहा गया है।[१] इन ग्रन्थों के अनुसार नगर की चारों दिशाओं में चार द्वार होते हैं (दिक्षु चतुर्द्वारयुक्तम्) तथा उसमें सुन्दर शालाएँ बनी रहती हैं--(शालाढ्यम्)।[२] नगर की अपेक्षा ग्राम का सन्निवेश साधारण ढङ्ग पर होता था। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार ग्राम में व्यापारी तथा व्यावसायिक बहुत कम हुआ करते हैं। इसमें प्रायः साधारण वित्त वाले लोग ही रहते हैं। ग्राम में बने हुए घरों की बनावट बहुत ही साधारण होती है।[३] नगर में रहने वाले स्वभाव-चतुर माने जाते थे। उनके वार्तालाप का ढङ्ग तथा व्यवहार ग्रामवासियों से अधिक शिष्ट तथा अवसर के अनुकूल होता था। शाकुन्तल में 'नागरिकवृत्ति' का उल्लेख किया गया है। राजा, नाटक के पञ्चम अङ्क में विदूषक से कहता है कि हे सखे! तुम हंसपदिका (जो मुझसे रुष्ट है) को नागरिकवृत्ति के द्वारा प्रसन्न करो (सखे! गच्छ, नागरिकवृत्या सान्त्वयैनाम्)।[४] यहाँ पर नागरिकवृत्ति का अर्थ नगर में रहने वालों के विदग्धव्यवहार तथा उनकी वाग्पटुता से है।

कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में ग्रामनगर-भेद के विषय में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ के प्रथम अङ्क में अभिनय के दोनों आचार्य हरदत्त और गणदास आपस में एक दूसरे को हराने की ठान कर राजदरबार में आते हैं। वे सम्राट् से कहते हैं कि हम दोनों के कलाज्ञान की परीक्षा आप स्वयं करने का कष्ट करें। आप ही बता सकेंगे कि हम दोनों में कौन बढ़ कर है। इसी बीच महारानी धारिणी परिव्राजिका कौशिकी के साथ दरबार में आ पहुँचती हैं। सम्राट् परिव्राजिका का अभिवादन करते हुए उन्हें बैठाते हैं और उनसे निवेदन करते हैं कि इन दोनों आचार्यों में कौन अधिक योग्य है, इसका निपटारा आप ही कर दें। इस पर परिव्राजिका कहती हैं--"ठिठोली मत कीजिये महाराज! भला नगर के होते हुए भी रत्न की परख कहीं गाँव में की जाती है।[५]" इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि कला एवं संस्कृति की दृष्टि से ग्राम की अपेक्षा नगर का महत्त्व निश्चयात्मक रूप से अधिक हुआ करता था।

---

१. मयमत, अध्याय १०।

२. वही, अध्याय १०।

३. समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ८६।

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क ५।

५. "अलमुपालम्भेन! पत्तने सत्ति ग्रामे रत्नपरीक्षा"

--मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क १।

नगर, राग एवं लिप्सा का केन्द्र माना जाता था। निवृत्ति के प्रेमियों का कहना था कि प्रवृत्तिमूलक नगरजीवन में परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिये उपयुक्त स्थान अरण्य समझा जाता था, जिसमें लोकोत्तरपरायणता में विश्वास करने वाले रहते थे। पारमार्थिक बौधायन ने कहा है कि पुर में रहने वाले मनुष्य का नेत्र, वदन एवं शरीर कुण्ठित हो जाता है तथा फलस्वरूप वह सिद्धि-प्राप्ति के लिये अयोग्य हो जाता है।[१] शान्तिमय वातावरण में रहने वाला अरण्यवासी जब नगर में पहुँचता था, उस समय उसे नगर की चहलपहल पर घृणा होने लगती थी। शाकुन्तल में जब शार्ङ्गरव हस्तिनापुर में पहुँचता है, उस समय वह जनरव से घबड़ा कर अपने मित्र से कहता है कि "मित्र शारद्वत! मैंने माना कि यह महाभाग्यवान् राजा दुष्यन्त किसी तरह अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता तथा इसके नगर में रहने वाला कोई भी व्यक्ति पथभ्रष्ट नहीं है, तथापि बहुत दिनों से निर्जन स्थान में रहने की आदत पड़ जाने के कारण यह जनाकीर्ण नगर मुझे वैसे ही लगता है, जैसे मनुष्य को अग्नि की ज्वाला से आवेष्ठित घर दृष्टिगोचर होता है।"[२] शारद्वत भी शार्ङ्गरव की बात का समर्थन करता हुआ हस्तिनापुर के निवासियों की सांसारिकता पर घृणा प्रकट करता है तथा कहता है कि लौकिक सुख में लिप्त यहाँ के निवासियों को मैं उसी प्रकार देखता हूँ, जिस प्रकार स्नान किया हुआ मनुष्य तेल लगाये हुए मनुष्य को, पवित्र अपवित्र को, जागता सोते हुए को तथा स्वतन्त्र परतन्त्र को घृणित दृष्टि से देखता है।[३] पुर में आने पर कुछ ऐसा ही लगता है।[४]

भासकृत स्वप्नवासवदत्तम् में भी नगर-जीवन को प्रवृत्ति-प्रधान तथा अरण्य-जीवन को निवृत्तिप्रधान बता कर दोनों के भेद को स्पष्ट किया गया है। इस नाटक

---

१. **"पुररेणुकुण्ठितशरीरस्तत्परिपूर्णनेत्रवदनश्च। नगरे वसन् सिद्धिमवाप्स्यतीति न तदस्ति॥"—बौधायन, धर्मसूत्र, २, ३, ५३।**

२. **"महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥"**

—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क ५, ११।

३. **"अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतजनमिव सुखसङ्गिनमवैमि॥"**

—वही, अङ्क ५, १२।

४. **"पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः"—वही, अङ्क ५।**

में कञ्चुकी राजपुरुषों को फटकारता हुआ कहता है—"हे ! यहाँ तपोपन में भगदड़ मचाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप लोग राजा को कृपया कलङ्क से बचा लें। आश्रमवासियों के प्रति कठोर वचन का व्यवहार कभी भी नहीं करना चाहिये। ये मनस्वी नगर के परिभवों से बचने के लिये ही तो आकर वन में बसते हैं।"[1]

भारतीय नगर-जीवन में विशेष विकास सर्वप्रथम महाजनपदकाल में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण हुआ। इस समय से लेकर १०वीं शताब्दी ईसवी तक भारतवर्ष में अनेक नगरों का आविर्भाव हुआ, जिनमें अयोध्या, द्वारका, इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, हस्तिनापुर, वाराणसी, तक्षशिला, कौशाम्बी, राजगृह, चम्पा, साकेत, श्रावस्ती, वैशाली, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, ताम्रलिप्ति, पावा, कुशीनगर, मिथिला, पुष्कलावती, भृगुकच्छ, गया, शाकल, प्रयाग, गिरिनगर, दशपुर, कान्यकुब्ज, थानेश्वर, वलभी, नालन्दा, प्रवरपुर, प्रभास, मदुरा, काञ्ची, कावेरीपत्तन तथा कल्याण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नगर बहुत ही विशाल थे । विदेशी यात्रियों ने अनेक भारतीय नगरों के विस्तार का उल्लेख बड़ी सावधानी के साथ किया है। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि पाटलिपुत्र का नगर साढ़े नव मील लम्बा तथा पौने दो मील चौड़ा था। य्वान् च्वाङ्ग के अनुसार कान्यकुब्ज ३ मील लम्बा तथा १ मील चौड़ा था। उसने अपने यात्राविवरण में लिखा है कि भृगुकच्छ तथा वलभी की परिधि क्रमशः ४ तथा ६ मील के लगभग थी। विस्तार के अनुकूल इन नगरों की जनसंख्या भी बहुत अधिक थी। यह दुर्भाग्य है कि विदेशी यात्रियों ने इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा पर कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में जनसंख्या-सम्बन्धी कर्मचारियों की नियुक्ति का निर्देश जिस ढङ्ग से किया है, उससे यही प्रतिपादित होता है कि कम से कम प्रधान नगर सचमुच ही जनाकीर्ण थे। कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में नगरों की जनसंख्या का उल्लेख काव्यात्मक रूप में किया गया है, उदाहरणार्थ :—कुमारपालचरित के लेखक ने कहा है कि अणहिलपत्तन के नागरिकों की संख्या को गिनना वैसे ही असम्भव है, जैसे समुद्र की बूँदों की गणना असम्भव है। इस वर्णन से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि उपर्युक्त नगर में अधिक निवासी रहते होंगे, जिस कारण इस ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख किया गया है।

---

१. **"परिहरतु भवान् नृपापवादं न परुषमाश्रमवासिषु प्रयोज्यम्।**
नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति॥"
—स्वप्नवासवदत्तम्, अङ्क १।

शत्रुओं के आक्रमण से बचाव के लिये नगरों को सुरक्षा के साधनों से युक्त किया जाता था। उनके चारो ओर गहरी खाई खोद दी जाती थी। दृढ़ता के लिये उसके भीतर की दीवालों में प्रायः ईंटों की चुनाई की जाती थी--(विधेय-मिष्टकाभिर्वा सम्यग्वद्धतलं भवेत्)।[1] परिखा की संख्या एक से अधिक भी हुआ करती थी। बड़े नगरों में तीन परिखाओं के बनाने के निर्देश मिलते हैं--(विधेयं परिखात्रयम्)।[2] इन परिखाओं की चौड़ाई बहुत अधिक हुआ करती थी। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र की परिखा ६०० फीट चौड़ी थी। परिखा में बहुधा पानी भरा जाता था। परिखा के मुख को लोग प्रायः नदी से मिला देते थे। इस कारण उसका जल सर्वदा बहता रहता था, जिससे उसके गन्दे होने का भय बहुत कम रहता था। सौन्दर्य के निमित्त परिखा के जल में पुष्प आदि लगा दिये जाते थे। नगर के नालों का गन्दा पानी परिखा में गिराया जाता था, जो जल के साथ बहता हुआ नदियों में पहुँचता था।

परिखा के बनाते समय जो मिट्टी निकलती थी, उसके द्वारा परिखा के समीप ही एक चौड़ा एवं ऊँचा वप्र तैयार किया जाता था। दृढ़ता लाने के लिये इसमें ईंटों की चुनाई की जाती थी। वप्र के ऊपर ईंटों का एक ऊँचा प्राकार तैयार किया जाता था। इस प्रकार के प्राकार को ऐष्टकप्राकार कहा जाता था। कभी-कभी मिट्टी के द्वारा कच्चा प्राकार तैयार किया जाता था, जिसे शास्त्रों में पांसुप्राकार, पङ्कदुर्ग अथवा मृद्दुर्ग कहा गया है। मध्यकाल में इसी को धूलकोट कहा जाता था। प्राकारों में स्थान-स्थान पर ऊँचे बुर्ज (अट्टालक) बनाये जाते थे, जिसके ऊपर सैनिक रहते थे। नगर पर जब बाहरी आक्रमण होता था, उस समय ये सैनिक बुर्ज के ऊपर से ही शत्रुसेना पर बाण फेंकते थे। प्राकारों में स्थान-स्थान पर प्रधान द्वार एवं गौण द्वार बने होते थे। प्रधान नगरद्वारों के नाम देवताओं के नाम पर अथवा उनके सामने पड़ने वाले नगरों के नाम पर रखे जाते थे। नगर-द्वार के समीप सैनिक नियुक्त किये जाते थे। नगर पर आक्रमण के समय वे शत्रुओं को द्वार के भीतर आने से रोकते थे। शान्ति के अवसर पर अमित्रों को भीतर न आने देना इन सैनिकों का कर्त्तव्य था। अधिक सुरक्षा के लिये परिखा के बाहर नगर के चतुर्दिक् कभी-कभी वन भी लगाया जाता था, जिसे प्राचीन साहित्य में वनदुर्ग कहा गया है।

राजमार्गों के निर्माण को भी प्रधानता दी जाती थी। एक ही नगर के भीतर राजमार्गों की संख्या अनेक होती थी। वे काफी चौड़े हुआ करते थे। बनावट

---

१. समराङ्गणसूत्रधार, पृष्ठ ४०।

२. वही, पृष्ठ ४०।

में वे समानान्तर होते थे तथा एक-दूसरे को समकोण पर काटते थे। उनका मध्य भाग उठा होता था, जिसके कारण उनके ऊपर जल का सञ्चय नहीं हो सकता था। दृढ़ता लाने के लिये इनमें ईंट तथा पत्थर कूट कर भर दिये जाते थे। शास्त्रों में इस प्रकार के राजमार्ग को कुट्टिममार्ग कहा गया है। नगरों के भीतर कभी-कभी मनुष्यों तथा वाहनों के सञ्चरण के निमित्त अलग-अलग मार्ग बने होते थे। इस व्यवस्था का प्रधान उद्देश्य सड़क पर भीड़ का रोकना था।

एक जाति के नागरिक पुर के एक ही भाग में रहते थे। शिल्पशास्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नगर के अलग-अलग भागों में बसाये जायँ। इसी प्रकार एक ही व्यवसाय के पालन करने वाले भी बहुधा नगर के एक ही भाग में रहते थे। इसका कारण एक ही व्यवसाय का एक ही स्थान पर केन्द्रीकरण था। राजप्रासाद बहुधा पुर के मध्य भाग में अत्यन्त सुरक्षित स्थान पर बना रहता था। राजमन्त्री, पुरोहितों एवं प्रधान कर्मचारियों के घर राजप्रासाद के चतुर्दिक् व्यवस्थित ढङ्ग पर बने होते थे। नगर के एक भाग के भवन एक ही पंक्ति में बने होते थे तथा उनकी ऊँचाई समान हुआ करती थी। इनका मुख राजमार्ग की ओर होता था। घर की गन्दगी को फेंकने की व्यवस्था घर के पृष्ठ-भाग की ओर की जाती थी। अधिक सफाई के लिये घरों में नालियाँ बनी होतीं थीं, जिनके द्वारा घर की गन्दगी बाहर बहा दी जाती थी। दो घरों के बीच काफी दूरी छोड़ी जाती थी, ताकि गलियाँ सँकरी न हो जायँ। गलियाँ भी राजमार्ग की ओर खुलती थीं। एक ही घर में कई प्रकोष्ठ बने रहते थे। कभी-कभी एक ही घर में कई मञ्जिलें बनी होती थीं, जिससे उनकी ऊँचाई बढ़ जाती थी। नालन्दा के एक ताम्रलेख से विदित होता है कि इस स्थान पर बने हुए विहार गगनचुम्बी थे। घरों में खिड़कियाँ बनी रहती थीं, जिसके कारण प्रकाश एवं स्वच्छता का लाभ रहता था। अधिक दृढ़ता लाने के लिये ठोस नींव दी जाती थी। भवनों के ऊपर गाढ़ा स्वच्छ लेप चढ़ाया जाता था, जिस कारण वे सुधा के समान धौतवर्ण के लगते थे। उनमें छज्जे भी बने होते थे, जहाँ पर पुर-ललनाएँ बैठकर नगर का दृश्य लिया करती थीं।

नागरिकों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन उच्च कोटि का था। उनका वस्त्र तथा भोजन विविध एवं श्रेष्ठ था। राजशेखर ने लिखा है कि कान्यकुब्ज की ललनाएँ जो वस्त्र पहनती थीं, वह समस्त भारत में आदर्श माना जाता था। वे अपनी वेशभूषा में सौन्दर्य लाने के लिये कण्ठाभूषण, कर्णपूर, केयूर, किङ्किणी, अङ्गुलीयक तथा बहुमूल्य धातुओं के बने हुए अन्य आभरणों को प्रयोग में लाती थीं। वे अपने केशपाश को सुगन्धित करतीं तथा मन्दार एवं मल्लिका आदि पुष्पों के

द्वारा सुसज्जित करती थीं। वे अपने नेत्र, ओष्ठ, चरण तथा शरीर के अनेक भागों को अङ्गरागों से रञ्जित करती थीं। नागरिक सुरभियुक्त तेल, चूर्ण तथा अनुलेपों को व्यवहार में लाते थे। आजकल के समान ही ताम्बूलसेवन प्राचीन नागरिक-वर्ग में व्यापक था। धनिक नागरिक स्यन्दन, प्रवहण, पालकी, रथ, घोड़े तथा हाथी का उपयोग यान के रूप में करते थे। सङ्गीत, चित्रकारी एवं ललितकला के अन्य विषयों का नगर में काफी प्रचार था। इनमें उद्यान बने होते थे, जहाँ सामूहिक रूप में नागरिक अपना मनोविनोद करते थे। इसको उद्यानयात्रा कहा जाता था। नगर के भीतर जलाशय भी बने होते थे, जो विभिन्न प्रकार के पुष्पों एवं हंस तथा कारण्डव आदि पक्षियों के कारण रमणीक लगते थे। द्यूत, पशुपक्षि-पालन, मदिरा, नाटकों का अभिनय, नृत्य तथा उत्सव आदि नागरिकों के मनो-विनोद के प्रिय साधन माने जाते थे। नगर-जीवन में दासप्रथा के भी वर्तमान होने की सूचना मिलती है। दासों की स्थिति समाज में बहुत ही शोचनीय थी। स्वामी, दास के शरीर का अधीश्वर माना जाता था। नगर-समाज में चण्डालों का स्थान निम्न था। वे स्पर्शवर्जित माने जाते थे। इसी प्रकार वेश्याजीवन घृणित माना जाता था। मृच्छकटिक में विदूषक चारुदत्त से कहता है कि "मैं ब्राह्मण आपके परों पर पड़कर कहता हूँ कि आप अपने को बहुत विघ्नों वाले इस वेश्यासङ्ग से हटा लें। गणिका तो जूते में पड़ी हुई कङ्कड़ी के समान है, जो एक बार घुसने के बाद बड़ी कठिनता से निकाली जाती है और मित्र! दूसरी बात यह है कि जहाँ वेश्या रहती है, वहाँ तो बुरे आदमी भी नहीं जाते, सज्जनों का तो कहना ही क्या?[१]"

नगरों के आर्थिक जीवन में व्यवसायों का प्रचार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जातक, महाभारत, रामायण तथा मिलिन्दपञ्हो आदि ग्रन्थों के द्वारा पुर के भीतर विभिन्न व्यवसायों के अनुसरण करने वालों की तालिका मिलती है। इनमें कुम्हार, कपड़े बनाने वाले, हथियार बनाने वाले, मोर की पूँछ से चीजें बनाने वाले, आराकस, छेद करने वाले, रङ्गसाज, दाँत की चीजें बनाने वाले, चूना पोतने वाले, गन्धी, सुनार, कम्बल बुनने वाले, धूप बनाने वाले, चमड़े पर काम करने वाले, पत्थर पर काम करने वाले तथा चित्र बनाने वाले कारीगर उल्लेखनीय हैं। जातकों से

---

१. "तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि निवर्त्यतामात्मास्माद्बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसङ्गात्। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियन्ते॥"

—मृच्छकटिक, अङ्क ५।

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक काल में ही व्यावसायिक निपुणता प्राप्त हो चुकी थी। अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी ऐसी वस्तुओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनको कि बहुत निपुण शिल्पी ही बना सकते थे । पुर के भीतर विभिन्न व्यवसायों के पालन करने वाले अपना सङ्गठन बनाकर रहते थे। इस सङ्गठन को श्रेणी कहा जाता था। श्रेणी का एक प्रधान होता था, जो ज्येष्टक (जेट्ठक) कहलाता था। इसका पद आनुवंशिक होता था। श्रेणी के सदस्यों को अपनी संस्था के नियमों (श्रेणीधर्म) का पालन करना पड़ता था। व्यावसायिक समितियाँ आधुनिक बैंक का भी काम करती थीं।

व्यावसायिक विकास के कारण नगरों में वाणिज्य का विकास होना स्वाभाविक ही था। नगरों में तीन प्रकार के व्यापारी रहते थे—(१) फेरी वाले, (२) फुटकर-विक्रेता तथा (३) थोक-विक्रेता। इनमें थोक-विक्रेता बड़े तथा प्रथम दो छोटे व्यापारी थे । नगरव्यापारी कभी-कभी साझे में व्यापार किया करते थे, जिसको 'सम्भूयसमुत्थान' कहा जाता था। प्राचीनकाल में मार्गों पर चोर तथा डाकुओं का भय बना रहता था। यही कारण है कि व्यापारी बहुसंख्या में मिलकर अपना माल अन्य स्थानों में बेचने के लिये निकलते थे। इस प्रकार के व्यापारियों को सार्थिक, उनके मण्डल को सार्थ तथा नेता को सार्थवाह कहा जाता था। व्यावसायिक समितियों के समान ही व्यापारियों की भी समितियाँ होती थीं, जिनको 'निगम' कहा जाता था। इसके प्रधान को सेट्ठि (श्रेष्ठि) कहते थे। वह राज्य तथा नगर का एक बहुत ही समृद्ध तथा सम्मानित व्यक्ति होता था।

प्राचीन काल में उच्च शिक्षा के केन्द्र नगर ही थे । ऐसे नगरों में तक्षशिला, वाराणसी, उज्जयिनी, नालन्दा, पाटलिपुत्र, विक्रमशिला तथा वलभी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन नगरों में देश के सुदूर भागों से विद्यार्थी पढ़ने के लिये केन्द्रित होते थे । मार्ग में विद्यार्थियों को बहुत बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थी, क्योंकि रास्ते प्रायः जंगलों से भी होकर जाते थे । तक्षशिला जाते समय उत्तर-पूर्व भारत के विद्यार्थियों को जंगलों से होकर जाना पड़ता था। कभी-कभी देश के बाहर से भी विद्यार्थी पढ़ने के लिये इन नगरों में आते थे , उदाहरणार्थ—नालन्दा तथा विशेषतया विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में तिब्बत तथा चीन से भी विद्यार्थी आते थे । य्वान् च्वाङ्ग (जो नालन्दा के विश्वविद्यालय में बहुत दिनों तक ठहरा हुआ था) चीन का ही रहने वाला था। विद्या के अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र होने के कारण ही विदेशी नरेशों ने भी नालन्दा के विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता दी थी। इसका कम से कम एक उदाहरण मिलता है। जावा के नरेश बालपुत्रदेव ने नालन्दा के अन्तर्राष्ट्रीय यश से प्रभावान्वित होने के कारण वहाँ पर विद्यार्थियों की सुविधा के लिये एक विहार बनवाया था। उपर्युक्त भारतीय नगरों में वेद, दर्शन, शिल्प,

ज्योतिष, व्याकरण तथा चिकित्साशास्त्र आदि विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। आदर्श नगरों में साहित्यिक गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। बुद्धिसम्पन्न नागरिक इनमें एकत्र होकर ज्ञान के विविध विषयों पर तर्कवितर्क किया करते थे। इनमें काव्यरचना, समस्यापूर्ति, भाषाओं तथा छन्दों का ज्ञान, नाटकों तथा आख्यायिकाओं का पठनपाठन हुआ करता था। नगरों के वायुमण्डल के इस प्रकार बौद्धिक होने के कारण उनमें शास्त्रार्थ हुआ करते थे। देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक अपने सिद्धान्तों के विज्ञापन तथा स्वीकृति के लिये नगरों में ही आते थे। शङ्कराचार्य के इस उद्देश्य से वाराणसी में आने का प्रमाण मिलता है।

प्राचीन भारतीय नगरों का सम्बन्ध धर्म के साथ भी देखने को मिलता है। फाहियान तथा य्वान् च्वाङ्ग ने अपने समकालीन भारतीय नगरों में अनेक विहारों, स्तूपों, मन्दिरों तथा देवालयों के सन्निवेश का उल्लेख करते हुए उनके धार्मिक वातावरण का परिचय दिया है। प्राचीन काल में विराट धार्मिक सभाओं का आयोजन भी नगरों में ही किया जाता था। हर्षवर्द्धन ने अपनी राजधानी कान्यकुब्ज में धार्मिक सभा बुलाई थी। नगरों में धार्मिक सभाओं के आयोजन का मूल कारण यह था कि वहाँ आगन्तुकों के ठहरने का प्रबन्ध सुविधा के साथ हो जाता था। कतिपय भारतीय नगर धर्म के बहुत ही प्रसिद्ध केन्द्र माने जाते थे, उदाहरणार्थ–– प्रयाग, वाराणसी, अयोध्या, मथुरा, काञ्ची, अवन्तिका, द्वारावती तथा प्रभास। प्रयाग में यज्ञ हुआ करते थे तथा प्रायः प्रत्येक वर्ग के लोग यहाँ पर आकर दान दिया करते थे। लोगों का विश्वास था कि इस नगर में मरने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यहाँ पर आत्महत्या भी अपवाद रूप में प्रचलित थी। वाराणसी में अधिकतर शैव रहते थे। इनमें से कुछ लोग शिर को मुण्डित कराते थे तथा कुछ लम्बे केशों को समेटकर जटाजूट बाँधते थे। कुछ लोग नंगा रहते थे तथा शरीर पर भस्म लगाते थे। यहाँ पर संन्यास लेने के लिये प्रायः लोग आया करते थे। कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण मथुरा में अधिकतर वासुदेव की पूजा होती थी। उज्जयिनी में महाकाल की पूजा का प्राधान्य था। गया में श्राद्धदान का माहात्म्य विशेष माना जाता था। सरयू के तट पर स्थित अयोध्या को लोग राम की पवित्र नगरी मानते थे। मोक्षदायिका पुरियों में इसे प्रथम स्थान प्राप्त था:––

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ॥

थानेश्वर भारत का धार्मिक केन्द्र उस कुरुक्षेत्र के कारण माना जाता था, जिसकी गणना (सरस्वती तथा दृषद्वती नामक पवित्र नदियों के बीच स्थित होने के

कारण) पवित्र तीर्थ के रूप में होती थी। कृष्ण के द्वारा निर्मित पुरी मानने के कारण द्वारका को लोग पवित्र मानते थे। पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित नगरों में प्रभास भी एक धार्मिक केन्द्र समझा जाता था। दक्षिण भारत में काञ्ची की ख्याति धार्मिक क्षेत्र में विशेष रूप से थी। कुछ नगर ऐसे भी थे, जो विशेष रूप से जैनधर्म तथा बौद्धधर्म के केन्द्र माने जाते थे। इनमें कौशाम्बी, चम्पा, कुशीनगर, कपिलवस्तु, वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह, साकेत एवं पावा विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। गौतम एवं महावीर के जीवन के साथ विशेष रूप से सम्बन्धित होने के कारण उनके धर्मों के अनुयायी इन्हें पवित्र केन्द्र मानते थे।

भारतीय नगर-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग नगर-शासन भी था। यह कार्य राजकीय कर्मचारियों, नगरसभा तथा स्थानीय समितियों एवं समुदायों के द्वारा सम्पादित होता था। नगर के प्रधान अधिकारी को कौटिल्य ने 'नागरक' कहा है। अन्य पदाधिकारियों के लिये प्राचीन ग्रन्थों में बन्धपाल, शुल्काध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, पत्तनाध्यक्ष, गोप तथा स्थानिक नाम आते हैं। बन्धपाल नगर की बन्दिशाला का प्रधान अधिकारी होता था। शुल्काध्यक्ष नगर के व्यापारियों से कर वसूल करता था। पण्याध्यक्ष बाजारों में नापतौल का निरीक्षण करता था। गणिकाध्यक्ष गणिकाओं के आय-व्यय का निरीक्षण करता था। पत्तनाध्यक्ष बन्दरगाहों का प्रधान कर्मचारी था। गोप एवं स्थानिक, जनसंख्या सम्बन्धी अधिकारी थे। नगर-सभा सार्वजनिक हित के लिये कार्य करती थी। श्रेणी तथा निगम आदि समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में शासन का अधिकार प्राप्त था। नगरों में पुलिस का कड़ा पहरा रहता था। स्थान-स्थान पर गुप्तचर भी नियुक्त किये जाते थे, जो नगर-पदाधिकारियों के कार्यों की सूचना राजा के पास पहुँचाते थे। न्यायशासन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। पुर के भीतर रक्षा, स्वच्छता की व्यवस्था तथा जनस्वास्थ्य का प्रबन्ध भली-भाँति किया जाता था।

इति

"सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्"

सहायक ग्रन्थसूची

(क) मूलभूत संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि ग्रन्थ

अमरकोष : सम्पादक—पण्डित शिवदत्त, प्रकाशक, निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, १९२९ ।

अग्निपुराण : सम्पादक—हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुण्याख्यपत्तन, शालिवाहन, शकाब्द १८२२ ।

अर्थशास्त्र : सम्पादक—यौली, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९२३ ।

अभिज्ञानशकुन्तलम् : सम्पादक—शारदारञ्जन रे, प्रकाशक—दी सिटी बुक सोसायटी, कलकत्ता १९०८ ।

अष्टाध्यायी : सम्पादक—सतीशचन्द्र बसु, बनारस, १८९७ ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र : सम्पादक—महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री, गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९२३ ।

उत्तररामचरितम् : सम्पादक—पी० वी० काणे, तृतीय संस्करण, बम्बई, १९२९ ।

कामसूत्र : सम्पादक—दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर यन्त्रणालय, बम्बई, द्वितीय संस्करण ।

काव्यमीमांसा : सम्पादक—सी० डी० दलाल तथा आर० अनन्त कृष्ण, बड़ौदा, १९१७ ।

कादम्बरी : सम्पादक—मथुरानाथ शास्त्री, प्रकाशक—निर्णयसागर यन्त्रणालय, बम्बई, १९४८ ।

काव्यप्रकाश : सम्पादक—हरदत्त शर्मा, पूना ओरियेण्टल सिरीज़, पूना, १९३५ ।

कुमारसम्भव : सम्पादक—भारद्वाज गङ्गाधर शास्त्री, प्रकाशक—विद्याविलास प्रेस, बनारस, द्वितीय संस्करण ।

कथासरित्सागर : सम्पादक—पण्डित दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर यन्त्रणालय, बम्बई, १९२० ।

कूर्मपुराण : नीलमणि मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९९० ।

गरुड़पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०६।
गौतमधर्मसूत्र : सम्पादक—हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम यन्त्रणालय, पुण्याख्यपत्तन, १९१०।
चारुदत्त : सम्पादक—गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९१४।
दशकुमारचरितम् : सम्पादक—काले, प्रकाशक ओरियेण्टल पब्लिशिङ्ग कम्पनी, बम्बई, १९१७।
दिव्यावदान : सम्पादक—कावेल, कैम्ब्रिज, १८८६।
नाट्यशास्त्र : सम्पादक—रामकृष्ण कवि, ओरियेण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४।
नारदस्मृति : सम्पादक—यौली, कलकत्ता, १८८५।
नवसाहसाङ्कचरितम् : सम्पादक—पं० वामन शास्त्री, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८९५।
नैषधीयचरितम् : सम्पादक—महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त, प्रकाशक—निर्णयसागर यन्त्रणालय, बम्बई, १९०७।
पपञ्चसूदनी : सम्पादक—आई० वी० हानर, लन्दन, १९३८।
पद्मपुराण : सम्पादक—विष्णुनारायण, पूना, १८९३।
पवनदूत : सम्पादक—सी० आर० चक्रवर्ती, प्रकाशक—संस्कृत-साहित्य-परिषद्, श्याम बाजार, कलकत्ता।
प्रियदर्शिका : निर्णयसागर यन्त्रणालय, बम्बई, शालिवाहन शकाब्द, १८०६।
पराशरस्मृति : सम्पादक—महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार, प्रकाशक—बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, १८९२।
प्रतिमामानलक्षणम् : सम्पादक—फणीन्द्रनाथ बोस, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९२९।
बृहत्संहिता : सम्पादक—सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८९५।
बोधिसत्वावदानकल्पलता : सम्पादक—शरत्चन्द्रदास, प्रकाशक— वैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, १९१८।
ब्रह्माण्डपुराण : श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०६।
ब्रह्मपुराण : क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०६।
ब्रह्मवैवर्तपुराण : श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई।
बौधायनधर्मसूत्र : सम्पादक—श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९०७।
बुद्धचरितम् : कावेल, आक्सफोर्ड, १८९३।

भासनाटकचक्र : सम्पादक—सी० आर० देवधर, प्रकाशक—ओरियेण्टल बुक एजेन्सी, पूना।

भट्टिकाव्यम् : सम्पादक—शारदारञ्जन रे, प्रकाशक—कुमुदरञ्जन रे १७ भवानीदत्त लेन, कलकत्ता।

मार्कण्डेयपुराण : श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई।

मुद्राराक्षस : सम्पादक—आर० के० ध्रुव, प्रकाशक—पूना ओरियेण्टल बुक एजेन्सी, तृतीय संस्करण, १९३०।

मालविकाग्निमित्रम् : सम्पादक—एस० कृष्णराव, मद्रास, १९३०।

मानसार : सम्पादक—डाक्टर प्र० कु० आचार्य, प्रकाशक—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मयमतम् : सम्पादक—गणपति शास्त्री, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस त्रिवेन्द्रम्, १९१९।

मिलन्दपञ्हो : सम्पादक—ट्रेंकनर, लन्दन, १८८०।

मनुष्यालयचन्द्रिका : सम्पादक—गणपति शास्त्री, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९१७।

महाभारत : सम्पादक—विष्णुसुकथङ्कर, १९४२।

मनुस्मृति : सम्पादक—गङ्गानाथ झा, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९३२।

मृच्छकटिक : सम्पादक—आर० डी० करमारकर, द्वितीय संस्करण, १९५०।

मत्स्यपुराण : सम्पादक—हरिनारायण आप्टे, प्रकाशक—आनन्दाश्रम-मुद्रणालय, पुण्याख्यपत्तन, १९०७।

महाभाष्य : सम्पादक—कीलहार्न, द्वितीय संस्करण, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस, बम्बई।

याज्ञवल्क्यस्मृति : सम्पादक—नारायण शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ आफिस, बनारस।

युगपुराण : सम्पादक—डी० आर० मनकद, चारुतर प्रकाशन, वल्लभविद्या नगर, १९५१।

युक्तिकल्पतरु : सम्पादक—पण्डित ईश्वर चन्द्र शास्त्री, ओरियेण्टल सिरीज़, कलकत्ता, १९१७।

रघुवंश : सम्पादक—शङ्कर पण्डित, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो, १८९७।

राजतरङ्गिणी : दुर्गाप्रसाद, बम्बई, संवत् १९८४।

रत्नावली : सम्पादक—गिरीश विद्यारत्नयन्त्रालय, कलकत्ता, शकाब्द, १८२१।

रामायण : सम्पादक—टी० आर० कृष्णाचार्य, प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९०५।

ऋतुसंहार : सम्पादक—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, १९२२।

लिङ्गपुराण : श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई।

ललितविस्तर : सम्पादक—आर० एल० मित्र, कलकत्ता, १८७७।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् : सम्पादक—बूलर, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल बुकडिपो, बम्बई, १८७५।

विष्णुधर्मोत्तर महापुराण : प्रकाशक—क्षेमराज कृष्ण प्रेस, बम्बई, १९३४।

वायुपुराण : सम्पादक—राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता १८८०।

वराहपुराण : सम्पादक—पण्डित हृषीकेष शास्त्री, प्रकाशक—गिरीशविद्या-रत्न प्रेस, कलकत्ता।

विष्णुसंहिता : सम्पादक—टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२६।

विष्णुपुराण : श्री वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई।

बृहस्पतिस्मृति : सम्पादक—के० पी० रङ्गास्वामी आयङ्गर, बड़ौदा, १९४१।

वसिष्ठ धर्मशास्त्रम् : सम्पादक—ए० ए० फूहरर, बम्बई, १८८३।

वास्तुविद्या : सम्पादक—गणपति शास्त्री, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९१३।

शिल्परत्न : सम्पादक—गणपति शास्त्री, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९२२।

शिशुपालवध : सम्पादक—पण्डित दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय, बम्बई।

सौन्दरनन्दकाव्य : सम्पादक—हरिप्रसाद शास्त्री, वैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, १९१०।

समराङ्गणसूत्रधार : सम्पादक—गणपति शास्त्री, प्रकाशक—बड़ौदा सेण्ट्रल लाइब्रेरी, १९२४।

स्वप्नवासवदत्तम् : सम्पादक—टी० गणपति शास्त्री, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९१२।

स्कन्दपुराण : प्रकाशक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०९।

हर्षचरितम् : सम्पादक—ए० ए० फूहरर, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस, बम्बई।

(ख) अनूदित ग्रन्थ

गरुड़पुराण (सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी हिन्दूज़, भाग ९, सम्पादक—बी० डी० बसु, प्रकाशक—दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगञ्ज, प्रयाग, १९११)।

जातक—(कावेल, कैम्ब्रिज, १९०५)।

मत्स्यपुराण, भाग १—(सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी हिन्दूज़, भाग १७, अनुवादक—ए तालुकेदार ऑफ़ अवध, प्रकाशक—दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगञ्ज, प्रयाग, १९१६)।

मत्स्यपुराण, भाग २—(सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी हिन्दूज़, भाग २०, अनुवादक—ए तालुकेदार ऑफ़ अवध, प्रकाशक—दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगञ्ज, प्रयाग, १९१७)।

मिलिन्दपञ्हो—(सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट, भाग ३५, अनुवादक—रिज़ डेविड्स, प्रकाशक—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १८९०)।

शुक्रनीतिसार—अनुवादक—विनयकुमार सरकार, सम्पादक—बी० डी० बसु, प्रकाशक—दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगञ्ज, प्रयाग, १९१४)।

(ग) विदेशी यात्रियों के विवरण

अल्बरुनीज़ इण्डिया, साचो, पापुलर एडिशन, १९१४।

इण्डिया ऐज़ डिसक्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, वेस्टमिंस्टर, १९०१।

इनवेज़न ऑफ अलेक्ज़ेण्डर, मेक्रिण्डिल, प्रथम संस्करण, वेस्टमिंस्टर, १८९३।

ऑन य्वान् च्वाङ्ग, वाटर्स, १९०५।

फाहियान, लेग्गे, आक्सफोर्ड, १८८६।

फाहियान, गाइल्स, लन्दन, १८७७।

बुद्धिस्ट रेकर्ड, बील, लन्दन, १९०६।

मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, मेक्रिण्डिल, लन्दन, १८७७।

लाइफ़ ऑफ़ य्वान् च्वाङ्ग, बील, लन्दन, १९१४।

(घ) आधुनिक लेखकों के ग्रन्थ

आर्किटेक्चर ऑफ दी हिन्दूज़, रामराज, लन्दन।

इण्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि—वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५३।

इण्डियन शिपिङ्ग : राधा कुमुद मुकर्जी, लन्दन, १९१२।
इंडोलॉजिकल स्टडीज़, भाग ३, ला बि० च०, गंगा नाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, १९५४।
एजूकेशन इन ऐंशेग्ट इण्डिया : अल्टेकर, प्रकाशक—नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस, तृतीय संस्करण, १९४८।
ऐंशेण्ट इण्डियन एजुकेशन : राधाकुमुद मुकर्जी, लन्दन, १९४७।
ऐंशेण्ट टाउंस ऐण्ड सिटीज़ इन गुजरात ऐण्ड काठियावाड़, अल्टेकर, प्रकाशक—ब्रिटिश इण्डिया प्रेस, मेजगाँव, १९२६।
कौटिल्य : नारायणचन्द्र बन्दोपाध्याय, बानी प्रेस, कलकत्ता।
कारपोरेट लाइफ़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, मजुमदार र० च०, प्रकाशक—कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२२।
टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेण्ट इंडिया, बि० बि० दत्त, कलकत्ता, १९२५।
डिक्शनरी ऑफ़ पाली प्रापर नेम्स, मललसेकर, लन्दन, १९३७।
डिक्शनरी ऑफ़ हिन्दू आर्किटेक्चर, आचार्य प्र० कु०, प्रकाशक—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी-प्रेस, लन्दन।
पेरिप्लस ऑफ़ दि ईरीथियन सी, स्काफ़, प्रकाशक—लाङ्गमंस ग्रीन ऐण्ड क०, लन्दन, १९१२।
पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, प्रभानाथ बनर्जी, लन्दन, १९१६।
बुद्धिस्ट इण्डिया : रिज़ डेविड्स, कलकत्ता, १९५०।
भारत की मौलिक एकता : वासुदेवशरण अग्रवाल, भारती भण्डार, प्रयाग।
भारतीय वेशभूषा : भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् २००७।
राष्ट्रकूटाज़ ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना, ओरियेण्टल सिरीज़, संख्या ३६, पूना, १९३४।
लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंशेण्ट इण्डिया—रा० कु० मुकर्जी, आक्सफोर्ड प्रेस, १९२०, द्वितीय संस्करण।
वैदिक इण्डेक्स—मेकडानल ऐण्ड कीथ, १९१२।
सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, सरकार दिनेशचन्द्र, प्रकाशक—कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४२।
स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया : बेनीप्रसाद, इण्डियन प्रेस, १९२२।
सम ऐंशेण्ट इण्डियन सिटीज़, पिगट।
सार्थवाह, मोतीचन्द्र, विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५३।
सोशल लाइफ़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, हरेनचन्द्र चकलदार, कलकत्ता, १९२९।

हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन: वासुदेवशरण अग्रवाल, विहारराष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना, १९५३।

हिस्ट्री ऑफ बनारस : अल्टेकर, बनारस, १९३७।

हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल : मजुमदार, भाग १, प्रकाशक—ढाका विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९४३।

हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया : इलियट ऐण्ड डाउसन, लन्दन, १८७७।

हिन्दू पॉलिटी—जायसवाल का० प्र०, प्रकाशक—बङ्गलोर पब्लिशिंग कम्पनी, द्वितीय संस्करण, १९४३।

टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेण्ट डकन—अय्यर।

उज्जयिनी इन ऐंशेण्ट इण्डिया : विमलाचरण ला, पब्लिश्ड बाई दी आर्क्यालॉजिकल डिपार्टमेण्ट, ग्वालियर गवर्नमेण्ट, १९४४।

हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, आनन्द के० कुमारस्वामी, लन्दन, एडवर्ड गोल्डस्टन, १९२७।

(ङ) अनुसंधान-पत्रिकाओं के लेख

किंग भोज 'ऑन सिटी आर्किटेक्चर', लेखक का अनुसन्धान-लेख, जर्नल ऑफ इलाहाबाद हिस्टारिकल सोसायटी, १९६४।

कौशाम्बी इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बि० च० ला, आ० स० रि०, संख्या ६०।

गेंम्स ऐण्ड ऐम्यूज़मेन्ट्स इन अष्टाध्यायी, इण्डियन कल्चर, १९४९, सितम्बर, वासुदेवशरण अग्रवाल।

टाउनप्लैनिंग ऐण्ड हाउस बिल्डिंग इन ऐंशेण्ट इण्डिया, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, के० रङ्गचारी, १९२७, भाग ३।

टाउन्स ऐण्ड सिटीज़ इन महाभाष्य, पी० वी० काणे, जर्नल ऑफ़ दि बाम्बे ब्राञ्च ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, दिसम्बर १९५१।

नगरों का आर्थिक जीवन तथा संगठन, लेखक का अनुसन्धान-लेख, हिन्दुस्तानी, भाग २२, अङ्क २, १९६१।

दी सिटी ऑफ़ प्रयाग इन लीजेण्ड ऐण्ड हिस्ट्री, लेखक का अनुसन्धान-लेख, दी जर्नल ऑफ दी इलाहाबाद हिस्टारिक सोसाइटी, जुलाई १९६२।

पांचालाज़ ऐण्ड देयर कैपिटल ऐट अहिच्छत्रा, बी० सी० ला, आ० स० रि०, संख्या, ६८।

पाटलिपुत्र इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लेखक का अनुसन्धान-लेख, यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलाहाबाद स्टडीज़, १९५७।

पतञ्जलि ऐण्ड वाहीक ग्रामाज़ : वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डियन कल्चर, भाग ६, १९३९—४०।

प्राचीन भारत में नगर-शासन, हिन्दुस्तानी, जिल्द २४, अङ्क ३ तथा ४,१९६३, लेखक का अनुसन्धान-लेख।

प्राचीन उज्जयिनी : एक ऐतिहासिक परिचय, लेखक का अनुसन्धान-लेख, हिन्दुस्तानी, भाग २१, अंङ्क १, १९६०।

प्राचीन भारत में नागरिक जीवन तथा साहित्य और शिक्षा : लेखक का अनुसन्धान-लेख, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १६, अङ्क १-२।

प्राचीन पाटलिपुत्र, लेखक का अनुसन्धान-लेख, हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, मार्च १९५८ ई० का अङ्क।

प्राचीन भारतीय नगर-निर्माण-कला, लेखक का अनुसन्धान-लेख, सम्मेलन-पत्रिका, कला-अङ्क, १९५८।

ऋग्वेद ऐण्ड मोहनजोदड़ो, लक्ष्मणस्वरूप, इण्डियन कल्चर, १९३७।

श्रावस्ती इन इण्डियन लिटरेचर, डॉक्टर बी० सी० ला, आ० स० रि०, संख्या ५०।

सर्वाइवल्स ऑफ कौटिल्य ट्रेडीशन इन ऐंशण्ट इंडियन आर्किटेक्चर, उत्तर-भारती, जिल्द ११, संख्या १, अप्रैल १९६४, लेखक का अनुसन्धान-लेख।

सिटी आर्किटेक्चर, लेखक का अनुसन्धान-लेख, उत्तर-भारती, जिल्द ८, संख्या २, अगस्त १९६१।

सिविक, ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लेखक का अनुसन्धान-लेख, उत्तर-भारती, जिल्द १०, संख्या १, अप्रैल १९६३।

सिटी आर्किटेक्चर ऐज़ डेप्क्टिड इन अपराजितपृच्छा ऑफ़ भुवनदेव, लेखक का अनुसन्धान-लेख, जर्नल ऑफ दी यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी, १९५९, जिल्द ७, भाग १ तथा २।

सिटी आर्किटेक्चर, प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, त्रिवेन्द्रम् सेशन, १९५८ (लेखक का अनुसन्धान-लेख)।

अर्ली इण्डियन आर्किटेक्चर, पैलेसेज़, (आनन्द के० कुमारस्वामी) ईस्टर्न आर्ट, जिल्द ३, १९३१।

अर्ली इण्डियन आर्किटेक्चर, सिटीज़ ऐण्ड सिटीगेट्स, आनन्द के० कुमारस्वामी, ईस्टर्न आर्ट, जिल्द २, १९३०।

उज्जयिनी थ्रू दी एजेज़, लेखक का अनुसन्धान-लेख, उत्तर-भारती, जिल्द ९, भाग १, अप्रैल १९६२।

(च) पुरातत्त्व-सामग्री

इण्डस वैली सिविलाइज़ेशन, मार्शल, लन्दन, १९३१।
इण्डस सिविलाइज़ेशन, सर मार्टिमर ह्वीलर, प्रकाशक—कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५३।
एक्सकैवेशंस ऐट तक्सिला, आ० स० रि०, १९१५ : १६ पृष्ठ १–३९।
एक्सकैवेशंस ऐट पाटलिपुत्र, आ० स० रि०, १९१२ : १३, पृष्ठ ५३–८७।
एक्सकैवेशंस ऐट तक्सिला, आ० स० रि०, १९१२ : १३, पृष्ठ १—५३।
एक्सकैवेशंस ऐट भीटा, आ० स० रि०, १९११ : १२, पृष्ठ २९––९५।
एक्सकैवेशंस ऐट कसया, आ० स० रि०, १९०५ : ०६, पृष्ठ ६१—८६।
एक्सकैवेशंस ऐट कसया, आ० स० रि०, १९०६ : ०७, पृष्ठ ४४—८६।
एक्सकैवेशंस ऐट सारनाथ, आ० स० रि०, १९०७ : ०८, पृष्ठ ४३—८१।
एक्सकैवेशंस ऐट कसया, आ० स० रि०, १९१० : ११, पृष्ठ ६३—७३।
एक्सकैवेशंस ऐट बसाढ़, आ० स० रि०, १९०३ : ०४, पृष्ठ ८१—१२३।
एक्सकैवेशंस ऐट हड़प्पा, आ० स० रि०, १९२८ : २९, पृष्ठ ७६—८३।
एक्सकैवेशंस ऐट सारनाथ, आ० स० रि०, १९०७ : ०८, पृष्ठ ७३—८१।
दी मानुमेण्ट ऐट साँची, आ० स० रि०, १९१३ : १४, पृष्ठ १—१०।
नालन्दा ऐण्ड इट्स एपिग्रैफिकल मैटिरियल्स, आ० स० रि०, १९४२, संख्या ६६।
नोट्स ऑन एक्सकैवेशंस ऐट कसया, आ० स० रि०, १९०४-०५, पृष्ठ ४३—४९।
नालन्दा, आ० स० रि०, १९३१, पृष्ठ ६७—९४।
तक्सिला, भाग १, सर जान मार्शल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१।
तक्सिला, भाग २, सर जान मार्शल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१।
तक्सिला, भाग ३, सर जान मार्शल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१।
ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या ५।
ऐंशेण्ट इण्डिया, संख्या १०-११।

सङ्केत-शब्दसूची

आ० स० रि० : आर्क्योलॉजिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया रिपोर्ट।
इ० ऐ० नो० पा० : इण्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि।
इ० डि० क्लै० लि० : इण्डिया ऐज़ डिसक्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर।
ए० इ० ऐं० इं० : एजुकेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया।

ऐं० टा० सि० गु० का०	: ऐंशेण्ट टाउन्स ऐण्ड सिटीज़ इन गुजरात ऐण्ड काठियावाड़।
का० ला० ऐं० इं०	: कारपोरेट लाइफ़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया।
डि० पा० प्रा० ने०	: डिक्शनरी ऑफ़ पाली प्रापर नेम्स।
रा० ऐं० दे० टा०	: राष्ट्रकूटाज़ ऐण्ड देयर टाइम्स।
से० बु० ई०	: सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट।
से० बु० हि०	: सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी हिन्दूज़।
ज० रॉ० ए० सो०	: जरनल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी।
ज० बि० उ० रि० सो०	: जनरल ऑफ़ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
टा० प्लै० ऐं० इं०	: टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेण्ट इंडिया।

●

शब्दानुक्रमणी

घ

च

थ

द

ध

न

प

फ

ब

य

र

ल

व

ह

फलक १

चित्र १——गवाक्षों से झाँकते हुए स्त्रीमुख
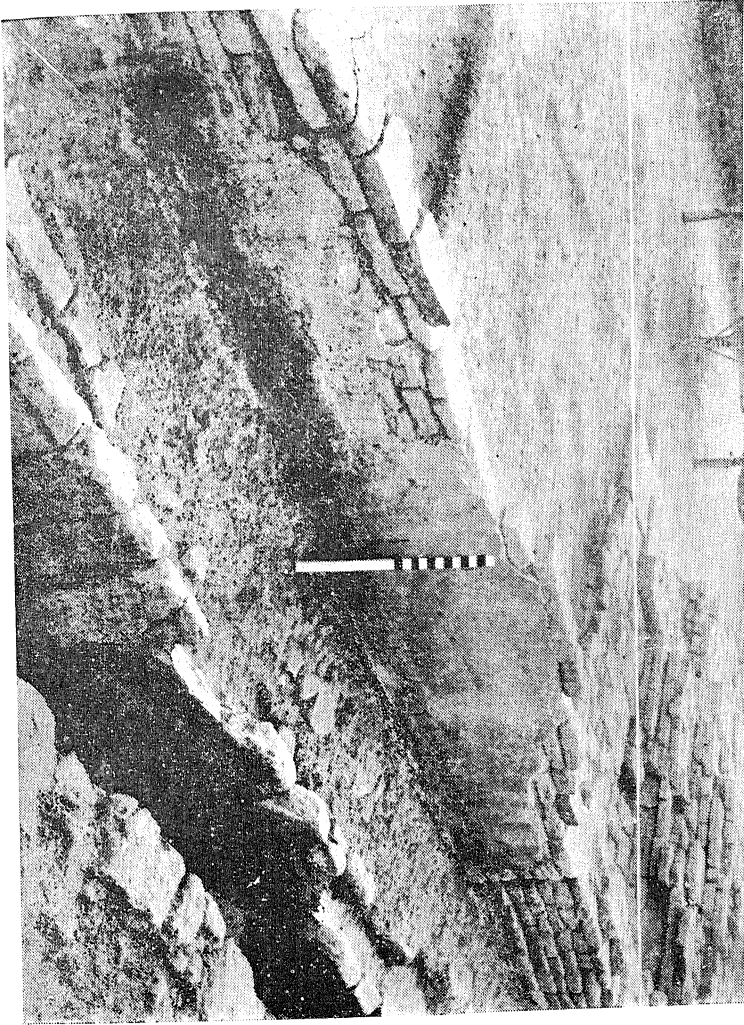
चित्र २—भीत पर गाढ़ लेप (प्लैस्टर), कौशाम्बी

चित्र ३—खुली हुई नाली, कौशाम्बी
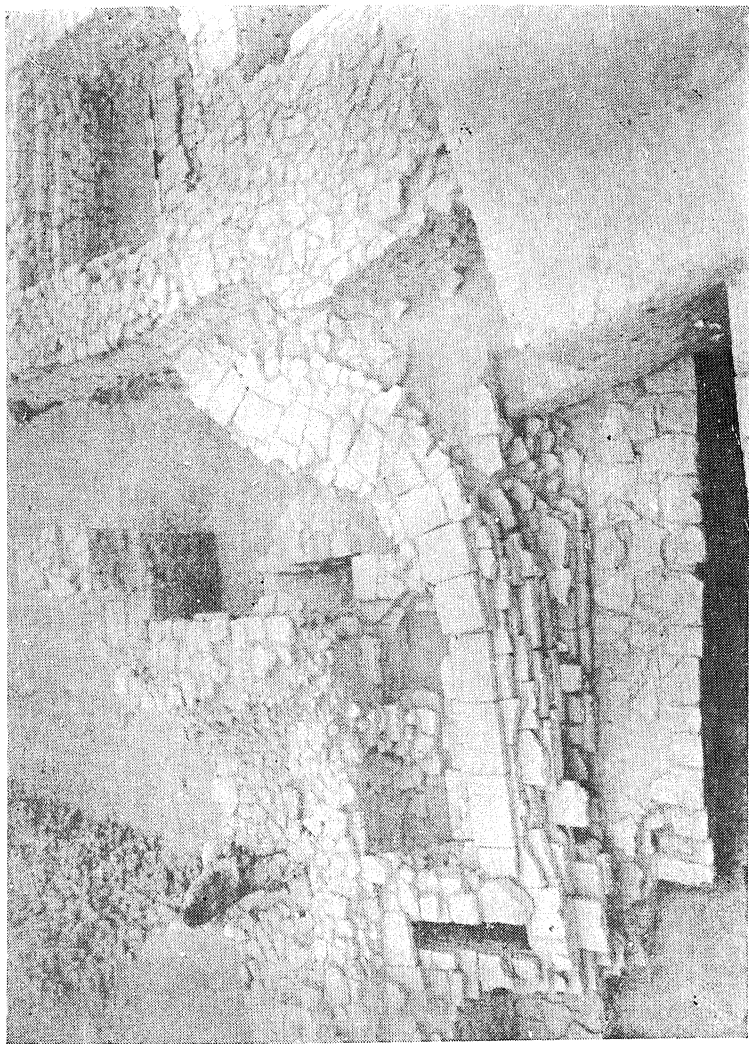
चित्र ४—ढकी हुई नाली, कौशाम्बी

चित्र ५——नालियों का मेल, कौशाम्बी
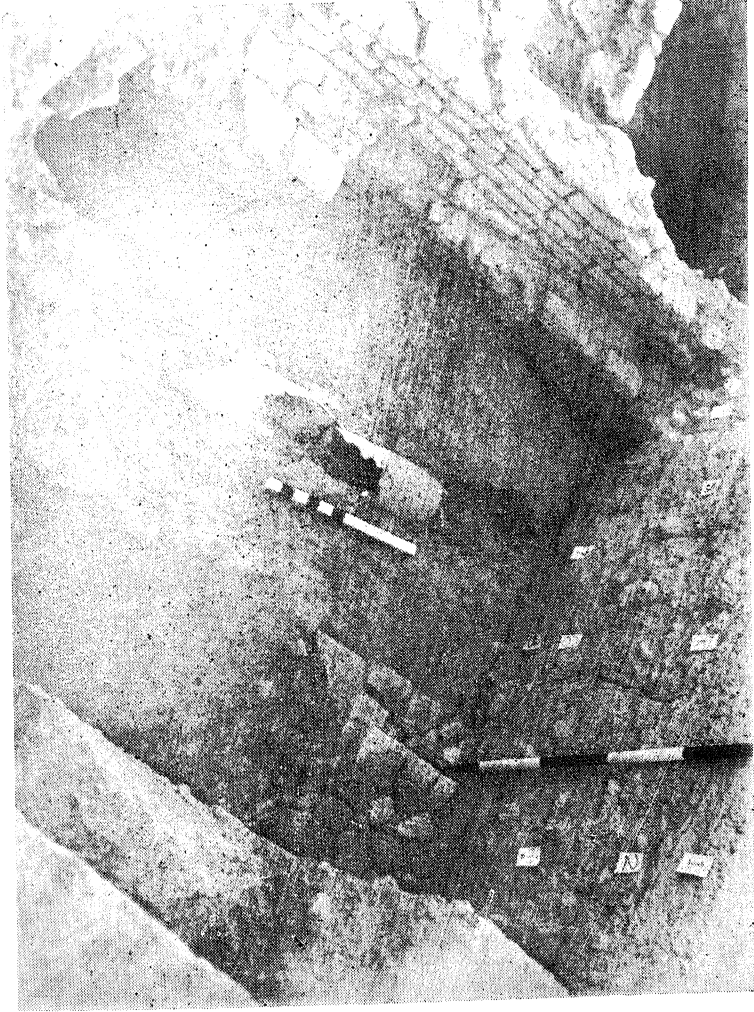
चित्र ६—मिट्टी की बनी हुई नाली (ड्रेन आफ पाटरी पाइप), कौशाम्बी
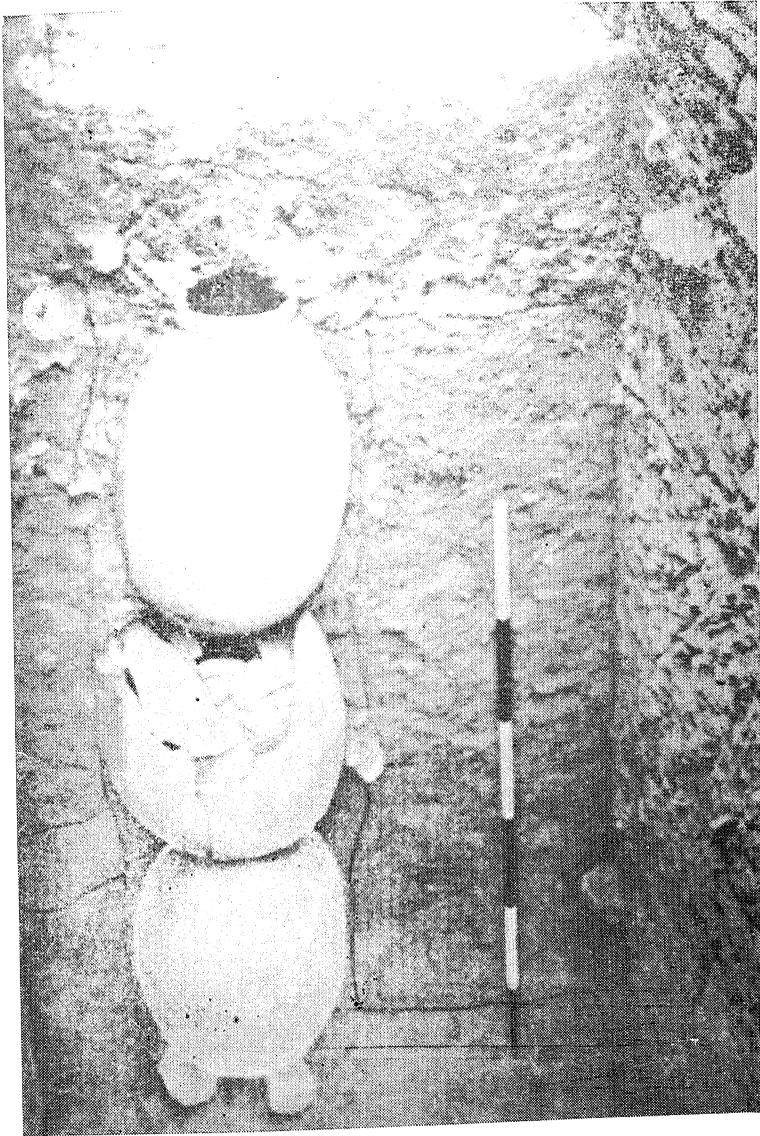
चित्र ७--"सोकेज जार्स", कौशाम्बी
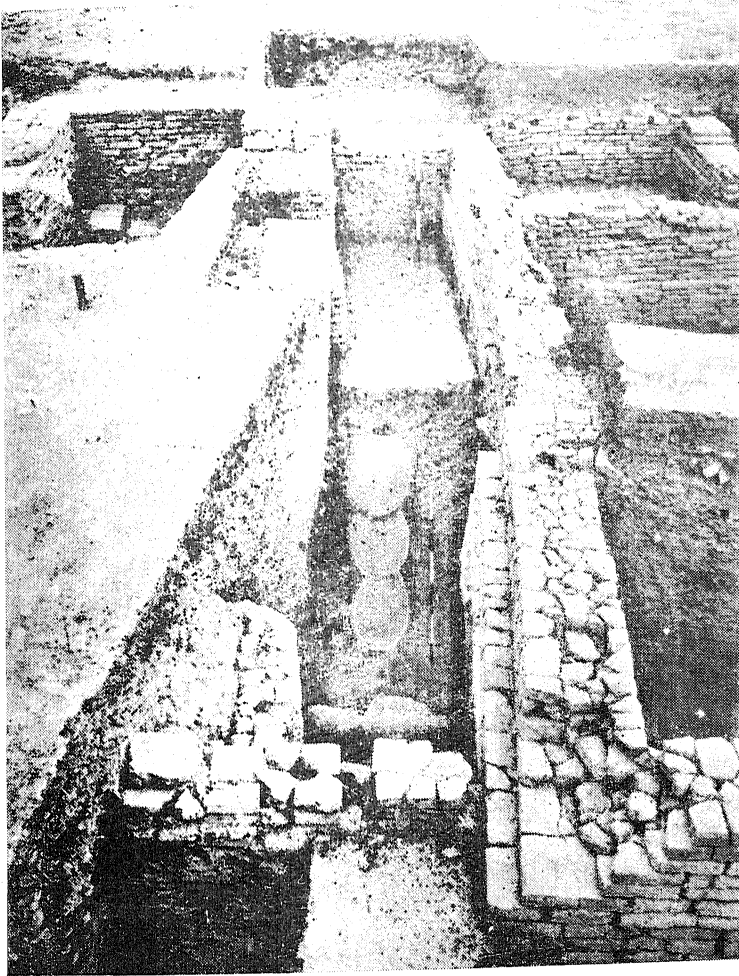
चित्र ८—"सोकेज जार्स", कौशाम्बी
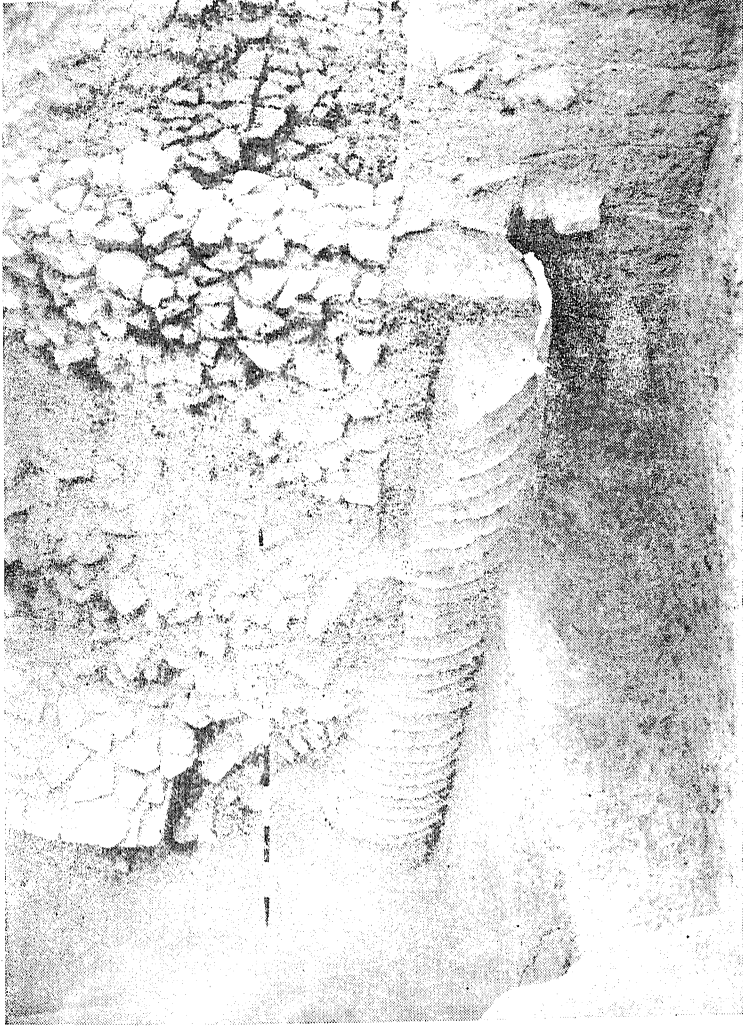
चित्र ९—गण्डकुसूल (रिंगवेल), कौशाम्बी
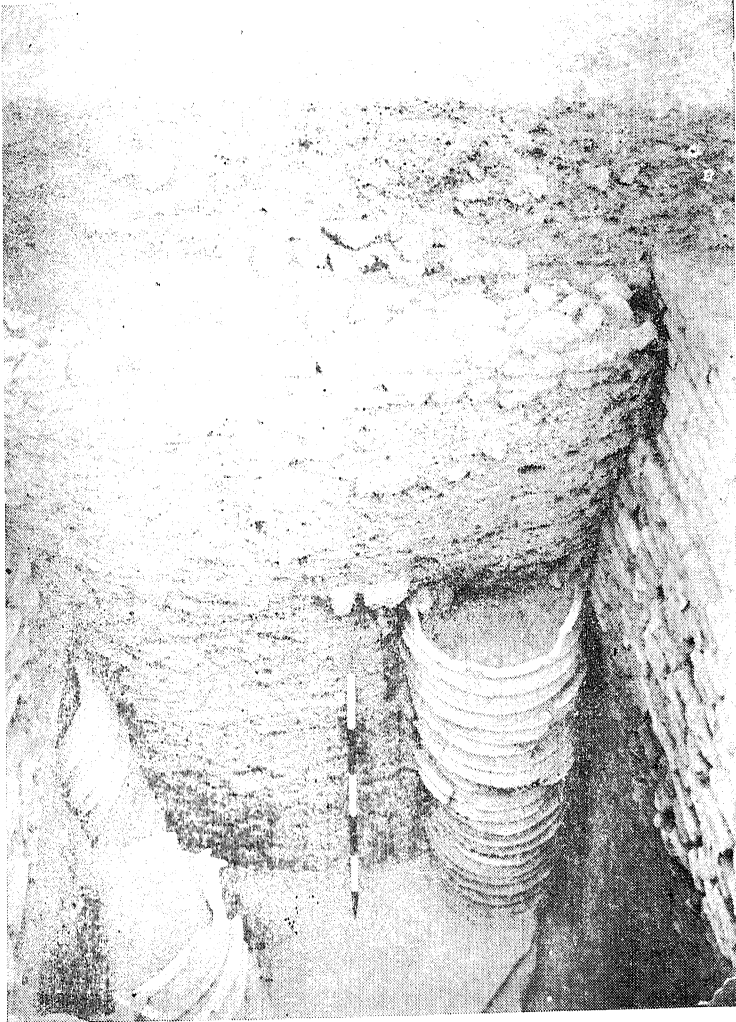
चित्र १०--एक ही स्थान पर बने हुए कई गण्डकुसूल, कौशाम्बी
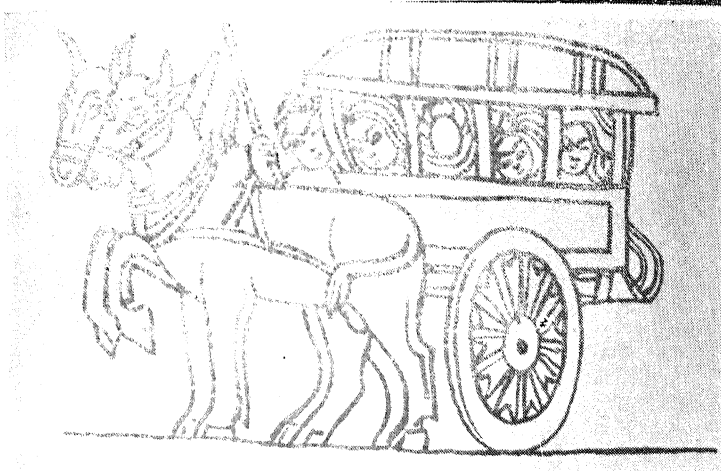
चित्र ११--शिकरमगाड़ी, मथुरा
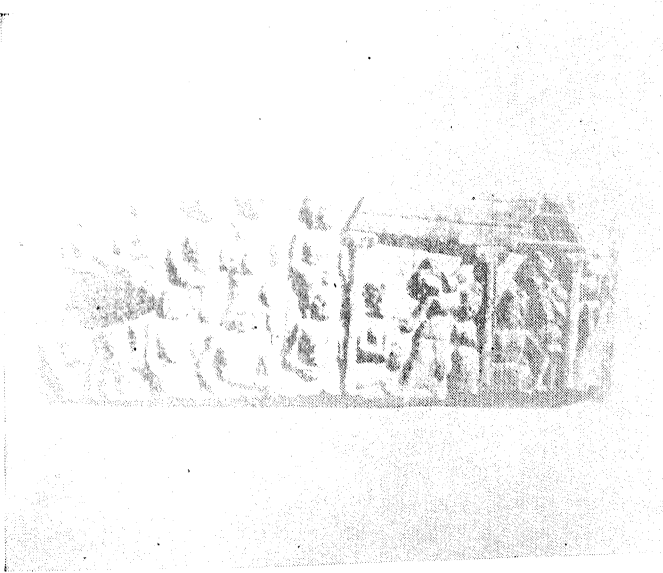
चित्र १२--नृत्यमण्डली, मथुरा

चित्र १३—कपिलवस्तु, साँची, पूर्वी तोरण
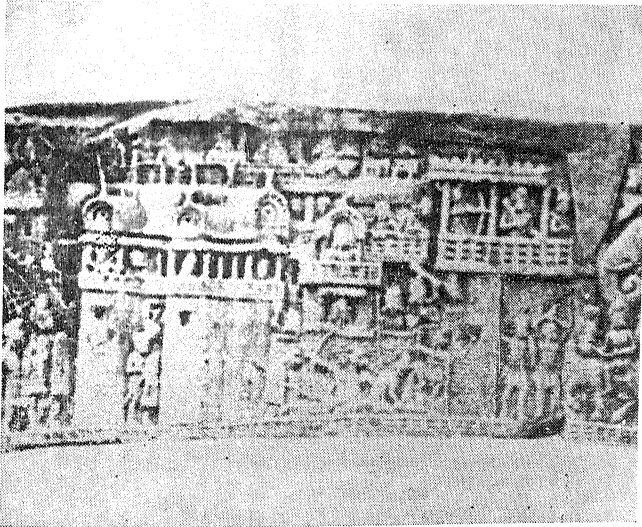
चित्र १४—कुशीनगर का नगरद्वार, साँची
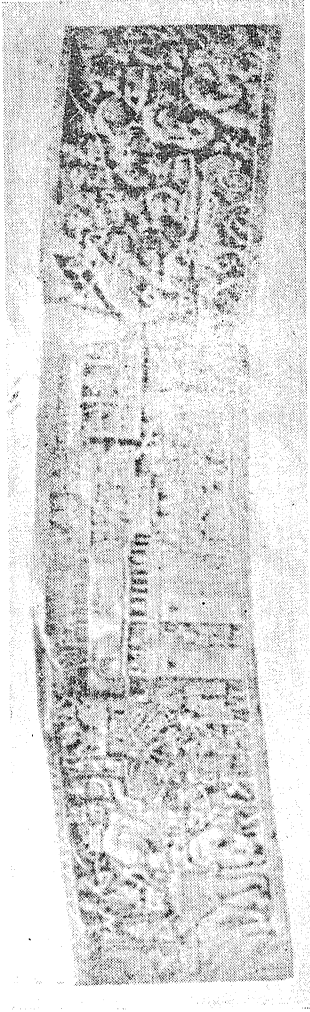
चित्र १५—कुशीनगर, साँची, दक्षिण तोरण
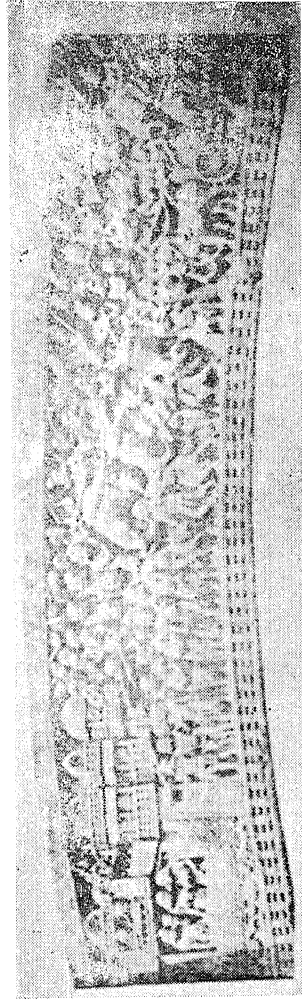
चित्र १६—कुशीनगर, साँची, पश्चिम तोरण
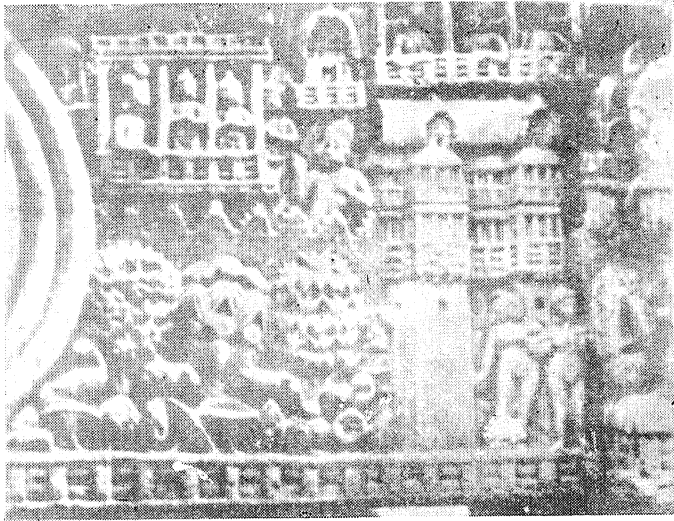
चित्र १७—जेतुत्तर, साँची, उत्तरी तोरण
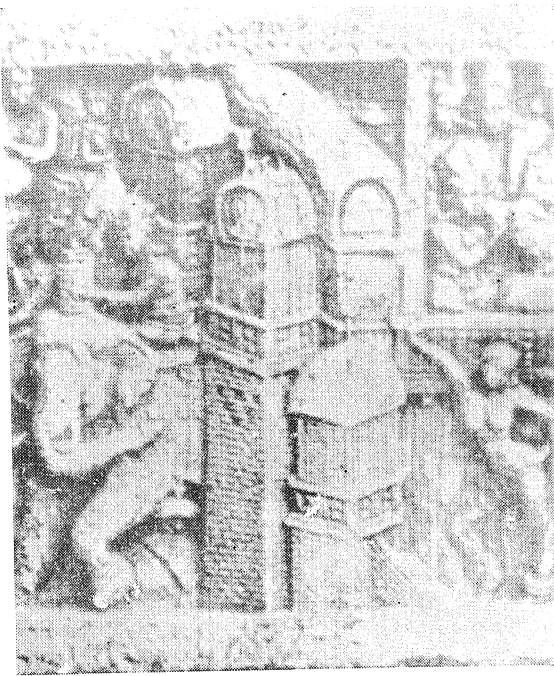
चित्र १८—कुशीनगर, अमरावती
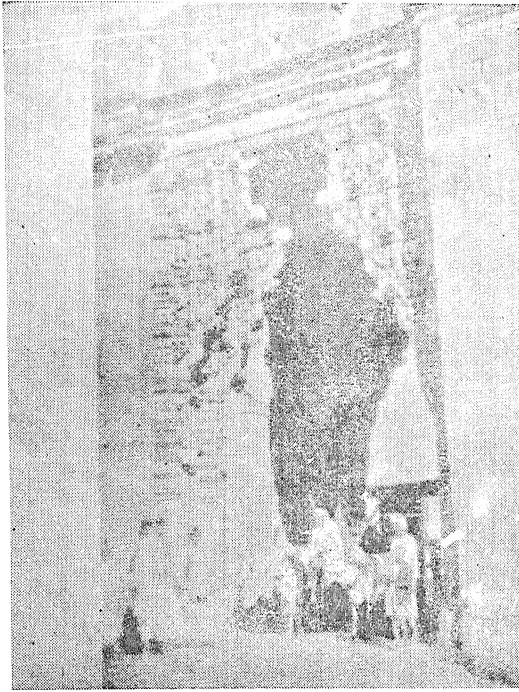
चित्र १९—दभोई का नगर-द्वार
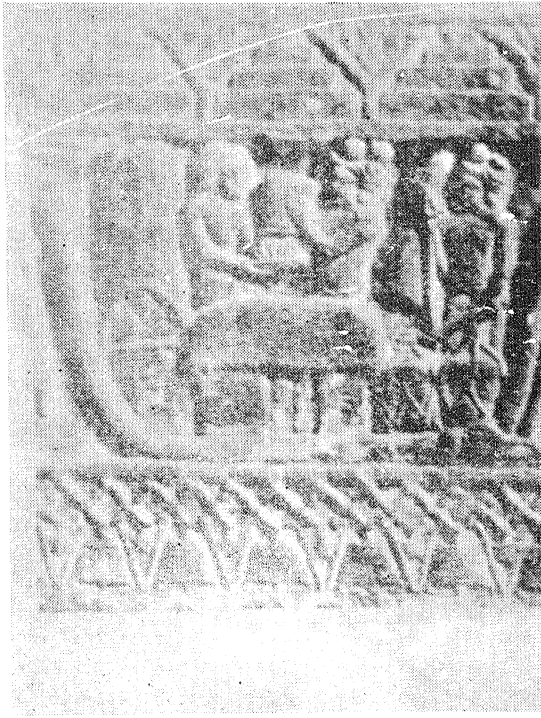
चित्र २१—दूकान का एक दूसरा दृश्य, भरहुत
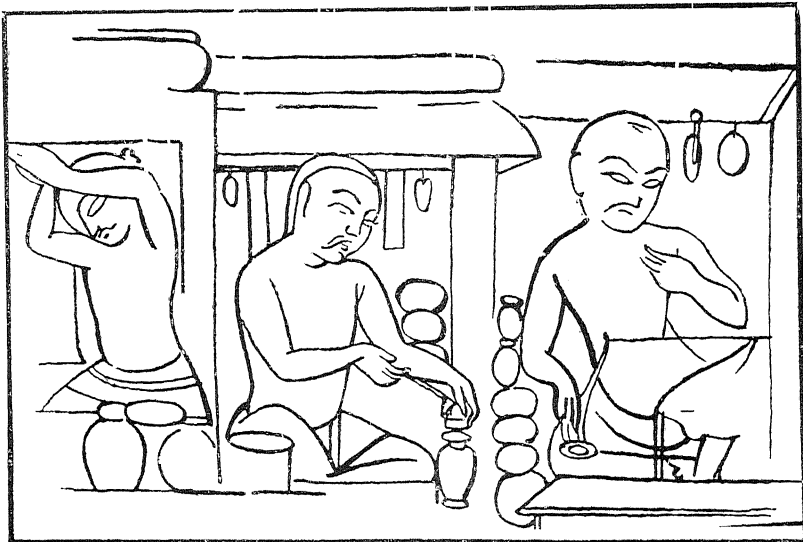
चित्र २२—दूकान, अजन्ता
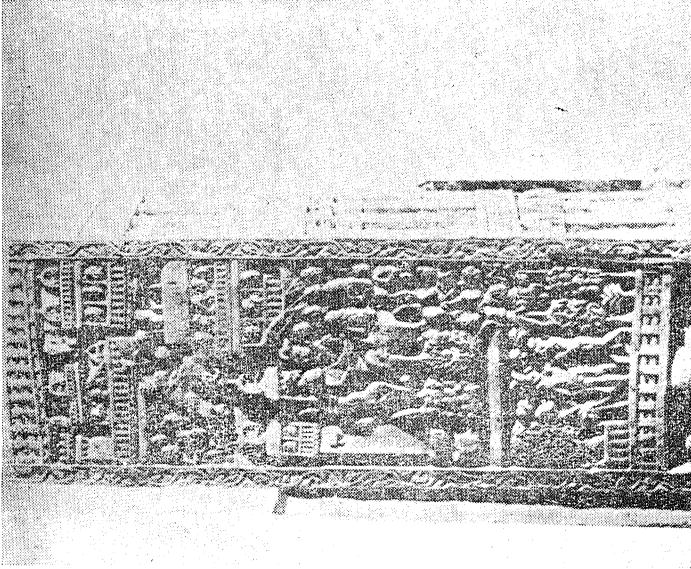
चित्र २४—शुद्धोधन का राजप्रासाद, साँची, पूर्वी तोरण
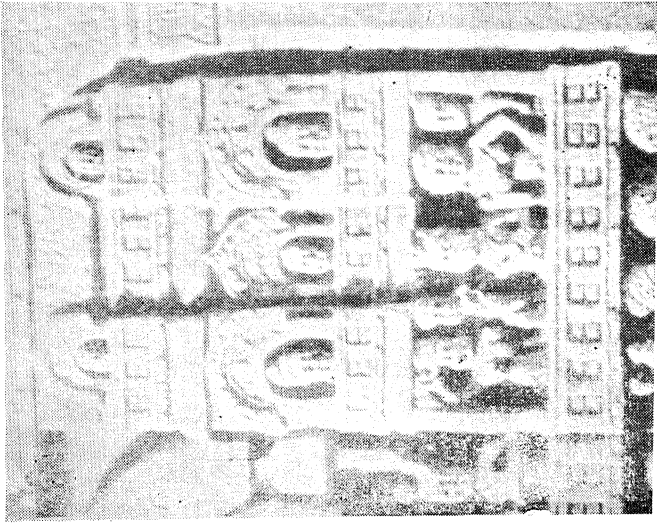
चित्र २३—तीन मञ्जिल वाला प्रासाद, भरहुत

फलक १७

चित्र २५—प्रासादों की छह मञ्जिल, साँची, पूर्वी तोरण

चित्र २६—त्रिभूमिक-प्रासाद (नीचे से दूसरा चित्र)
साँची, उत्तरी तोरण

चित्र २७—चतुर्भूमिक तथा द्विभूमिक प्रासाद (सबसे निचला चित्र)
साँची, पूर्वी तोरण
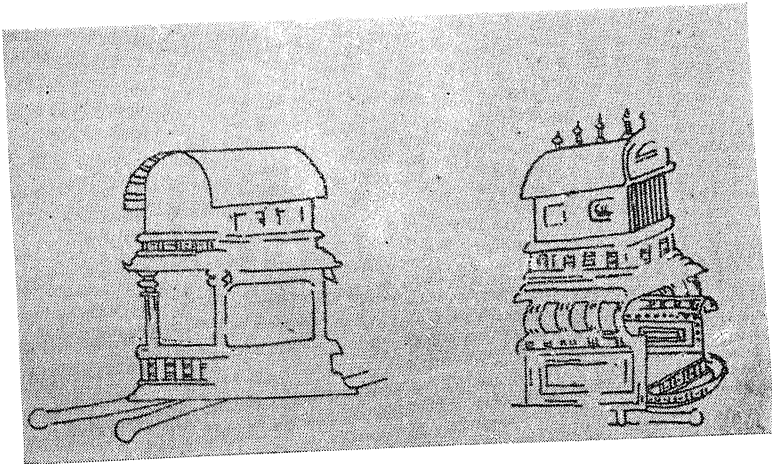
चित्र २८—शिविकागर्भ (दायाँ चित्र), अमरावती
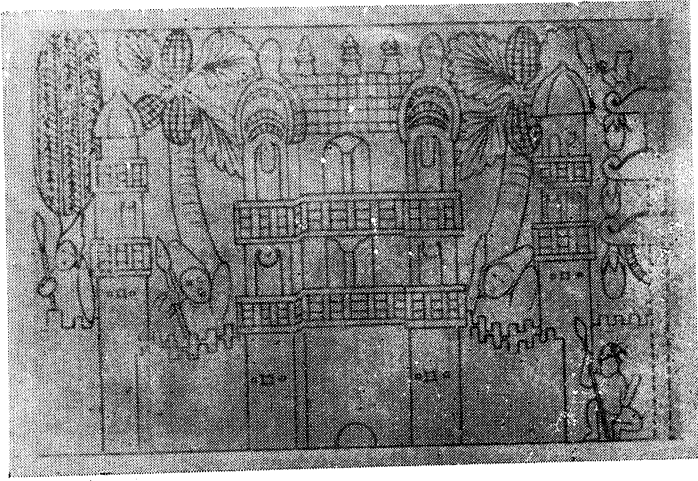
चित्र २९——विहारप्रासाद, मथुरा
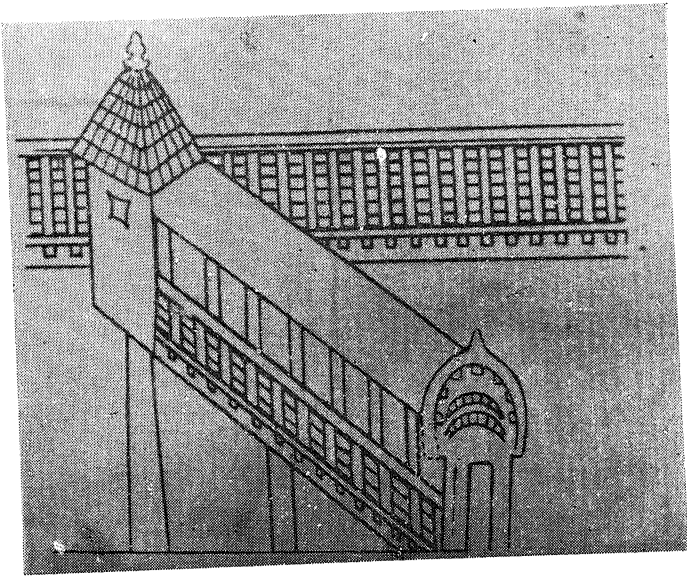
चित्र ३०——महासोपान, मथुरा
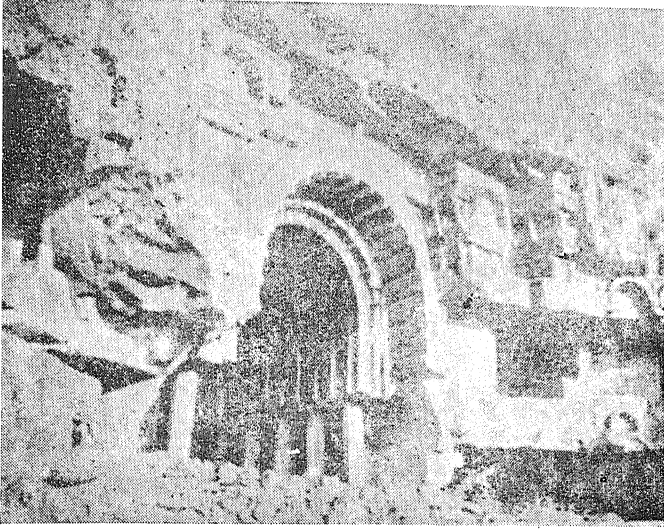
चित्र ३१——प्रासाद-मुख, भाजा
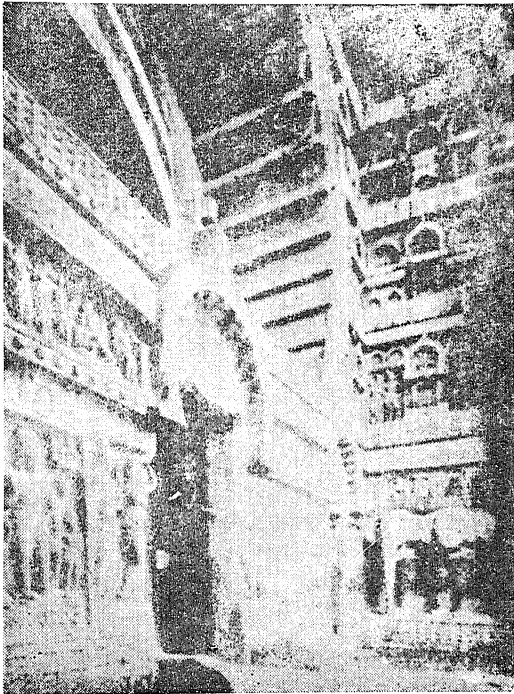
चित्र ३२——प्रासाद-मुख, कार्ली
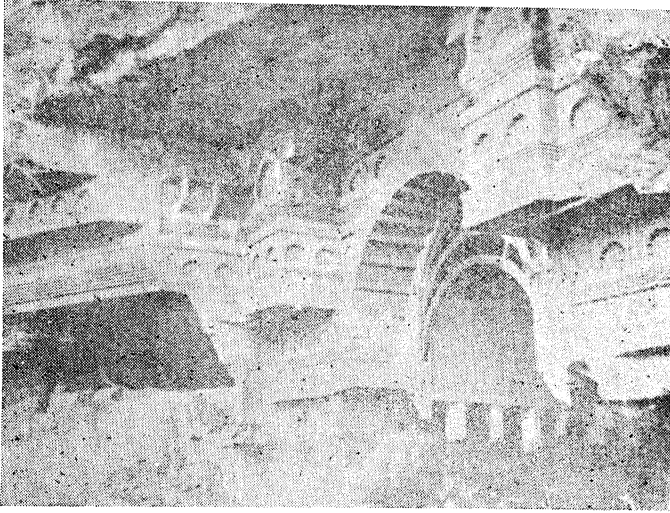
चित्र ३३——प्रासाद-मुख, कोन्दाने

चित्र ३४——प्रासाद-मुख, वेदसा